THE BOOK WAS DRENCHED

UNIVERSAL
LIBRARY
OU_176773
UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H901/V41B Accession No. G.H. 1847

Author वेदालंकार, हरिदत्त।

Title भारत का सांस्कृतिक इतिहास।

This book should be returned on or before the date last marked below.

भारत का सांस्कृतिक इतिहास

प्रस्तावना

प्रो० जयचंद्र विद्यालंकार

लेखक

प्रो० हरिदत्त वेदालंकार

अध्यक्ष—इतिहास विभाग

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

प्रथम संस्करण

१९५०

आत्माराम एण्ड संस दिल्ली

पुस्तक प्रकाशक तथा विक्रेता

प्रकाशक :
रामलाल पुरी
आत्माराम एण्ड संस,
काश्मीरी गेट, दिल्ली

मूल्य ३॥)

मुद्रक
यूनिवर्सिटी ट्यूटोरियल प्रैस
काश्मीरी गेट, दिल्ली

प्रस्तावना

'श्री हरिदत्त वेदालंकार का "भारत का सांस्कृतिक इतिहास" हमारे देश के विद्यार्थियों में अपने देश के इतिहास के लिए रुचि पैदा करेगा और उनके ज्ञान की सतह को ऊपर उठायगा इसकी पूरी आशा है।

भारतीय इतिहास की कहानी को लेखक ने सरल रुचिकर और बुद्धिग्राह्य रूप में पेश किया है। मुझे आशा है कि हमारे विद्यार्थी इससे पूरा लाभ उठायेंगे।

दुर्गाकुंड, बनारस
४ अक्टूबर १९४९.

जयचन्द्र

भूमिका

इस पुस्तक का उद्देश्य प्राचीन भारतीय संस्कृति के सब पहलुओं का सरल एवं सुबोध रूप से संक्षिप्त तथा प्रामाणिक दिग्दर्शन कराना है। यह बड़ी प्रसन्नता की बात है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद जनता का इस विषय में अनुराग निरन्तर बढ़ रहा है और विश्वविद्यालय अपने पाठ्य-क्रमों में इसका समावेश कर रहे हैं। यह पुस्तक पंजाब विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम को ध्यान में रखते हुए लिखी गई है, उसमें वर्णित सभी विषयों का इसमें संक्षिप्त एवं सारगर्भित प्रतिपादन है। किन्तु ऐसी आशा है कि अन्य विश्वविद्यालयों में भी यह पुस्तक उपयोगी होगी तथा प्राचीन संस्कृति के सम्बन्ध में जिज्ञासा रखने वाले सामान्य पाठक भी इससे लाभ उठा सकेंगे।

पुस्तक के पहले अध्याय में भारतीय संस्कृति की महत्ता, सभ्यता और संस्कृति के स्वरूप, हमारे देश की सांस्कृतिक एकता की महत्वपूर्ण विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है तथा विभिन्न राजनीतिक युगों की सांस्कृतिक उन्नति का संक्षिप्त निर्देश है। इस अवतरणिका के बाद दूसरे से तेरहवें अध्यायों तक वैदिक, महाकाव्य-कालीन, गुप्त, राजपूत (मध्य) युगीन सांस्कृतिक दशा का तथा बौद्ध, जैन, भक्ति-प्रधान पौराणिक हिन्दू-धर्म, बृहत्तर भारत, वर्णव्यवस्था, भारतीय दर्शन, शासन-प्रणाली, शिक्षा-पद्धति कला आदि संस्कृति के महत्वपूर्ण अंगों का विवेचन है, हिन्दू-धर्म

और इस्लाम के पारस्परिक संपर्क के परिणामों का भी उल्लेख है। चौदहवें अध्याय में भारतीय संस्कृति की विशेषताओं और उसके भविष्य पर विचार किया गया है। पन्द्रहवें अध्याय में आधुनिक भारत के सांस्कृतिक नव जागरण का वर्णन है इस में ब्राह्म-समाज आर्य-समाज आदि धार्मिक आन्दोलनों, सती प्रथा के निषेध से हिन्दू-कोड तक के सामाजिक सुधारों, वर्त्तमान भारत के वैज्ञानिक विकास, साहित्यिक उन्नति और कलात्मक पुनर्जागृति का संक्षिप्त उल्लेख है।

पुस्तक की कुछ प्रधान विशेषताओं का वर्णन अनुचित न न होगा। इसकी भाषा और शैली अत्यन्त सरल और सुबोध रखी गई है। इसमें इस बात का प्रयत्न किया गया है कि प्रत्येक युग और सांस्कृतिक पहलू के अधिक विस्तार में न जाकर उसकी मुख्य बातों की ही चर्चा की जाय, विभिन्न विषयों का काल क्रमानुसार इस प्रकार वर्णन किया जाय कि सारा विषय हस्तामलकवत् हो जाय पाठक और विद्यार्थी स्पष्ट रूप से यह जान सकें कि हमारी संस्कृति में कौन-सी संस्था, प्रथा, व्यवस्था, कला-शैली दार्शनिक विचार किस समय और किन कारणों से प्रादुर्भूत हुए। उदाहरणार्थ जाति-भेद का वैदिक, मौर्य, सातवाहन, गुप्त तथा मध्ययुगों में कैसे विकास हुआ, इसका संक्षिप्त वर्णन किया गया है। इस प्रकार धर्म तथा अन्य क्षेत्रों में भी सांस्कृतिक उन्नति की क्रमिक अवस्थाओं का निदर्शन है। भारतीय कला वाले अध्याय में न केवल भारतीय कला की विशेषताओं तथा उसकी विभिन्न शैलियों का परिचय दिया गया है किन्तु उनके स्वरूप को स्पष्ट

करने के लिये १४ चित्र भी दिये गये हैं, चित्रों का चुनाव इस दृष्टि से किया गया कि इनमें भारतीय कला के सभी कालों के एक दो उत्तम नमूने आ जाय। लेखक कुछ अधिक चित्र-देना चाहता था किन्तु पुस्तक के जल्दी में छपने के कारण, उसे इतने चित्रों से ही संतोष करना पड़ा है। अगले संस्करण में वह इस दोष को दूर करने का पूरा प्रयत्न करेंगे। सात चित्र भारतीय पुरातत्त्व-विभाग की कृपा से प्राप्त हुए हैं। इनके प्रकाशित करने की अनुमति प्रदान करने के लिये मैं इस विभाग का अत्यन्त आभारी हूँ। बाकी चित्र श्री जयचन्द्र जी विद्यालंकार के 'इतिहास प्रवेश से लिये गये हैं। इन के लिये तथा पुस्तक की प्रस्तावना के लिये मैं पंडित जी का कृतज्ञ हूँ। विदेशों में भारतीय संस्कृति का प्रसार स्पष्ट करने के लिये एक मान चित्र भी दिया गया है।

इस पुस्तक को लिखने में जिन-ग्रन्थों से सहायता मिली है, अन्त में उनका निर्देश कर दिया गया है। लेखक इन सब ग्रन्थ-कारों का ऋणी है। इस पुस्तक की प्रतिलिपि में ब्र० नारायण ने तथा मान चित्र तय्यार करने में ब्र० केशव ने बड़ी सहायता की है। इसकी छपाई में प्रकाशकों का तथा श्री भीमसेन जी का जो सहानुभूतिपूर्ण सहयोग मिला है, लेखक इसके लिये उनका कृतज्ञ है।

यदि यह पुस्तक छात्रों तथा भारतीय संस्कृति के प्रेमियों को इस विषय का ज्ञान करा सके और इसके प्रति अनुराग उत्पन्न कर सके तो लेखक अपना प्रयत्न सफल समझेगा।

गुरुकुल कांगड़ी
११ नवम्बर १९४९

हरिदत्त वेदालंकार

सहायक ग्रन्थ सूची

(अ) भारतीय संस्कृति विषयक सामान्य पुस्तकें

1. Ramkrishna Centenary Committee—Cultural Heritage of India.
2. R. K. Mukerji—Hindi Civilization.
3. D. N. Roy—The Spirit of Indian Culture (Calcutta University)
4. Dutta—Indian Culture (Cal. University)
5. Thomas—Indianism and its Expansion (Cal. Uni.)
6. K. T. Shah—The Splendour that was 'Ind
7. J. N. Sarcar—India Through the Ages.
8. Joad C.E.M.—The Story of Indian Civilization.
9. Max Muller—India, what it can teach us.
10. Jawahar Lal Nehru—The Discovery of India.
11. शिवदत्त ज्ञानी—भारतीय संस्कृति (भारतीय विद्याभवन बम्बई)
12. रामजी उपाध्याय—भारत की प्राचीन संस्कृति (किताब महल इलाहाबाद)।
13. धर्मानन्द कोसाम्बी—भारतीय संस्कृति और अहिंसा। (हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर बम्बई)।

(आ) भारतीय इतिहास संबन्धी निम्न पुस्तकों में भारतीय संस्कृति के विभिन्न पहलुओं का विस्तृत परिचय मिलेगा--

1. जयचन्द विद्यालंकार—भारतीय इतिहास की रूपरेखा।
2. जयचन्द विद्यालंकार—इतिहास प्रवेश।
3. Cambridge History of India Vol. I to VI.
4. Smith—Early History of India.
5. Majumdar—Advanced History of India.

चित्र-सूची

(१) अशोक कालीन वृषभाङ्कित स्तम्भशीर्ष ।

(२) चामर ग्राहियी यत्ती ।

(३) भारहुत स्तूप के दो दृश्य—जेतवनदान और शुंगयुग का एक सेट्ठी ।

(४) सांची के पूर्वी तोरण की बंडेरियां ।

(५) गान्धार शैली का बुद्ध ।

(६) सुन्दर प्रभामंडल में अलंकृत बुद्धमूर्त्ति ।

(७) अलकावलि से सुशोभित पार्वतीमस्तक ।

(८) भुवनेश्वर का मन्दिर ।

(९) बच्चे को दुलार करती मां ।

(१०) पत्र लिखती हुई स्त्री ।

(११) देलवाड़ा मन्दिर की छत ।

(१२) होयसालेश्वर मन्दिर का बाहरी अंश ।

(१३) प्रज्ञापारमिता (१३वीं श० जावा ।)

भारत का सांस्कृतिक इतिहास

विषय-सूची

अध्याय			पृष्ठ
१. विषय-प्रवेश	....	....	१–१५
२. वैदिक साहित्य और संस्कृति		....	१६–४४
३. रामायण और महाभारत तथा तत्कालीन भारत			४५–५६
४. जैन और बौद्ध-धर्म	....	....	६०–७२
५. भक्ति प्रधान पौराणिक धर्म का उदय और विकास			७३–६३
६. दर्शन	....	....	६४–१०७
७. गुप्त-युग का समाज, साहित्य और विज्ञान			१०८–१२१
८. बृहत्तर भारत	....	....	१२२–१३७
९. राजपूत-युग (मध्यकाल) की संस्कृति		....	१३८–१५६
१०. इस्लाम और हिन्दू धर्म का सम्पर्क तथा उसके प्रभाव			१५७–१७२
११. शासन-प्रणाली	....	....	१७३–१८८
१२. भारतीय कला	....	....	१८९–२१३
१३. प्राचीन शिक्षा पद्धति	....	....	२१४–२३३
१४. भारतीय संस्कृति की विशेषताएं		....	२३४–२४४
१५. आधुनिक भारत	....	....	२४५–२७६

भारत का सांस्कृतिक इतिहास

पहला अध्याय

विषय-प्रवेश

भारतीय संस्कृति की महत्ता

भारतीय संस्कृति विश्व के इतिहास में कई दृष्टियों से विशेष महत्त्व रखती है। यह संसार की प्राचीनतम संस्कृतियों में से है। मोहें-जोदड़ो की खुदाई के बाद से, यह मिश्र और मेसोपोटेमिया की सबसे पुरानी सभ्यताओं के समकालीन समझी जाने लगी है। प्राचीनता के साथ इसकी दूसरी विशेषता अमरता है। चीनी संस्कृति के अतिरिक्त पुरानी दुनिया की अन्य सभी —मेसोपोटेमिया की सुमेरियन, असीरियन, बेबिलोनियन और खाल्दी प्रभृति तथा मिश्र, ईरान, यूनान और रोम की संस्कृतियां काल के कराल गाल में समा चुकी हैं, कुछ ध्वंसावशेष ही उनकी गौरव-गाथा गाने के लिए बचे हैं, किन्तु भारतीय संस्कृति कई हजार वर्ष तक काल के क्रूर थपेड़ों को खाते हुए आज तक जीवित है। उसकी तीसरी विशेषता उसका जगद्गुरु होना है। उसे इस बात का श्रेय प्राप्त है कि उसने न केवल इस महाद्वीप—सरीखे भारतवर्ष को ही सभ्यता का पाठ पढ़ाया अपितु भारत के बाहर भी बहुत बड़े हिस्से की जंगली जातियों को सभ्य बनाया। साइबेरिया से सिंहल (श्रीलंका) तक और मडगास्कर टापू, ईरान तथा अफगानिस्तान से प्रशान्त महासागर के बोर्नियो, बाली के द्वीपों तक के विशाल भूखण्ड पर अपना अमिट प्रभाव छोड़ा। सर्वाङ्गीणता, विशालता, उदारता और सहिष्णुता की दृष्टि से अन्य संस्कृतियां उसकी समता नहीं कर सकतीं।

इस अनुपम और विलक्षण संस्कृति के उत्तराधिकारी होने के नाते इसका यथार्थ ज्ञान हमारा परम आवश्यक कर्तव्य है। इससे न केवल हमें उसकी खूबियां प्रत्युत ग़लतियां भी मालूम होंगी। यह ज्ञात होगा कि किन कारणों से उसका उत्कर्ष और अपकर्ष हुआ। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि भारतीय संस्कृति का अतीत अत्यन्त उज्ज्वल था, किन्तु हमारा कर्तव्य है कि हम भविष्य को भूत से भी अधिक उज्ज्वल और गौरवपूर्ण बनाने का प्रयास करें। यह सांस्कृतिक इतिहास के गम्भीर अध्ययन से ही सम्भव है।

किन्तु इससे पहले संस्कृति के स्वरूप तथा भारतीय संस्कृति की भौगोलिक और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का सामान्य परिचय आवश्यक है।

सभ्यता और संस्कृति

संस्कृति का शब्दार्थ है उत्तम या सुधरी हुई स्थिति। मनुष्य स्वभावतः प्रगतिशील प्राणी है। वह बुद्धि के प्रयोग से अपने चारों ओर की प्राकृतिक परिस्थिति को निरन्तर सुधारता और उन्नत करता रहता है। ऐसी प्रत्येक जीवन-पद्धति, रीति-नीति, रहन-सहन, आचार-विचार, नवीन अनुसन्धान और आविष्कार जिनसे मनुष्य पशुओं और जंगलियों के दर्जे से ऊँचा उठता है तथा सभ्य बनता है, सभ्यता और संस्कृति का अंग है। सभ्यता (civilization) से मनुष्य के भौतिक क्षेत्र की और संस्कृति (culture) से मानसिक क्षेत्र की प्रगति सूचित होती है। प्रारम्भ में मनुष्य आंधी-पानी, सर्दी-गर्मी सब-कुछ सहता हुआ जंगलों में रहता था। शनैः-शनैः उसने इन प्राकृतिक विपदाओं से अपनी रक्षा के लिए पहले गुफाओं और फिर क्रमशः लकड़ी, ईंट या पत्थर के मकानों की शरण ली। अब वह लोहे और सीमेण्ट की गगन-चुम्बी अट्टालिकाओं का निर्माण करने लगा है। प्राचीन काल में यातायात का साधन सिर्फ मानव के दो पैर ही थे, फिर उसने घोड़े, ऊँट, हाथी, रथ, और बहली का आश्रय लिया, अब वह मोटर और रेलगाड़ी के द्वारा लम्बे-लम्बे फासले तय करता है। वह हवाई जहाज़ के द्वारा आकाश में भी विहार करने लगा है। पहले मनुष्य जंगल के कन्द-मूल और फल तथा आखेट से अपना निर्वाह करता था।

बाद में उसने पशु-पालन और कृषि का आविष्कार कर आजीविका के साधनों में उन्नति की। पहले वह अपने सब कार्यों को शारीरिक शक्ति से करता था, पीछे उसने पशुओं को पालतू बनाकर और सधाकर उनकी शक्ति का हल, गाड़ी आदि में उपयोग करना सीखा। अन्त में उसने हवा, पानी, वाष्प, बिजली आदि भौतिक शक्तियों को वश में कर ऐसी मशीनें बनाईं जिनसे उसके भौतिक जीवन में ही काया-पलट हो गई। मनुष्य की यह सारी प्रगति सभ्यता कहलाती है।

संस्कृति का स्वरूप

मनुष्य केवल भौतिक परिस्थितियों में सुधार कर सन्तुष्ट नहीं हो जाता। वह भोजन से ही नहीं जीता। शरीर के साथ मन और आत्मा भी हैं। भौतिक उन्नति से शरीर की भूख मिट सकती है, किन्तु, इसके बावजूद मन और आत्मा तो अतृप्त ही बने रहते हैं। इन्हें सन्तुष्ट करने के लिए मनुष्य अपना जो विकास और उन्नति करता है उसे संस्कृति कहते हैं। मनुष्य की जिज्ञासा का परिणाम धर्म और दर्शन होते हैं। सौन्दर्य की खोज करते हुए वह संगीत, साहित्य, मूर्ति, चित्र और वास्तु आदि अनेक कलाओं को उन्नत करता है। सुख पूर्वक निवास के लिए सामाजिक और राजनीतिक सघटनों का निर्माण करता है। इस प्रकार मानसिक क्षेत्र में उन्नति की सूचक उसकी प्रत्येक 'सम्यक् कृति' संस्कृति का अंग बनती है। इनमें प्रधान रूप से धर्म, दर्शन, सभी ज्ञान-विज्ञानों और कलाओं, सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थाओं और प्रथाओं का समावेश होता है।

संस्कृति का निर्माण

किसी देश की संस्कृति उसकी सम्पूर्ण मानसिक निधि को सूचित करती है। यह किसी खास व्यक्ति के पुरुषार्थ का फल नहीं अपितु असंख्य ज्ञात तथा अज्ञात व्यक्तियों के भगीरथ प्रयत्न का परिणाम होती है। सब व्यक्ति अपनी सामर्थ्य और योग्यता के अनुसार संस्कृति के निर्माण में सहयोग देते हैं। संस्कृति की तुलना आस्ट्रेलिया के निकट समुद्र में पाई जाने वाली

मूंगे की भीमकाय चट्टानों से की जा सकती है। मूंगे के असंख्य कीड़े अपने छोटे घर बनाकर समाप्त हो गए, फिर नये कीड़ों ने घर बनाये उनका भी अन्त हो गया। इसके बाद उनकी अगली पीढ़ी ने भी यही किया, और यह क्रम हजारों वर्ष निरन्तर चलता रहा। आज उन सब मूंगों के नन्हें-नन्हें घरों ने परस्पर जुड़ते हुए विशाल चट्टानों का रूप धारण कर लिया है। संस्कृति का भी इसी प्रकार धीरे-धीरे निर्माण होता है और उसके निर्माण में हज़ारों वर्ष लगते हैं। मनुष्य विभिन्न स्थानों पर रहते हुए विशेष प्रकार के सामाजिक वातावरण, संस्थाओं, प्रथाओं, व्यवस्थाओं, धर्म, दर्शन, लिपि, भाषा तथा कलाओं का विकास कर अपनी विशिष्ट संस्कृति का निर्माण करते हैं। भारतीय संस्कृति की भी इसी प्रकार रचना हुई है।

भारतीय संस्कृति में सम्मिश्रण

भारतीय संस्कृति को प्राय: केवल आर्यों की कृति समझा जाता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि हमारी संस्कृति के निर्माण में प्रधान भाग उन्हीं का था। किन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि आज हमारी जो संस्कृति है वह आर्य नहीं अपितु भारतीय है। इसमें आर्यों ने, उनसे पूर्व यहां बसने वाली तथा उनके बाद यहां आने वाली सभी आर्येतर जातियों ने अपनी देन दी है। जिस प्रकार मिट्टी के अनेक स्तरों के जमने से डेल्टा बनता है, उसी प्रकार भारतीय संस्कृति नाना जातियों की साधनाओं के परस्पर सम्मिलन से बनी है। आर्य, द्रविड़, ईरानी, शक, कुशाण, पह्लव, हूण, अरब, तुर्क, मुगल प्रभृति अनेक जातियों ने सांस्कृतिक यज्ञ में अपनी-अपनी आहुति दी है। अमेरिका और आस्ट्रेलिया में जिस प्रकार समूची-की-समूची पुरानी संस्कृतियों और जातियों का उन्मूलन कर राष्ट्रीय एकता की प्रतिष्ठा की गई, ऐसा यहां कभी नहीं हुआ। किसी जाति ने दूसरी जाति के उच्छेद की बात नहीं सोची। आज भारतीय संस्कृति जिस रूप में दिखाई दे रही है, वह आर्य और आर्येतर बहुविध जातियों की साधनाओं के सम्मिश्रण का फल है। वर्त्तमान काल का प्रत्येक विचार, विश्वास, सामाजिक तथा राजनीतिक प्रथा विभिन्न तत्वों से मिलकर बनी है।

प्रयागराज की त्रिवेणी में तीन धाराओं का संगम होता है, किन्तु भारतीय संस्कृति अनेक पुनीत धाराओं के समागम से बनी है।

सम्मिश्रण का कारण सहिष्णुता

इस प्रकार का सम्मिश्रण बहुत कम देशों में हुआ है। इस सम्मिश्रण का प्रधान कारण आर्यों की सहिष्णुता की प्रवृत्ति प्रतीत होता है। प्रायः विजेता असहिष्णु होते हैं, वे विजित पर अपना धर्म, आचार-विचार विश्वास जबर्दस्ती थोपना चाहते हैं। यूरोप ने कई सदियों तक न केवल विधर्मियों अपितु ईसाइयों में भी अपने से प्रतिकूल मत रखने वालों का क्रूरता-पूर्वक दमन करने तथा रक्त की नदियां बहाने के बाद धार्मिक सहिष्णुता का पाठ पढ़ा है। किन्तु, भारत में आर्यों ने ऋग्वेद के समय से यह सिद्धान्त मान लिया था—एक ही भगवान् को लोग नाना रूपों से मानते हैं (एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति) सबको अपने ढंग से पूजा करने, धार्मिक विश्वास रखने तथा उसके अनुसार जीवन बिताने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए समूचे भारतीय इतिहास में यह प्रवृति प्रबल रही है। इसी कारण भारतीयों ने बाहर से आने वालों को विदेशी नहीं समझा, उनसे घृणा नहीं की, उनकी रीति-नीति और आचार-विचार का विरोध नहीं किया। उनका धर्म, भाषा और रहन-सहन भले ही भिन्न हो, भारतीयों ने उसे स्वीकार किया। भारत ने यहूदी, पारसी, मुसलमान, ईसाई धर्मों को आश्रय दिया। सहिष्णुता के कारण आर्य, द्रविड, मंगोल, शक, ईरानी, तुर्क आदि जातियों का सुगमता पूर्वक सम्मिश्रण हुआ। यहां जो जातियां आईं सहिष्णुता और उदारता से उन्हें अपना बना लिया गया। इस्लाम हिन्दू धर्म का कट्टर विरोधी था किन्तु कुछ ही सदियों में मुसलमान विदेशी नहीं रहे और भारतीय बन गए अमीर खुसरो को इस बात का गर्व था कि वह हिन्दुस्तानी है। उसका कहना था—'यद्यपि मेरा जन्म तुर्क कुल में हुआ है तथापि मैं भारतीय हूँ मैं मिश्र से प्रेरणा नहीं ग्रहण करता हूँ, मैं अरब की बात नहीं करता, मेरा सितार भारतीय भावों के गीत गाता है।'

इस सम्मिश्रण से भारतीय दृष्टिकोण अधिक विशाल बना, विचार में उदारता और व्यवहार में सहिष्णुता आई। समूचे देश में एक ऐसी गहरी मौलिक एकता उत्पन्न हुई जो इस आकार के अन्य प्रदेशों में नहीं पाई जाती। यूरोप से यदि रूस निकाल दिया जाय तो शेष प्रदेश का क्षेत्रफल अखण्ड भारत के लगभग है। लेकिन यूरोप में वैसी गहरी मौलिक एकता नहीं है जैसी भारत में है।

सम्मिश्रण के परिणाम

नाना जातियों के सम्पर्क से समृद्ध भारतीय संस्कृति की एक बड़ी विशेषता यह है कि उसने सब प्रकार की विविधताओं से परिपूर्ण इस देश में मौलिक एकता स्थापित की है। भारतीय दर्शन का उच्चतम आदर्श बहुत्व में एकत्व ढूंढना रहा है और इस देश की संस्कृति ने उसे क्रियात्मक रूप में खोज निकाला है। भौगोलिक दृष्टि से भारत प्रधान रूप से चार भागों में बांटा जाता है।

भारतवर्ष की विविधता तथा मौलिक एकता

(१) हिमालय उत्तर पूर्वी और उत्तर पश्चिमी सीमा के पर्वत, (२) सिंधु और गंगा के उत्तर भारतीय मैदान, (३) विन्ध्य-मेखला (४) दक्खिन। इनमें सब प्रकार की विविधता है। कहीं ऊँचे पहाड़ हैं और कहीं सपाट मैदान, कहीं शस्य श्यामल प्रदेश है और कहीं निर्जल मरुभूमियां। आर्द्रतम और शुष्कतम, ठंडे-से-ठंडा और गर्म-से-गर्म सभी प्रकार का जलवायु, नाना प्रकार के वृक्ष-वनस्पति और पशु-पक्षी यहां मिलते हैं।

भौगोलिक भेद

इसमें रहने वाले लोगों की नस्ल, बोलियां, धर्म, रहन-सहन, वेश-भूषा, खान-पान एक नहीं हैं। भारत को इन सबका अजायबघर कहा जाय तो शायद अत्युक्ति न होगी। भारत में चार प्रधान नस्लें हैं—(१) आर्य (२) द्रविड़, (३) किरात (तिब्बत-बर्मी,) (४) मुण्डा (कोल-भील) इनके सम्मिश्रण से बीसियों संकर नस्लें पैदा हुईं। हिन्दू समाज जात-पाँत में विभक्त है और

जातीय विभिन्नता

जातियों की संख्या लगभग २००० है। यही वैविध्य भाषाओं में है। भारत की विभिन्न भाषाएं और बोलियां ५०० से भी अधिक हैं।

अन्य भेद

भारत में हिन्दू, मुस्लिम, जैन, पारसी, ईसाई, यहूदी आदि अनेक धर्म पाये जाते हैं। विविध प्रान्त-वासियों के वेश-भूषा, रहन-सहन, खान-पान में कोई समता नहीं। बंगाली, बिहारी, पंजाबी, उड़िया, मराठे, गुजराती, तामिल, तेलगू, कन्नड़ और केरल सभी एक दूसरे से भिन्न प्रतीत होते हैं।

आन्तरिक एकता

किन्तु यह विविधता बाह्य है, वास्तव में इसकी तह में एक मौलिक एकता है जो हमारे देश का भौगोलिक और सांस्कृतिक एकता का परिणाम है। उत्तर में हिमालय की विशाल पर्वत-माला तथा दक्षिण में समुद्र ने सारे भारत में एक विशेष प्रकार की ऋतु-पद्धति बना दी है। 'गर्मी की ऋतु में जो वाष्प बादल बनकर उठती है वह हिमालय की ओर बढ़ती है। बादल हिमालय को नहीं लांघ पाते। वे या तो बरस जाते हैं या हिमालय की चोटियों पर बर्फ के रूप में जम जाते हैं, गर्मियों में पिघल कर नदियों की धाराएं बनकर वापिस समुद्र में चले जाते हैं। सनातन काल से समुद्र और हिमालय में एक दूसरे पर पानी फेंकने का खेल चल रहा है। इससे बरसात होती है, नदियों में पानी आता है, बरसात के अनुसार ऋतुएं आती हैं और यह ऋतु-चक्र समूचे देश में एक-सा है। भारत में अनेक बोलियां तथा भाषाएं हैं, किन्तु अधिकांश प्रधान भाषाओं की वर्णमाला एक है। भारत में अनेक नस्लें हैं किन्तु घुल-मिलकर एक प्रदेश में समान भौगोलिक परिस्थिति में रहते हुए, एक भूमि के अन्न-जल से पोषण पाते हुए उनमें काफी एकता उत्पन्न हो गई है। उन पर भारतीयता की अमिट छाप अंकित हो गई है। भारत को एक देश स्वीकार न करने वालों को भी यह मौलिक एकता स्वीकार करनी ही पड़ती है। सर हर्बर्ट रिज़ली के शब्दों में—'भारत में दर्शक को भौतिक क्षेत्र में और सामाजिक रूप में, भाषा, आचार और धर्म में जो विविधता दिखाई देती है, उसकी तह में हिमालय से कन्याकुमारी तक एक आन्तरिक एकता है।'

सांस्कृतिक एकता

यह एकता प्रधानतः संस्कृति के प्रसार से प्रादुर्भूत हुई और प्राचीन काल से उसे समूचे देश की विभिन्न जातियों को एक सूत्र में पिरोने में सफलता मिली। पंजाबी, बंगाली और मद्रासी आकार, रूप-रंग भाषा आदि में सब प्रकार से भिन्न हैं, किन्तु आन्तरिक रूप से एक हैं। वे एक ही हिन्दू धर्म के अनुयायी हैं। उनके आदर्श पुरुष मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीराम और श्रीकृष्ण एक-से हैं। वे समान रूप से उपनिषद्, धर्मशास्त्र, गीता, रामायण और महाभारत, वेद, पुराण, और ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा करते हैं। गौ, गंगा, गायत्री सर्वत्र पवित्र मानी जाती हैं। शिव, विष्णु, दुर्गा आदि पुराण-प्रतिपादित देवी-देवताओं की सभी पूजा करते हैं। सारे देश में हिन्दुओं के पवित्र तीर्थ फैले हुए हैं। चारों दिशाओं के चारों धाम उत्तर में बद्रीनाथ, दक्षिण में रामेश्वरम्, पूर्व में जगन्नाथ पुरी और पश्चिम में द्वारिका भारत की सांस्कृतिक एकता और अखण्डता के पुष्ट प्रमाण हैं। मोक्ष प्रदान करने वाली पवित्र पुरियां अयोध्या, मथुरा, माया, काशी, कांची और अवन्ती सारे देश में बिखरी हुई हैं। प्राचीन काल से हिन्दू गंगा, यमुना, सरस्वती, नर्मदा, सिंधु और कावेरी को पूज्य मानते आये हैं। समूचे देश का सामाजिक संस्थान लगभग एक-सा है, सब जगह वैदिक संस्कार और अनुष्ठान प्रचलित हैं, सर्वत्र जाति-भेद, वर्ण-व्यवस्था, छूत-छात का विचार समान रूप से माना जाता है। सारे भारत में रामायण और महाभारत की कथाएं बड़े चाव से सुनी जाती हैं। पुराने जमाने में समूचे देश के विद्वत्-समाज को एक सूत्र में पिरोने का काम पहले संस्कृत और फिर प्राकृत ने किया, भविष्य में यह कार्य हिन्दी से पूरा होगा।

एकता के साधन

प्राचीन काल में यातायात की कठिनाइयाँ बहुत अधिक थीं। विभिन्न प्रान्त उत्तुंग पर्वतों, गहरी नदियों, घने जंगलों, बीहड़ रेगिस्तानों द्वारा एक दूसरे से पृथक् थे। फिर भी उनमें उपर्युक्त सांस्कृतिक एकता उत्पन्न करने में दो साधनों ने मुख्य भाग लिया—(१) ऋषि-मुनि, सन्त, तीर्थयात्री और विद्यार्थी (२) सैनिक विजेता।

(१) प्राचीन काल में ऋषि-मुनियों ने भयंकर कष्ट उठाते हुए दक्षिण भारत में अपने तपोवन और आश्रम स्थापित किये। अगस्त्य आदि महापुरुषों ने इनसे दक्षिण की अनार्य जातियों को आर्य सभ्यता का पाठ पढ़ाया। सब प्रान्तों में अवस्थित तीर्थों की यात्रा करने वाले व्यक्तियों ने सांस्कृतिक एकता को बढ़ाया। कन्याकुमारी से पितरों की अस्थियों को प्रवाहित करने के लिए हरिद्वार आने वाले दक्षिण भारतवासियों और गंगा का जल रामेश्वरम् के मन्दिर में चढ़ाने वाले उत्तर भारत वालों के पारस्परिक सम्पर्क से एकता का पुष्ट होना स्वाभाविक ही था। संस्कृत के विद्वानों और धर्म-सुधारकों ने भी इस प्रवृत्ति में सहयोग दिया। केरल के श्री शंकराचार्य ने हिमालय तक अपना प्रचार किया, महाप्रभु चैतन्य ने बंगाल से वृन्दावन तक समूचे भारत को कृष्ण-भक्ति की पवित्र मंदाकिनी से आप्लावित किया। पुराने जमाने में बड़े विश्व-विद्यालय तीर्थ-स्थानों और राजधानियों में होते थे। तक्षशिला, बनारस, नालन्दा और उज्जयिनी इसी प्रकार के शिक्षा-केन्द्र थे। भारत के विभिन्न प्रदेशों से विद्यार्थी इन स्थानों पर शिक्षा प्राप्त करने के लिए जाते थे। इन्होंने भी एक संस्कृति के विकास में सहायता दी। ऋषि-मुनि, साधु-सन्त उन दिनों विभिन्न प्रान्तों में सम्बन्ध स्थापित करते हुए, साधारण जनता के विविध अंगों को शान्ति पूर्वक एकता के सूत्र में पिरो रहे थे।

ऋषि-मुनि

किन्तु इस कार्य को बल-पूर्वक करने वाले महत्वाकांक्षी और साहसी राजा थे। प्राचीन काल से राजाओं की इच्छा दिग्विजय करके चक्रवर्त्ती सम्राट् बनने की रहती थी। प्रतापशाली राजा एक दूसरे राज्यों को जीतकर एक राष्ट्र सम्राट्, सार्वभौम और राजाधिराज आदि उपाधियाँ धारण करते थे। कौटिल्य के कथनानुसार चक्रवर्त्ती का साम्राज्य हिमालय से समुद्र तक फैला होना चाहिए। इसी प्रकार के चक्रवर्त्ती राज्यों से विशाल भूखण्ड एक शासन-सूत्र के नीचे आ जाते और एक शासन-पद्धति सांस्कृतिक एकता के प्रसार में सहायता करती थी। चन्द्रगुप्त, अशोक तथा समुद्रगुप्त के समय राजनीतिक एकता ने इस

विजेता

प्रवृत्ति को पुष्ट किया।

प्राचीन और मध्ययुग में राजनीतिक एकता बहुत थोड़े काल तक रही। तीसरी शती ई० पू० में अशोक तथा चौथी शती ई० में समुद्रगुप्त के समय भारत कुछ काल के लिए एक छत्र शासन के नीचे रहा, मध्ययुग में अलाउद्दीन (१२९५-१३१५ ई०) और औरंगजेब (१६५९-१७०७ ई०) ने समूचे भारत को राजनीतिक दृष्टि से एक किया। शेष सारे समय यहां छोटे-छोटे राजा राज्य करते रहे। किन्तु, राजनीतिक एकता के न रहते हुए भी सारे समय में सांस्कृतिक एकता बनी रही। भारत का राजनीतिक इतिहास उन राज्यों के उत्थान-पतन और रक्त-पात-पूर्ण युद्धों और संघर्षों की लम्बी कहानी है। किन्तु सांस्कृतिक इतिहास हमारी जाति द्वारा धर्म, दर्शन, कला तथा ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में की गई महत्त्वपूर्ण प्रगति की मनोरञ्जक कथा है, राजनीतिक इतिहास के नायक नर-संहार और मार-काट करने वाले राजा और सेनानी हैं, किन्तु सांस्कृतिक इतिहास के निर्माता संसार को शांति और प्रेम का सन्देश देने वाले महात्मा बुद्ध और महावीर, रामानन्द और कबीर-जैसे साधु-सन्त, शंकराचार्य-जैसे दार्शनिक, कालिदास, सूर, तुलसी-जैसे अमर महाकवि हैं।

सांस्कृतिक और राजनीतिक इतिहास

भारत का सांस्कृतिक इतिहास राजनीतिक इतिहास के आधार पर प्रधान रूप से निम्न युगों में बांटा जाता है :—

वैदिक युग (६०० ई० पू० तक)

इस युग में आर्यों ने भारत के सभी भागों में आर्य संस्कृति का प्रसार किया। आर्येतर जातियों को सभ्यता का पाठ पढ़ाया। इस काल में वैदिक संहिताओं, ब्राह्मणों आरण्यकों और उपनिषदों की रचना हुई। यह युग दो उपविभागों में बंटा है—पूर्व वैदिक युग और उत्तर वैदिक युग। भारतीय संस्कृति की दृष्टि से उत्तर वैदिक युग सबसे अधिक महत्त्व रखता है, इसी काल में प्रधान हिन्दू संस्थाओं तथा सिद्धान्तों का विकास हुआ।

छठी शती ई० पू० में जैन और बौद्ध धर्म के प्रवर्तक भगवान् महावीर और बुद्ध हुए। इसी समय मगध के राजाओं ने साम्राज्य-निर्माण प्रारम्भ किया। सांस्कृतिक दृष्टि से इस युग की विशेषतायें बौद्ध तथा सूत्र साहित्य और वेदांगों का निर्माण, भारतीय दर्शन और आयुर्वेद का जन्म है, इस समय नाटक कला का भी श्रीगणेश हो चुका था।

प्राक् मौर्य युग (६००–३६६ ई० पू०)

इस युग में मगध में पहले नन्दों और फिर मौर्यों का प्रतापी साम्राज्य स्थापित हुआ। ३२७ ई० पू० में सिकन्दर ने भारतवर्ष पर हमला किया। पंजाब के गण राज्यों ने डटकर उसका मुकाबला किया। उसकी सेना हिम्मत हार बैठी और विश्वविजयी को व्यास नदी के तट से वापस लौटना पड़ा। उसके जाने के बाद मगध में चन्द्रगुप्त मौर्य (३२५-३०० ई० पू०) ने मौर्य वंश स्थापित किया। इसके समय में सिकन्दर के सेनापति सेल्यूकस ने भारत पर आक्रमण किया। चन्द्रगुप्त ने उसे पराजित कर हिन्दूकुश पर्वत तक अपनी राज्य-सत्ता स्थापित की। उसके उत्तराधिकारियों में अशोक (२७४-२३२ ई० पू०) उल्लेखनीय है। वह भारत का सबसे बड़ा सम्राट् था, शायद संसार में भी उससे महत्त्वपूर्ण शासक कोई नहीं हुआ। वह दुनिया के उन इने-गिने राजाओं में से है, जिन्होंने राज्य-शक्ति का उपयोग वैयक्तिक महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्त्ति में नहीं किया, बड़ा बनने के लिए खून की नदियां नहीं बहाई, दूसरे देश तलवार के जोर पर नहीं जीते, किन्तु विश्व-प्रेम, प्राणि-मात्र के प्रति दया और अनुकम्पा के प्रसार से निराले ढंग से धर्म-विजय की। उसके समय से बौद्ध धर्म का विदेशों में प्रचार होने लगा। मौर्य काल से भारतीय कलाओं का शृंखलाबद्ध इतिहास मिलने लगता है। इस युग की सबसे महत्त्वपूर्ण साहित्यिक कृति कौटिल्य का 'अर्थ-शास्त्र' है।

नन्द मौर्य युग (३६६-२११ ई० पू०)

सातवाहन युग (२१० ई० पू० १७६३ ई० पू०)

मौर्य वंश के बाद मगध में कोई ऐसा शक्तिशाली राजवंश नहीं हुआ, जो भारत के अधिकांश भाग को अपने अधिकार में रख सकता। मौर्यवंश के बाद क्रमशः शुंग (लगभग १८५ ई० पू० ७२ ई० पू०) काण्व (७२ ई० पू० २७ ई० पू०) और सातवाहन (ई० पू० १००–२२५ ई०) राज वंशों ने शासन किया। इनमें से अंतिम वंश सबसे प्रतापी और दीर्घ काल तक शासन करने वाला था, अत: उसी के नाम से इस युग को सातवाहन युग कहा जाता है। इस काल में भारत पर यूनानियों, शकों और कुशाणों के हमले हुए। कुशाणों का सबसे प्रसिद्ध राजा कनिष्क (७८–१०० ई०) था, इसने बौद्ध धर्म स्वीकार कर अशोक की भाँति उसके प्रसार का यत्न किया। सांस्कृतिक रूप से यह काल कई दृष्टियों से बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इसी युग में भारतीयों ने बड़ी संख्या में बाहर जाकर विदेशों में अपने उपनिवेश स्थापित कर बृहत्तर भारत का निर्माण आरंभ किया। कम्बोडिया और चम्पा (अनाम) में हिन्दू राज्य स्थापित हुए। चीन के साथ भारत का सम्बन्ध हुआ, मध्य एशिया तथा चीन में भारतीय संस्कृति फैली, रोम के साथ भारत का व्यापार खूब बढ़ा। भक्ति-प्रधान पौराणिक हिन्दूधर्म तथा महायान का उत्कर्ष हुआ, व्यापक रूप से मूर्ति एवं लिंग-पूजा शुरू हुई। महाभाष्य और मनुस्मृति इसी युग की रचनाएं हैं। भास एवं अश्वघोष इस युग के श्रेष्ठ नाटककार एवं कवि हैं। चरक, सुश्रुत, जैमिनी, कणाद, गौतम और बादरायण इसी युग में हुए। प्राकृत के साहित्य का भी उत्थान हुआ। मूर्ति-कला में यूनानी एवं भारतीय शैली के समागम से गान्धारी शैली का जन्म हुआ।

नाग-वाकाटक-गुप्त साम्राज्य (१७६ ई० ५४० ई०)

दूसरी श० के अन्त में कान्तिपुरी (कन्तित जि० मिर्जापुर) के नाग वश ने गंगा-यमुना प्रदेश को कुशाणों की दासता से मुक्त किया। तीसरी श० के मध्य में नागों की शक्ति उनके सामंत विन्ध्यशक्ति (२४८ ई० २८४ ई०) के पास चली गई, उसके बेटे प्रवरसेन के समय (२८४–३४४ ई०) वाकाटक साम्राज्य उन्नति के शिखर पर पहुँच गया। चौथी श० ई० के पूर्वार्द्ध

में मगध में गुप्त वंश स्थापित हुआ। इसके प्रतापी राजा समुद्रगुप्त (३४४—३८० ई०) ने अपने रण-कौशल से वाकाटक साम्राज्य का अन्त किया, भारत के बड़े भाग की दिग्विजय करके अश्वमेध यज्ञ किया, न केवल भारत के किन्तु काबुल के कुशाणवंशी तथा सिंहल आदि सब भारतीय द्वीपों के राजाओं ने उसे अपना अधिपति स्वीकार किया। इसके बाद चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ने साम्राज्य को अधिक शक्तिशाली बनाया। कुमार गुप्त प्रथम ने ४० वर्ष (४१५—४५५ ई०) तक शासन किया। पाँचवीं शती के मध्य में भारत पर हूणों के आक्रमण शुरू होगए। सम्राट् स्कन्द-गुप्त ४५५—४६७ ई०) ने गुप्तों की 'डगमगाती राज्यलक्ष्मी' को स्थिर किया, लेकिन छठी श० के शुरू में हूणों के जो जबर्दस्त आक्रमण हुए, उनमें गुप्त साम्राज्य समाप्त होगया।

गुप्त युग भारतीय संस्कृति और कला का स्वर्णयुग कहलाता है। इस समय भारत में जैसी शान्ति और समृद्धि थी, वैसी न तो पहले किसी युग में हुई थी और न आगे कभी हुई। उस समय भारतवर्ष अपनी सभ्यता और संस्कृति के उच्चतम शिखर पर जा पहुँचा। व्यापार की अभूतपूर्व उन्नति हुई। विदेशों में भारतीय राज्यों तथा संस्कृति का असाधारण विस्तार हुआ सुवर्ण द्वीप (हिन्द द्वीप समूह) में भारतीय राज्य बोर्नियो के पूर्वी छोर तक पहुँच गए। बर्मा, मलाया, स्याम, हिन्दचीन, जावा, मध्य एशिया और चीन में हिन्दू और बौद्ध धर्मों का प्रचार हुआ। इस कार्य के लिए कुमारजीव और गुणवर्मा-जैसे बीसियों प्रचारक भारत से बाहर गये और चीन से फाहि-यान-जैसे अनेक श्रद्धालु चीनी अपनी धर्म-पिपासा शांत करने तथा तीर्थ-यात्रा के लिए भारत आने लगे। भारत में बौद्ध, जैन और हिन्दू धर्मों का उच्चतम विकास हुआ। इस युग की मूर्ति एवं चित्रकला परवर्ती युगों के कलाकारों के लिए आदर्श का काम करती रही। अजन्ता के चित्र इसी काल के हैं। ज्ञान-विज्ञान के सभी क्षेत्रों में इस समय भारतीय अन्य सब सभ्य जातियों से आगे बढ़ गए। नौ अंकों तथा शून्य द्वारा अंक-लेखन की दसगुणोत्तर पद्धति पहले-पहल चौथी श० ई० में भारतीयों ने निकाली और

दुनिया के सब देशों ने उसे यहाँ से सीखा। आर्य भट्ट ने गुरुत्वाकर्षण और सूर्य के चारों ओर पृथ्वी के घूमने के सिद्धान्त स्थापित किये। इस युग की वैज्ञानिक उन्नति का ज्वलन्त प्रमाण कुतुबमीनार के पास वाली लोहे की कीली है। डेढ़ हजार वर्ष की बरसातें झेलने के बाद भी इस पर जंग का कोई असर नहीं हुआ। संस्कृत साहित्य के सबसे बड़े कवि कालिदास को अधिकांश विद्वान् इसी युग का मानते हैं। नालन्दा के जगत् प्रसिद्ध विद्यापीठ की स्थापना भी इसी काल में हुई। इस समय भारत में ज्ञान की जो ज्योति प्रकट हुई, वह एक हजार वर्ष तक संसार को अपने आलोक से प्रकाशित करती रही।

मध्य-युग (५४०–१५२६ ई०)

गुप्त युगों में भारतीय संस्कृति अपने उत्कर्ष के चरम बिंदु तक पहुँच चुकी थी, अब उसका अपकर्ष शुरू हुआ। अगले एक हजार वर्ष तक यह प्रक्रिया जारी रही। इस काल को दो बड़े उपविभागों में बांटा जाता है—पूर्व मध्य युग (५४०— ११९० ई०) तथा उत्तर मध्ययुग (११९०—१५२६ ई०)। पूर्व मध्य युग में सारी शासन-सत्ता हिन्दुओं के हाथ में थी और उत्तर मध्ययुग में दिल्ली पर मुस्लिम शासन स्थापित होगया। पूर्व मध्य युग में भारत के विभिन्न प्रदेशों पर वर्धन, चालुक्य, पाल, सेन, गुर्जर, प्रतिहार, राष्ट्रकूट, चन्देल, परमार, चौहान, गाहडवाल, गहलोत पल्लव पाण्डय चोल आदि राजवंश राज्य स्थापित करते रहे।

१३ वीं शती के अन्त में तुर्कों ने उत्तर भारत जीता, दिल्ली पर क्रम से दास (१२०६-९०ई०) खिल्जी (१२९०-१३२० ई०) तुगलक (१३२०–१४१२) सय्यद (१४१६—५०ई०) लोदी (१४५०-१५२६ई०) वंशों ने शासन किया। किन्तु राजपूताने और दक्खिन भारत में स्वतंत्र हिन्दू राज्य बने रहे। १४वीं सदी के उत्तरार्द्ध में विजय नगर साम्राज्य का उदय हुआ। यद्यपि इस समय भारत की सांस्कृतिक उन्नति गुप्त युग की भाँति नहीं हुई फिर भी राजाओं के प्रोत्साहन से वास्तु एवं शिल्प की अद्भुत कला कृतियां—एलोरा और दलवाड़ा (आबू) के मन्दिर इसी समय तैयार हुईं। हिन्दू धर्म के महान् आचार्य कुमारिल,

शंकर और रामानुज इसी समय हुए। संस्कृत के प्रसिद्ध नाटककार भवभूति इसी युग की विभूति हैं। दर्शन में धर्मकीर्त्ति, शान्तरक्षित और शंकर के ग्रन्थ भारतीय विचार की ऊंची उड़ान को सूचित करते हैं। बृहत्तर भारत के कम्बुज, चम्पा श्री-विजय (जावा-सुमात्रा) राज्यों में भारतीय संस्कृति की बड़ी उन्नति हुई। इसी समय बोरो बुदर (८वीं शती), अंकोर वाट (१२वीं शती) के जगत् प्रसिद्ध मंदिर बने किन्तु, पूर्व मध्ययुग के उत्तरार्द्ध में सभी क्षेत्रों में उन्नति के प्रवाह में मन्दता आने लगी। उत्तर मध्य युग में इसके परिणाम स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होने लगते हैं। भारतीय उपनिवेशों का अन्त हो जाता है. जात-पाँत के बन्धन कठोर होने लगते हैं। दर्शन में नया और स्वतंत्र विचार बन्द हो जाता है। प्रकाण्ड पण्डित भी पुराने ग्रन्थों की टीकाओं और भाष्यों से हो अपनी प्रतिभा का उपयोग करने लगते हैं। ज्ञान-विज्ञान के सभी क्षेत्रों में नई उन्नति बन्द हो जाती है।

अगले अध्यायों में काल-क्रम से विभिन्न युगों के सांस्कृतिक इतिहास की विवेचना की जायगी।

दूसरा अध्याय

वैदिक साहित्य और संस्कृति

वेद का महत्त्व

भारतीय संस्कृति का मूल वेद है। वे हमारे सबसे पुराने धर्म ग्रन्थ हैं और हिन्दू धर्म का मुख्य आधार हैं। इसीलिए हमारे यहां जो कुछ वेद-विहित है, वह धर्म समझा जाता है और उसके प्रतिकूल स्मृतियों और पुराणों में प्रतिपादित होने पर भी अधर्म है। न केवल धार्मिक किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से भी वेदों का असाधारण महत्त्व है। वैदिक युग के आर्यों की संस्कृति और सभ्यता जानने का एक-मात्र साधन यही है। विश्व के वाङ्मय में इनसे प्राचीनतम कोई पुस्तक नहीं है। मानव जाति और विशेषतः आर्य जाति ने अपने शैशव में धर्म और समाज का किस प्रकार विकास किया इसका ज्ञान वेदों से ही मिलता है। आर्य भाषाओं का मूल स्वरूप निर्धारण करने में वैदिक भाषा बहुत अधिक सहायक सिद्ध हुई है।

वैदिक साहित्य

हमारी संस्कृति के प्राचीनतम स्वरूप पर प्रकाश डालने वाला वैदिक साहित्य निम्न भागों में बंटा है—(१) संहिता में (२) ब्राह्मण और आरण्यक (३) उपनिषद् (४) वेदांग (५) सूत्र साहित्य।

(क) संहिता में—संहिता का अर्थ है संग्रह। संहिताओं में देवताओं के स्तुतिपरक मंत्रों का संकलन है। संहिताएं चार हैं (१) ऋक् (२) यजु (३) साम (४) अथर्व। इन संहिताओं के संकलन का श्रेय महाभारत के रचयिता महर्षि कृष्ण द्वैपायन वेद व्यास को दिया जाता है। वेद व्यास का

आशय है—वेद का वर्गीकरण करने वाला। वेद का अर्थ है ज्ञान। वेद-व्यास ने अपने समय के सम्पूर्ण ज्ञान का आधुनिक विश्व-कोष-निर्माताओं की भांति वर्गीकरण किया। यह स्मरण रखना चाहिए, वह इस ज्ञान का सम्पादक है, निर्माता नहीं। प्राचीन परम्परा के अनुसार वेद नित्य और अपौरुषेय है। उनकी कभी मनुष्य द्वारा रचना नहीं हुई। सृष्टि के प्रारम्भ में परमात्मा ने इनका प्रकाश अग्नि, वायु, आदित्य, अंगिरा नामक ऋषियों को दिया। प्रत्येक वैदिक मन्त्र का देवता और ऋषि होता है। मन्त्र में जिसकी स्तुति की जाय वह उस मन्त्र का देवता है। और जिसने मन्त्र के अर्थ का सर्व प्रथम दर्शन किया हो वह उसका ऋषि है। पाश्चात्य विद्वान् ऋषियों को ही वेद-मन्त्रों का रचयिता मानते हैं। वैदिक साहित्य को श्रुति भी कहा जाता है क्योंकि पुराने ऋषियों ने इस साहित्य को श्रवण-परम्परा से ग्रहण किया किया था, बाद में इस ज्ञान को स्मरण कर जो नए ग्रन्थ लिखे गए वे स्मृति कहलाए। श्रुति के शीर्ष स्थान पर उपर्युक्त चार संहिताएं हैं।

ऋग्वेद

ऋग्वेद में १०६०० मन्त्र और १०२८ सूक्त हैं, ये दस मण्डलों में विभक्त हैं। सूक्तों में देवताओं की स्तुतियां है, ये बड़ी भव्य उदात्त और काव्यमयी हैं। इनमें कल्पना की नवीनता, वर्णन की प्रौढ़ता और प्रतिभा की ऊँची उड़ान मिलती है। 'उषा' आदि कई देवताओं के वर्णन बड़े हृदयग्राही हैं। पाश्चात्य विद्वान् ऋग्वेद की संहिता को सबसे प्राचीन मानते हैं, उनका विचार है कि इसके अधिकांश सूक्तों की रचना पंजाब में हुई। उस समय आर्य अफ़ग़ानिस्तान से गंगा-यमुना तक के प्रदेश में फले हुए थे। उनके मन में ऋग्वेद में कुभा (काबुल) सुवास्तु (स्वात) क्रमु (कुर्रम) गोमती (गोमल) सिन्धु, गंगा, यमुना, सरस्वती तथा पंजाब की पांचों नदियों शुतुद्रि (सतलुज) विपाश (व्यास) परुष्णी (रावी) असिक्री (चनाब) वितस्ता (झेलम) का उल्लेख है। इन नदियों से सिञ्चित प्रदेश भारत में आर्य सभ्यता का जन्म-स्थान माना जाता है।

यजुर्वेद

इसमें यज्ञ के मन्त्रों का संग्रह है इनका प्रयोग यज्ञ के समय अध्वर्यु नामक पुरोहित किया करता था । यजुर्वेद में ४० अध्याय हैं। पाश्चात्य विद्वान् इसे ऋग्वेद से काफी समय बाद का मानते हैं। ऋग्वेद में आर्यों का कार्य-क्षेत्र पंजाब है। इसमें कुरु पांचाल, कुरु सतलुज यमुना का मध्यवर्त्ती भू-भाग (वर्तमान अम्बाला) (डिवीजन) है और पांचाल गंगा-यमुना का दोआबा था। इसी समय से गंगा-यमुना का प्रदेश आर्य सभ्यता का केन्द्र हो गया। ऋग्वेद का धर्म उपासना-प्रधान था किन्तु यजुर्वेद का यज्ञ-प्रधान। यज्ञों का प्राधान्य होने से ब्राह्मणों का महत्त्व बढ़ने लगा। यजुर्वेद के दो भेद हैं—कृष्ण यजुः और शुक्ल यजुः। दोनों के स्वरूप में बड़ा अन्तर है, पहले में केवल मन्त्रों का संग्रह है और दूसरे में छन्दोबद्ध मन्त्रों के साथ गद्यात्मक भाग भी है।

सामवेद

इसमें गेय मन्त्रों का संग्रह है, यज्ञ के अवसर पर जिस देवता के लिए होम किया जाता था उसे बुलाने के लिए उद्गाता उचित स्वर में उस देवता का स्तुति-मन्त्र गाता था। इस गायन को साम कहते थे। प्रायः ऋचाएं ही गाई जाती थीं। अतः समस्त सामवेद में ऋचाएं ही हैं। इनकी संख्या १५४६ है। इनमें से केवल ७५ ही नई हैं बाकी सब ऋग्वेद से ली गई हैं। भारतीय संगीत का मूल सामवेद में उपलब्ध होता है।

अथर्ववेद

इसका यज्ञों से बहुत कम सम्बन्ध है। इसमें आयुर्वेद सम्बन्धी सामग्री अधिक है। इसका प्रतिपाद्य विषय विभिन्न प्रकार की औषधियां, ज्वर, पीलिया, सर्पदंश, विष प्रभाव को दूर करने के मन्त्र, सूर्य की स्वास्थ्यप्रद शक्ति, रोगोत्पादक कीटाणुओं तथा विभिन्न बीमारियों को नष्ट करने के उपाय हैं। पाश्चात्य विद्वान् इसे जादू-टोने और अन्ध-विश्वास का भण्डार मानते हैं। वे इसमें आर्य और अनार्य धार्मिक विचारों का सम्मिश्रण देखते हैं किन्तु वस्तुतः इसमें राजनीति और समाज-शास्त्र के अनेक ऊँचे सिद्धान्त हैं। इसमें २०

काण्ड, ३४ प्रपाठक, १११ अनुवाक, ७३१ सूक्त तथा ५८३६ मन्त्र हैं, इन में १२०० के लगभग मन्त्र ऋग्वेद से लिये गए हैं।

शाखाएं

प्राचीन काल में वेदों की रक्षा गुरू-शिष्य-परम्परा द्वारा होती थी। इनका लिखित एवं निश्चित स्वरूप न होने से वेदों के स्वरूप में कुछ भेद आने लगा, और इनकी शाखाओं का विकास हुआ। ऋग्वेद की पांच शाखाएं थीं:—शाकल, बाष्कल, अश्वलायन, शांखायन व माण्डूकेय। इनमें अब शाकल शाखा ही उपलब्ध होती है। शुक्ल यजुर्वेद की दो प्रधान शाखाएं हैं:—माध्यंदिन और काण्व। पहली उत्तरीय भारत में मिलती है और दूसरी महाराष्ट्र में। इनमें अधिक भेद नहीं है। कृष्ण यजुर्वेद की आजकल चार शाखाएं मिलती हैं—तैत्तिरीय मैत्रायणी, काठक तथा कठ कापिष्ठल संहिता। इनमें दूसरी तीसरी पहली से मिलती है, क्रम में ही थोड़ा अन्तर है, चौथी संहिता आधी ही मिली है। सामवेद की दो शाखाएं थीं:—कौथुम और राणायनीय। इनमें कौथुम का केवल सातवां प्रपाठक मिलता है। अथर्ववेद की दो शाखाएं उपलब्ध हैं:—पैप्पलाद और शौनक।

ब्राह्मण ग्रन्थ

संहिताओं के बाद ब्राह्मण ग्रन्थों का निर्माण हुआ। इनमें यज्ञों के कर्मकाण्ड का विस्तृत वर्णन है; साथ ही शब्दों की व्युत्पत्तियां तथा प्राचीन राजाओं और ऋषियों की कथाएं तथा सृष्टि सम्बन्धी विचार हैं। प्रत्येक वेद के अपने ब्राह्मण हैं। ऋग्वेद के दो ब्राह्मण हैं। (१) ऐतरेय और (२) कौषीतकी। ऐतरेय में ४० अध्याय और आठ पंचिकाएं हैं, इसमें अग्निष्टोम, गवामयन, द्वादशाह आदि सोमयागों, अग्निहोत्र तथा राज्याभिषेक का विस्तृत वर्णन है। कौषीतकी (शांखायन) में तीस अध्याय हैं। पर विषय ऐतरेय ब्राह्मण-जैसा ही है। इनसे तत्कालीन इतिहास पर काफी प्रकाश पड़ता है। ऐतरेय में शुनःशेप की प्रसिद्ध कथा है, कौषीतकी से प्रतीत होता है कि उत्तर भारत में भाषा के सम्यक् अध्ययन पर बहुत बल दिया जाता था। शुक्ल यजुर्वेद का ब्राह्मण

शतपथ के नाम से प्रसिद्ध है; क्योंकि इसमें सौ अध्याय हैं। ऋग्वेद के बाद प्राचीन इतिहास की सबसे अधिक जानकारी इसी से मिलती है। इसमें यज्ञों के विस्तृत वर्णन के साथ अनेक प्राचीन आख्यानों, व्युत्पत्तियों तथा सामाजिक बातों का वर्णन है। इसके समय में कुरु-पांचाल आर्य संस्कृति का केन्द्र था, इसमें पुरुरवा और उर्वशी की प्रणय-गाथा, च्यवन ऋषि तथा महाप्रलय का आख्यान, जनमेजय, शकुन्तला और भरत का उल्लेख है। सामवेद के अनेक ब्राह्मणों में से पंचविंश या ताण्ड्य ही महत्त्वपूर्ण है। अथर्ववेद का ब्राह्मण 'गोपथ' के नाम से प्रसिद्ध है।

आरण्यक

ब्राह्मणों के अन्त में कुछ ऐसे अध्याय भी मिलते हैं जो गांवों या नगरों में नहीं पढ़े जाते थे। उनका अध्ययन-अध्यापन गांवों से दूर अरण्यों (वनों) में होता था। इन्हें आरण्यक कहते हैं। गृहस्थाश्रम में यज्ञ-विधि का निर्देश करने के लिए ब्राह्मणग्रन्थ उपयोगी थे और उसके बाद वानप्रस्थ आश्रम में बनवासी यज्ञ के रहस्यों और दार्शनिक तत्त्वों का विवेचन करने वाले आरण्यकों का अध्ययन करते थे। उपनिषदों का इन्हीं आरण्यकों से विकास हुआ।

उपनिषद्

उपनिषदों में मानव-जीवन और विश्व के गूढ़तम प्रश्नों को सुलझाने का प्रयत्न किया गया है। ये भारतीय अध्यात्म शास्त्र के देदीप्यमान रत्न हैं। इनका मुख्य विषय ब्रह्म विद्या का प्रतिपादन है। वैदिक साहित्य में इनका स्थान सबसे अन्त में होने से ये 'वेदान्त' भी कहलाते हैं। इनमें जीव और ब्रह्म की एकता के प्रतिपादन द्वारा ऊँची-से-ऊँची दार्शनिक उड़ान ली गई है। भारतीय ऋषियों ने गम्भीरतम चिन्तन से जिन आध्यात्मिक तत्त्वों का साक्षात्कार किया, उपनिषद उनका अमूल्य कोष है। इनमें अनेक शतकों की तत्त्व चिन्ता का परिणाम है। मुक्तिकोपनिषद में चारों वेदों से सम्बद्ध १०२ उपनिषद गिनाये गए हैं, किन्तु ११ उपनिषद ही अधिक प्रसिद्ध हैं:—ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरेय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक और श्वेताश्वतर। इनमें

छान्दोग्य और बृहदारण्यक अधिक प्राचीन और महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं।

वैदिक साहित्य के विशाल एवं जटिल होने पर कर्मकाण्ड से सम्बद्ध सिद्धान्तों को एक नवीन रूप दिया गया। कम-से-कम शब्दों में अधिक-से-अधिक अर्थ प्रतिपादन करने वाले छोटे-से-छोटे वाक्यों में सब महत्त्वपूर्ण विधि-विधान प्रकट किये जाने लगे। इन सार-गर्भित वाक्यों को सूत्र कहा जाता था। कर्मकाण्ड सम्बन्धी सूत्र-साहित्य को चार भागों में बांटा गया.—(१) श्रौत सूत्र (२) गृह्य-सूत्र (३) धर्म सूत्र (४) शुल्व सूत्र। पहले में वैदिक यज्ञ सम्बन्धी कर्म-काण्ड का वर्णन है। दूसरे में गृहस्थ के दैनिक यज्ञों का और तीसरे में सामाजिक नियमों का और चौथे में यज्ञवेदियों के निर्माण का। श्रौत का अर्थ है श्रुति (वेद) से सम्बद्ध यज्ञ याग। अतः श्रौत सूत्रों में तीन प्रकार की अग्नियों के आधान अग्निहोत्र दर्श पौर्णमास, चातुर्मास्यादि साधारण यज्ञों तथा अग्निष्टोम आदि सोमयागों का वर्णन है। ये भारत की प्राचीन यज्ञ-पद्धति पर बहुत प्रकाश डालते हैं। ऋग्वेद के दो श्रौत सूत्र हैं:—शांखायन और आश्वलायन। शुक्ल यजुर्वेद का एकः—कात्यायन, कृष्ण यजुर्वेद के छः सूत्र हैं:—आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी, बौधायन, भारद्वाज, मानव, वैखानस। सामवेद के लाटायन, द्राह्यायण और आर्षेय नामक तीन सूत्र हैं। अथर्ववेद का एक ही वैतान सूत्र है।

सूत्र साहित्य

इनमें उन आचारों तथा जन्म से मरण पर्यन्त किये जाने वाले संस्कारों का वर्णन है जिनका अनुष्ठान प्रत्येक हिन्दू गृहस्थ के लिए आवश्यक समझा जाता था। उपनयन और विवाह-संस्कार का विस्तार से वर्णन है। इन ग्रन्थों के अध्ययन से प्राचीन भारतीय समाज के घरेलू आचार-विचार का तथा भिन्न-भिन्न प्रान्तों के रीति-रिवाज का परिचय पूर्ण रूप से हो जाता है। ऋग्वेद के गृह्य सूत्र शांखायन और आश्वलायन हैं। शुक्ल यजुर्वेद का पारस्कर, कृष्ण यजुर्वेद के आपस्तम्ब हिरण्यदेशी. बौधायन, मानव, काठक, वैखानस, सामवेद के गोभिल तथा खादिट अथर्ववेद का कौशिक। इनमें गोभिल प्राचीनतम है।

गृह्य सूत्र

धर्मसूत्रों में सामाजिक जीवन के नियमों का विस्तार से प्रतिपादन है।

धर्म सूत्र

वर्णाश्रम धर्म की विवेचना करते हुए ब्रह्मचारी, गृहस्थ व राजा के कर्त्तव्यों, विवाह के भेदों, दाय की व्यवस्था, निषिद्ध भोजन, शुद्धि प्रायश्चित्त आदि का विशेष वर्णन है। इन्हीं धर्म सूत्रों से आगे चलकर स्मृतियों की उत्पत्ति हुई जिनकी व्यवस्थाएं हिन्दू-समाज में आज तक माननीय समझी जाती हैं। वेद से सम्बद्ध केवल तीन धर्म सूत्र ही अब तक उपलब्ध हो सके हैं—आपस्तम्ब, हिरण्य केशी व बौधायन, ये यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से सम्बद्ध हैं। अन्य धर्म सूत्रों में गौतम और वशिष्ठ उल्लेखनीय हैं।

शुल्व सूत्र

इनका सम्बन्ध श्रौत सूत्रों से है। शुल्व का अर्थ है मापने का डोरा। अपने नाम के अनुसार शुल्व सूत्रों में यज्ञ वेदियों को नापना उनके लिए स्थान का चुनना तथा उनके निर्माण आदि विषयों का विस्तृत वर्णन है। ये भारतीय ज्यामिति के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं।

वेदांग

काफी समय बीतने के बाद वैदिक साहित्य जटिल एवं कठिन प्रतीत होने लगा। उस समय वेद के अर्थ तथा विषयों का स्पष्टीकरण करने के लिए अनेक सूत्र-ग्रन्थ लिखे जाने लगे। इसलिए इन्हें वेदांग कहा गया। वेदांग छः हैं—शिक्षा, छन्द, व्याकरण, निरुक्त, कल्प तथा ज्योतिष। पहले चार वेद मन्त्रों के शुद्ध उच्चारण और अर्थ समझने के लिए तथा अन्तिम दो धार्मिक कर्मकाण्ड और यज्ञों का समय जानने के लिए आवश्यक हैं। व्याकरण को वेद का मुख कहा जाता है, ज्योतिष को नेत्र, निरुक्त को श्रोत्र, कल्प को हाथ, शिक्षा को नासिका तथा छन्द को दोनों पैर।

शिक्षा

उन ग्रन्थों को शिक्षा कहते हैं, जिनकी सहायता से वेदों के उच्चारण का शुद्ध ज्ञान प्राप्त होता था। वेद-पाठ में स्वरों का विशेष महत्त्व था। इनकी शिक्षा के लिए पृथक् वेदांग बनाया गया। इनमें वर्ण के उच्चारण के अनेक नियम दिये गए हैं। संसार में उच्चारण शास्त्र की वैज्ञानिक विवेचना करने वाले पहले ग्रन्थ यही हैं। ये वेदों की विभिन्न शाखाओं से सम्बन्ध रखते हैं और प्रातिशाख्य

कहलाते हैं। ऋग्वेद, अथर्व वेद, वाजसनेयी व तैत्तिरीय संहिता के प्रातिशाख्य मिलते हैं। बाद में इनके आधार पर शिक्षा-ग्रंथ लिखे गए। इनमें शुक्ल यजुर्वेद की याज्ञवल्क्य शिक्षा, सामवेद की नारद शिक्षा और पाणिनि की पाणिनीय शिक्षा मुख्य हैं।

छन्द

वैदिक मन्त्र छन्दोबद्ध हैं। छन्दों का ठीक ज्ञान बिना प्राप्त किये, वेद-मन्त्रों का ठीक उच्चारण नहीं हो सकता। अत: छन्दों की विस्तृत विवेचना आवश्यक समझी गई। शौनक मुनि के ऋक्प्रातिशाख्य में शांखायन श्रौतसूत्र में तथा सामवेद से सम्बद्ध निदान सूत्र में इस शास्त्र का व्यवस्थित वर्णन है। किन्तु इस वेदांग का एक-मात्र स्वतन्त्र ग्रंथ पिंगलाचार्य-प्रणीत छन्दसूत्र है। इसमें वैदिक और लौकिक दोनों प्रकार के छन्दों का वर्णन है।

व्याकरण

इस अंग का उद्देश्य सन्धि, शब्द रूप धातु रूप तथा इनकी निर्माण-पद्धति का ज्ञान कराना था। इस समय व्याकरण का सबसे प्रसिद्ध ग्रंथ पाणिनि की अष्टाध्यायी है; किन्तु व्याकरण का विचार ब्राह्मण-ग्रन्थों के समय से शुरू होगया था। पाणिनि से पहले गार्ग्य, स्फोटायन, शाकटायन, भारद्वाज आदि व्याकरण के अनेक महान् आचार्य हो चुके थे। इन सबके ग्रंथ अब लुप्त हो चुके हैं।

निरुक्त

इसमें वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति दिखाई जाती थी, प्राचीन काल में वेद के कठिन शब्दों की क्रमबद्ध तालिका और कोश निघंटु कहलाते थे और इनकी व्याख्या निरुक्त में होती थी। आजकल केवल यास्काचार्य का निरुक्त ही उपलब्ध होता है। इसका समय ७०० ई० पू० के लगभग है।

ज्योतिष

वैदिक युग में यह धारणा थी कि वेदों का उद्देश्य यज्ञों का प्रतिपादन है। यज्ञ उचित काल और मुहूर्त में किये जाने से ही फल-दायक होते हैं। अत: काल-ज्ञान के लिए ज्योतिष का विकास हुआ। और यह वेद का अंग समझा जाने लगा। इसका प्राचीनतम ग्रन्थ लगधमुनि-रचित वेदांग ज्योतिष है।

श्रौत, गृह्य एवं धर्म सूत्रों को ही कल्प सूत्र कहते हैं इनका वर्णन ऊपर किया जा चुका है।

वैदिक साहित्य का काल

इस विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है कि वेदों की रचना कब हुई और उसमें किस काल की सभ्यता का वर्णन मिलता है। भारतीय वेदों को अपौरुषेय [किसी पुरुष द्वारा न बनाया हुआ] मानते हैं अत: नित्य होने से उनके काल-निर्धारण का प्रश्न ही नहीं उठता; किंतु पश्चिमी विद्वान् इन्हें ऋषियों की रचना मानते हैं और इसके काल के सम्बन्ध में उन्होंने अनेक कल्पनाएं की हैं। पहली कल्पना मैक्समूलर ❀ की है उन्होंने वैदिक साहित्य को चार भागों में बांटा है—छन्द, मन्त्र, ब्राह्मण और सूत्र साहित्य। सूत्र साहित्य का काल ६०० ई० पू०–२०० ई० पू० है, ब्राह्मणों का ८००–६००, मन्त्र अर्थात् ऋग्वेद के पिछले हिस्सों का १०००—८०० ई०पू० और छन्द अर्थात् ऋग्वेद की प्राचीनतम ऋचाओं का १२०० —१००० ई०। तुर्की में १४०० ई० पू० के कुछ प्राचीन लेखों में वैदिक देवताओं का स्पष्ट उल्लेख मिलने से पश्चिमी विद्वानों को मैक्समूलर का मत अग्राह्य प्रतीत हुआ। वे वेदों को और पुराना समझने लगे। जर्मन विद्वान् विण्टर निट्ज़+ ने वैदिक साहित्य आरम्भ होने का काल २५००—२००० ई० तक माना। तिलक और याकोबी× ने वैदिक साहित्य में वर्णित नक्षत्रों की स्थिति के आधार पर इस साहित्य का आरम्भ काल ४५०० ई०पू० माना। श्री अविनाशचन्द्र दास तथा पावगी ने ऋग्वेद में वर्जित भूगर्भ विषयक साक्षी द्वारा ऋग्वेद को कई लाख वर्ष पूर्व का ठहराया। अभी तक इस प्रश्न का प्रामाणिक रूप से अन्तिम निर्णय नहीं हो सका। वैदिक साहित्य का अध्ययन करने से उसमें दो काल विभाग स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं:—(१) प्राचीन वैदिक युग : इसे

❀ मैक्समूलर का मत १२०० ई०पू० ६०० ई० पू०

+ विण्टर निट्ज की कल्पना २५०० ई० पू०

× तिलक और याकोबी ४५०० ई० पू०

ऋग्वेद का युग भी कहते हैं। इस काल की संस्कृति के ज्ञान का मुख्य आधार ऋग्वेद है, (२) उत्तरवैदिक युग : यहां इन कालों की वैदिक संस्कृति का संक्षिप्त प्रतिपादन किया जायगा।

वैदिक संस्कृति

वैदिक युगीन धार्मिक विकास के तीन स्पष्ट रूप प्रतीत होते हैं। प्राचीनतम

धर्म

वैदिक धर्म उपासना-प्रधान एवं सरल था। ब्राह्मण-ग्रंथों के समय यह कर्मकाण्ड-प्रधान एवं जटिल हो गया और अन्त में उपनिषदों के समय ज्ञान पर बल दिया जाने लगा। प्राचीनतम वैदिक धर्म अत्यन्त सुविकसित, परिष्कृत और सरल है। पिछली शती में कुछ योरोपियन विद्वानों ने यह मत प्रकट किया था कि यह अत्यन्त प्रारम्भिक और जंगली धर्म है। आर्य जंगलों में रहते थे। वर्षा, विद्युत्, धूप, सूर्य आदि नाना शक्तियों से भयभीत होकर उनकी स्तुति के लिए मन्त्र पढ़ते थे, किंतु वेद के गम्भीर अध्ययन से शीघ्र ही उन्हें ज्ञान हो गया कि यह बड़ा सुसंस्कृत, कलात्मक, परिष्कृत और प्रौढ़ धर्म है।

ऋग्वेद में विभिन्न देवों की स्तुतियां हैं। देव का अर्थ है द्योतनशील या

वैदिक देवता

दीप्तिमय। एक ही ईश्वर का रूप प्रकृति की विभिन्न शक्तियों में चमक रहा है। आर्य इन रूपों की सगुण पूजा करते थे उनके प्रधान देवता निम्न थे:—

अत्यन्त प्राचीनकाल में यह उच्चतम एवं उदात्ततम देवता था। बाद में

वरुण

इसका स्थान इन्द्र ने ले लिया। यह धर्म का अधिपति है। सत्य (ऋत) पुण्य और भलाई का देवता है। इसका प्रधान कार्य धर्म की रक्षा है। ऋग्वेद के अनेक सूक्तों में बड़े भव्य शब्दों में इसकी स्तुति है। वरुण सर्वज्ञ और सर्व साक्षी हैं, मनुष्यों का सत्य, अनृत सदा देखते रहते हैं। रात्रि में सर्वत्र अन्धकार छा जाने पर भी वे जागते रहते हैं। सर्वत्र उनके दूत फिर रहे हैं। मनुष्यों की गुप्त-से-गुप्त मन्त्रणा और पाप उन्हें ज्ञात होता रहता है। दो आदमी एकान्त में बैठकर जो मन्त्रणा करते हैं उसे वह जान लेते

हैं। वे प्रकृति के अटल नियमों की रक्षा करने वाले हैं। पापियों को पाश में बांधकर दण्ड देते हैं। अनेक सूक्तों में भक्तों ने इनसे उसी प्रकार क्षमा की अभ्यर्थना की है जैसे बाद में विष्णु आदि देवताओं से की जाती थी। भक्ति सम्प्रदाय का वैदिक सूक्त यही है। वरुण की उपासना लघु एशिया (तुर्की) के मितन्नी राजा भी करते थे।

इन्द्र

यह वैदिक युग का सबसे महत्त्वपूर्ण देवता है, इसकी प्रधानता इस बात से स्पष्ट है कि सम्पूर्ण ऋग्वेद के चौथे हिस्से से अधिक २५० सूक्तों में इसकी स्तुति है। यह देवों का अग्रणी तथा अपरिमित शक्तिशाली है। उसके बल से द्युलोक और भूलोक कांपते हैं। उसके हाथ में शक्तिशाली वज्र है। उसने गौओं का छुड़ाना, वृत्र का वध, पर्वतों का भेदन, दासों का दमन आदि अनेक वीरतापूर्ण कर्म किये हैं। किन्तु उसका प्रधान कार्य वृत्र का संहार है। इन्द्र को सामान्य रूप से वृष्टि देवता का प्रतीक माना जाता है। वह अपने बिजली रूपी वज्र से अनावृष्टि के दैत्य वृत्र का संहार करता है। इन्द्र युद्ध का देवता है। वज्र से शत्रुओं का दलन करता है। मनुष्य युद्ध में विजय पाने के लिए इन्द्र का आह्वान करते हैं।

अग्नि

ऋग्वेद में इन्द्र के बाद अग्नि को ही सबसे अधिक स्तुति है। दो सौ से अधिक सूत्र इसका प्रतिपादन करते हैं। ऋग्वेद के पहले सूक्त का यही देवता है। लपटें समुद्र की तरंगों की तरह ऊंची उठती हैं। इस के ज्वलन से चट-चट की ऊंची आवाज होती है। आकाश में इसके स्फुल्लिंग उड़ते हैं और पक्षी उनसे भयभीत होकर भागते हैं। अग्नि के असाधारण महत्त्व का यह कारण था कि मनुष्यों की हवि देवताओं तक वहन करता था, प्रतिदिन अग्निहोत्र के लिए प्रज्वलित किया जाता था।

सूर्य

सूर्य से सम्बंध रखने वाले पांच देवताओं की स्तुति की जाती थी। सविता, सूर्य, मित्र, पूषा, विष्णु। सविता सूर्य के प्रेरक और प्रातःकालीन रूप का नाम था। सूर्य इन पांचों में प्रधान, द्युलोक और अदिति का पुत्र माना जाता था, उसकी पत्नी उषा थी।

वह सात घोड़ों के रथ पर प्रतिदिन आकाश की यात्रा करता था। मित्र वरुण का साथी और सूर्य के उपकारक रूप का प्रतिनिधि समझा जाता था। 'उषा' प्रतिपालकों का देवता था, विष्णु उस समय सबसे कम महत्त्व रखता था, किन्तु बाद में बहुत अधिक पूजा जाने लगा। वेद में विष्णु के तीन पगों का बार-बार संकेत है। एक प्राचीन आचार्य और्णवाभ ने इन तीन पदों को-उदय होने वाले, मध्याह्न में उच्चतम शिखर पर पहुंचने वाले तथा अस्त होने वाले सूर्य के तीन रूपों का सूचक माना है। इन्हीं पदों से बाद में वामन और बलि की कथा का विकास हुआ।

उषा

प्रभात वेला की मनोरम छटा को देवी का रूप देना संभवतः आर्यों की सुन्दरतम कल्पना है। विश्व के समूचे धार्मिक साहित्य में इसके तुल्य कोई मनोहारिणी रचना नहीं है। ऋग्वेद में उषा का अत्यन्त सरल वर्णन है। इनके अतिरिक्त, इसमें अश्विनी, वायु, वात, सोम, सरस्वती, पर्जन्य (बादल), आपः (जल) आदि अनेक देवताओं की स्तुतियां पाई जाती हैं। इन देवताओं की पूजा यज्ञ में आहुति देकर की जाती थी।

ईश्वर सम्बन्धी विचार

ऋग्वेद में देवताओं की स्तुतियों का विशेष ढंग है। इसे सर्वोत्कर्षवाद [Henotheism] कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि भक्त जिस देवता से प्रार्थना करता है उसे सबसे बड़ा बताता है। इन्द्र की आराधना करते हुए उसको सर्वोच्च कहता है और अग्नि की स्तुति में अग्नि को। ऋग्वेद में नाना देवताओं की स्तुतियां हैं, इससे प्रायः यह कल्पना की जाती है कि उस समय बहुदेववाद प्रचलित था। किन्तु जैसा ऊपर बताया जा चुका है कि आर्य प्रकृति की सब शक्तियों को एक ही सत्ता के विभिन्न स्वरूप मानते थे। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में एकेश्वरवाद की घोषणा करते हुए कहा था:—'एक ही सत्ता को विद्वान् अनेक नामों से कहते हैं। इस सत्ता को वे अदिति, हिरण्यगर्भ, पुरुष आदि नामों से सूचित करते थे। वह अखण्ड होने से अदिति था। यह सारा विश्व उस तेजस्वी (हिरण्य) ईश्वर के गर्भ से

निकला है । अतः वह हिरण्यगर्भ कहलाता था। वही एक सत्ता इस समूची ब्रह्माण्डपुरी में फैली हुई है, अतः वह पुरुष कहलाता था। हिरण्यगर्भ सूक्त में एकेश्वरवाद का सुन्दर प्रतिपादन है।

वैदिक और वर्तमान हिन्दू धर्म में भेद

वैदिक धर्म वर्त्तमान पौराणिक धर्म से निम्न बातों में मौलिक रूप से भिन्न था। (१) वैदिक धर्म में मूर्ति-पूजा का प्रचलन नहीं था। ऋग्वेद में केवल एक ही स्थान पर इन्द्र की मूर्ति का उल्लेख है। देवताओं की आराधना मन्त्र द्वारा आहुति देकर की जाती थी, वह यज्ञ-प्रधान धर्म था। आजकल की भक्ति-प्रधान उपासना उस समय प्रचलित नहीं थी।

(२) वैदिक देवताओं तथा वर्त्तमान हिन्दू देवताओं में कई प्रकार का भेद है। वैदिक काल का प्रधान देवता इन्द्र है। बाद में ब्रह्मा, विष्णु, महेश को प्रमुखता प्राप्त हुई। वैदिक वरुण का महत्त्व लुप्त हो गया। बाद में प्राधान्य पाने वाली त्रिमूर्ति में से वेद में केवल विष्णु और रुद्र का उल्लेख है। किन्तु ये उस समय गौण देवता थे। अनेक वैदिक देवताओं उषस्, पर्जन्य, भग, अर्यमा का बाद में लोप हो गया। अनेक पौराणिक देवी-देवताओं-पार्वती, कुबेर, दत्तात्रेय आदि का वेदों में कोई उल्लेख नहीं हैं।

(३) वर्तमान हिन्दू धर्म में ब्रह्मा, विष्णु, महेश के साथ सरस्वती लक्ष्मी, पार्वती का पूजन होता है। सभी देवों की शक्तियां स्त्री रूप में पूजी जाती हैं। वैदिक युग के अधिकांश देवता पुरुष थे। नारी तत्व को वर्त्तमान प्रधानता नहीं मिली थी।

(४) वैदिक धर्म आशावादी और ओजस्वी है। उसमें पारलौकिक जीवन के प्रति वह चिन्ता नहीं जो वर्तमान हिन्दू धर्म में है। वैदिक आर्य संसार से भागना नहीं चाहता, उसका पूरा भोग करना चाहता है। आर्य उपासक अपने देवताओं से प्रधान रूप से इस लोक की वस्तुएं प्रजा, पशु, अन्न, तेज और ब्रह्मवर्चस् मांगता था। उसकी सबसे बड़ी प्रार्थना यही होती थी:—'मेरे शत्रुओं का दलन करो। उसका जीवन लहू और लोहे का, ओज और

विचार का, विजय और स्वतंत्रता का, कविता और कल्पना का, मौज और मस्ती का था, इसका धर्म भी उसके अनुरूप ही था।

उत्तर वैदिक युग का धर्म

उत्तर वैदिक युग तक पहुँचते हुए वैदिक धर्म में काफी अन्तर आ गया था। यद्यपि अथर्ववेद में वरुण के कई सुन्दर सूक्त हैं। किन्तु इसकी महिमा घटने लगी थी। एकेश्वरवादी प्रवृत्ति पुष्ट हो रही थी। ब्राह्मणयुग में प्रजापति की महिमा बढ़ने लगी। धीरे-धीरे उसने इन्द्र का स्थान ले लिया। प्रजापति द्वारा वाराह रूप में पृथ्वी धारण तथा कूर्म बनने की कथाएं इसी युग में चलीं, जो बाद में अवतारों का मूल बनीं। इस युग में एक अन्य देवता रुद्र की भी महिमा बढ़ चली। पहले यह शिव था, अब महादेव और पशुपति हो गया। पाश्चात्य विद्वानों की यह कल्पना है कि यह अनार्य देवता था। विष्णु के तीन पगों की कल्पना का विकास भी इसी काल में हुआ।

(क) नये देवता

ब्राह्मण युग के धर्म की दूसरी विशेषता याज्ञिक कर्मकाण्ड की जटिलता का बढ़ना था। ब्राह्मण-ग्रन्थों में इन यज्ञों की विस्तृत विधियां दी गई हैं। इनसे ज्ञात होता है कि यज्ञों का आडम्बर बहुत बढ़ चला था। बड़े-बड़े यज्ञ राजाओं तथा धनाढ्यों द्वारा होते थे। राजाओं के यज्ञों में राजसूय वाजपेय और अश्वमेध प्रधान थे। यज्ञों में पशु-बलि की प्रथा बढ़ रही थी।

(ख) कर्मकाण्ड की जटिलता

उत्तर वैदिक युग में पशु-बलि देने के विरुद्ध एक लहर चली। ऐसी अनुश्रुति है कि राजा वसु चैद्योपरिचर के समय इस विषय पर बड़ा विवाद उठा। ऋषि निरे अन्न की आहुति देना चाहते थे, देवता बकरे की मांगते थे। वसु से फैसला मांगा गया, उसने देवताओं के पक्ष में फैसला दिया; क्योंकि वही पद्धति पुरानी थी। किन्तु वह सुधार का पक्षपाती था उसने

(ग) पशु-बलि के विरुद्ध आन्दोलन

अपने एक अश्वमेध में मुनियों के कथनानुसार अन्न की आहुतियाँ दीं। वसु द्वारा प्रवर्त्तित वह लहर कर्मकाण्ड और तप के बजाय भक्ति पर बल देती थी। यह आन्दोलन हमारे वाङ्मय में 'एकान्तिक' कहलाता है; क्योंकि इसमें एक-मात्र हरि में एकाग्रता से भक्ति करने का भाव मुख्य था। इन सुधारकों ने यज्ञों को बिलकुल नहीं छोड़ा था। भावी भक्ति आन्दोलन का एक बीज यह भी था।

यज्ञ-विरोधी आन्दोलन

यह उपनिषदों के समय शुरू हुआ। इनके आचार पर बल देते हुए ज्ञान मार्ग की श्रेष्ठता का प्रतिपादन कर यज्ञों का विरोध किया। छान्दोग्य उपनिषद् (३ । १७ । ४ । ६) में देवकी-पुत्र कृष्ण को घोर अंगिरस् यज्ञ की एक सरल रीति बताई। इस यज्ञ की दक्षिणा थी—तपश्चर्या, दान, आर्जव, अहिंसा और सत्य। मुण्डकोपनिषद् (१ । २ । ७) ने घोषणा की कि ये यज्ञ फूटी नाव की तरह है। कर्मकाण्ड-विरोधियों ने यज्ञ द्वारा पूजा-विधि के स्थान पर नये मार्ग का निर्देश किया। दुश्चरित से विराम, इन्द्रियों का वशीकरण, मन के संकल्प की दृढ़ता, शुचिता, वाणी और मन का संयम, तप, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा, शान्ति, सत्य, सम्यक् ज्ञान और विज्ञान इन सब उपायों से समाहित होने, आत्मा या ब्रह्म में ध्यान लगाने से और उसकी भक्ति पूर्वक उपासना करने से मनुष्य परम पद को प्राप्त होता है। उपनिषदों के समय में अमृतत्व-प्राप्ति मुक्ति, कर्मवाद और पुनर्जन्म के विचार जो इस समय हिन्दू धर्म की प्रधान विशेषता है, स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होते हैं। प्राचीन वैदिक युग के आर्य ने अपने आनन्दमय जीवन में मुक्ति की चिन्ता नहीं की। ब्राह्मण-ग्रन्थों ने यज्ञों द्वारा स्वर्ग का विश्वास दिलाया किन्तु उपनिषदों के समय का आर्य ऐसी किसी वस्तु से सन्तुष्ट नहीं हो सकता जो अमृतत्व प्राप्त न कराये। मैत्रेयी के अमर शब्द—"किमहं तेन कुर्यां येनाहं नामृता स्याम्" इस युग की भावना पर सुन्दर प्रकाश डालते हैं। भारतीय दर्शन में संसार का दु:खमय होना, आत्मा की अमरता, मुक्ति की बलवती आकांक्षा का प्राधान्य इसी युग से हुआ।

२. सामाजिक जीवन

पूर्व वैदिक युग

विवाह-पद्धति

वैदिक समाज का आधार कुटुम्ब था उस समय विवाह-संस्कार तो लगभग वैसा ही होता था जैसा आजकल होता है। किन्तु साथियों का चुनाव, विवाह सम्बन्धी आदर्शों और स्त्रियों की स्थिति में बड़ा अन्तर था। वैदिक काल में युवक-युवतियों के विवाह परिपक्व आयु में होते थे। बाल-विवाह की दूषित पद्धति का तत्कालीन साहित्य में कोई चिह्न नहीं दृष्टिगोचर होता। युवक-युवतियों को अपना जीवन-संगी चुनने की काफी स्वतंत्रता थी। विवाह पवित्र और स्थायी सम्बन्ध गिना जाता था। एक-पत्नीव्रत उस समय का साधारण नियम था, किन्तु राजकुलों में बहुपत्नीत्व भी प्रचलित था। फिर भी उसे अच्छा नहीं समझा जाता था। परवर्त्ती युगों की भांति उस समय विधवा के लिए सती हो जाने का विधान नहीं था, उसे पुनर्विवाह का अधिकार था और पुनर्विवाह प्रायः देवर से किया जाता था। दहेज की प्रथा भी थी और द्रव्य लेकर लड़की देने की भी। इस युग में स्वयंवर की परिपाटी भी प्रचलित थी।

स्त्रियों की स्थिति

वैदिक समाज में स्त्रियों की स्थिति जितनी ऊंची थी उतनी बाद में कभी नहीं रही। अन्य जातियों के इतिहास में हम जितना पीछे की ओर लौटते हैं, स्त्रियों की स्थिति उतनी ही गिरी हुई दिखाई देती है। यह बड़ी विलक्षण बात है कि भारत में वस्तु-स्थिति सर्वथा विपरीत है। वैदिक युग में स्त्रियां भी पुरुषों की तरह ही ऊँची शिक्षा प्राप्त करती थीं। कुछ महिलाओं ने साहित्य और ज्ञान के क्षेत्र में अत्यन्त प्रतिष्ठा प्राप्त की थी। घोषा, विश्ववारा और लोपामुद्रा को ऋग्वेद के कुछ सूक्तों का ऋषि होने का गौरव प्राप्त है। परिवार में स्त्रियों की बड़ी प्रतिष्ठा थी। विवाह के समय बधू को आशीर्वाद दिया जाता था कि तुम

नये घर की साम्राज्ञी बनो। घरेलू तथा धार्मिक कार्यों में पति और पत्नी का दर्जा बराबर का था। कोई यज्ञ पत्नी के बिना पूर्ण नहीं हो सकता था। धार्मिक कार्य पति-पत्नी मिलकर ही पूरा करते थे। स्त्रियां सामाजिक जीवन में पूरा भाग लेती थीं। उस समय पर्दे की और स्त्रियों को सामाजिक समारोहों से दूर रखने की पद्धति नहीं थी। किन्तु स्त्रियों की इतनी ऊंची स्थिति होते हुए भी इस संघर्ष के युग में पुत्रियों की अपेक्षा पुत्रों की अधिक कामना की जाती थी।

जाति-भेद

उस समय वर्तमान काल का-सा जाति-भेद प्रचलित नहीं था। जाति-भेद की बड़ी विशेषताएं—अपनी जाति में ही विवाह करना तथा भोजन करना ऊंच-नीच और अस्पृश्यता की भावनाए हैं। वैदिक युग के आर्यों में न तो विवाह और भोजन सम्बन्धी बन्धन थे और न ही ऊंच-नीच के भाव। बड़ा भेद आर्य और दास का था। दास आर्यों से बाहर के दूसरे रंग (वर्ण) नस्ल के अनार्य थे। वर्ण वास्तव में आर्य और अनार्य दो ही थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य की सत्ता अवश्य थी, किन्तु वह विभिन्न पेशे वालों की श्रेणियां-मात्र थीं। सामान्य जनता विश: कहलाती थी। योद्धा और रथी क्षत्रिय कहलाते थे और पुरोहित ब्राह्मण। पीछे यज्ञ का क्रिया कलाप बहुत बढ़ जाने से ब्राह्मण श्रेणी का बड़ा विकास हुआ। किन्तु इन सब श्रेणियों में परस्पर खान-पान और वैवाहिक सम्बन्ध होता था। अनेक आधुनिक समाज-शास्त्री यह मानते हैं कि जाति-भेद के मूल तत्त्व आर्यों ने अनार्यों से ग्रहण किये।

खान-पान, वेश-भूषा तथा मनोविनोद

आर्यों का खान-पान बहुत सादा था। उनका प्रधान भोजन घी, दूध, चावल (व्रीहि) और जौ थे। वैदिक साहित्य में मूंग, उड़द आदि अनेक दालों का उल्लेख है। किन्तु नमक का वर्णन नहीं मिलता। यज्ञों में सोमरस के पान की परिपाटी थी। आर्यों का वेश भी बहुत सादा था। शरीर के ऊपरी भाग के लिए एक उत्तरीय और नीचे एक अधोवस्त्र का रिवाज था। उष्णीय या पगड़ी भी बहुत पहनी जाती थी। कपड़े ऊनी या अलसी के

रेशे (क्षुम) के बने हुए होते थे। ब्रह्मचारी कृष्ण मृग की छाल पहनते थे। पुरुष और स्त्री दोनों सोने के हार, कवच, कुण्डल, केयूर, कङ्कण, नूपुर आदि आभूषण धारण करते थे। जरी का काम किये हुए और रंग-बिरंगे वस्त्र भी धारण किए जाते थे। बालों की कंघी और सुगंधित तेलों से शृंगार किया जाता था। स्त्रियां प्रायः वेणी (गुत) धारण करती थीं। कुछ पुरुष जूड़ा बांधते थे। प्राय: दाढ़ी रखी जाती थी लेकिन हजामत का भी थोड़ा-बहुत प्रचलन था।

आर्यों का सबसे अधिक प्रिय मनोविनोद, घुड़दौड़ और रथों की दौड़ था। जुए की बुराई भी प्रचलित थी। जुआ बहेड़े के पासों से खेला जाता था। ऋग्वेद के एक सूक्त (१० । ३४) में जुआरी की दुर्दशा का बहुत सुन्दर वर्णन है। तीसरा मनोविनोद नृत्य था।

स्त्री-पुरुष दोनों इसमें भाग लेते थे। संगीत की भी काफी उन्नति हो चुकी थी। आघात, फूंक और तार से बजने वाले दुंदुभी, शृंग, पणव, तूर्य और वीणा आदि वाद्य होते थे। दुंदुभि का प्रयोग दुश्मनों का दिल दहलाने के लिए होता था। वह आर्यों का मारू बाजा था।

उत्तर वैदिक युग

उत्तर वैदिक युग का महत्त्व

इस युग में वर्णाश्रम-व्यवस्था का विचार परिपक्व हुआ। 'वास्तव में भारतीय संस्कृति और सभ्यता की मूल स्थापना इसी काल में होती है'। भारतीय जाति में उसकी संस्कृति में, विचार और व्यवहार-पद्धति में और दृष्टिकोण में जो विशिष्ट भारतीयता है, वह इसी काल में प्रकट होती है। यों तो भारतीय संस्कृति का मूल प्राग्वैदिक और वैदिक कालों में है। लेकिन उन युगों में वह अभी तरल द्रव के रूप में दीखती है। इस युग में ही उसकी ठोस बुनियाद पड़ती है। उसका व्यक्तित्व मूर्त-रूप धारण करता है। भगवान् गौतम बुद्ध के समय तक भारतीय जाति के जीवन में अनेक प्रथाओं, संस्थाओं,

व्यवस्थाओं, पद्धतियों और परिपाटियों को स्थापित और बद्धमूल हुआ पाते हैं। इन सबमें वर्णाश्रम-पद्धति प्रधान है।

वैदिक युग में दो ही वर्ण थे—आर्य और दास। दासों से घृणा होना स्वाभाविक था। उनसे वैवाहिक सम्बन्ध बुरे समझे जाते थे। यह पहले बतला दिया गया है कि आर्यों में भी काम और पेशे की दृष्टि से कई श्रेणियां बन रही थीं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इसी प्रकार के वर्ग थे। प्रत्येक वर्ग में कुछ ऊँच-नीच भी थी। शासक क्षत्रिय (राजन्य) योद्धाओं और रथियों से ऊँचे थे और रथी पदाति सैनिकों से। ये तीनों वैश्यों से ऊपर थे। यज्ञों का विकास होने से जो पुरोहित श्रेणी बनी, वह अपने ज्ञान, तपस्या और त्याग से और श्रेणियों से ऊँची समझी गई। दास शूद्र वर्ग में डाल दिये गए। उत्तर वैदिक युग के शास्त्रकारों ने पहली बार चारों वर्णों के कर्त्तव्यों का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया और उनके लिए पृथक्-पृथक् नियम बनाये। यह याद रखना चाहिए कि उस समय ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों में खान-पान और शादी-ब्याह के बन्धन कठोर नहीं हुए थे। अपनी-अपनी श्रेणी में रोटी-बेटी का सम्बन्ध हो ऐसी प्रवृत्ति तो स्वाभाविक होती ही है, यह उस समय भी रही होगी। लेकिन उस समय के वर्ण आजकल की तरह जात-पांत के तंग दायरे में न थे। धीरे-धीरे इन बन्धनों में कठोरता आई। कुछ विद्वानों का यह कथन है कि आर्येतर जातियों (विशेषकर प्राग्द्रविड़ और आग्नेय) में इस तरह के खान-पान और शादी-ब्याह के अनेक प्रतिबन्ध थे। उनके सम्पर्क में आने पर आर्यों ने उनके वे प्रतिबन्ध पहले से ही विकसित विभिन्न श्रेणियों पर लागू कर दिये।

वर्ण-व्यवस्था

इसी युग में विभिन्न वर्णों के ऊंचे-नीचे होने तथा शिल्पियों को शूद्रों के समकक्ष मानने की कुप्रथा का श्रीगणेश हुआ। ब्राह्मणों ने अपने ऊँचे होने का दावा किया। पहले यह बताया जा चुका है कि अपने ज्ञान, त्याग और तपस्या के कारण वे कुछ अंशों में इसके अधिकारी भी थे। लेकिन शिल्पकारों को नीच समझने की प्रवृत्ति का प्रारम्भ यहीं से होता है। इसका प्रधान

ऊँच-नीच तथा अस्पृश्यता का विकास

कारण यज्ञों में बढ़ता हुआ पवित्रता का भाव तथा संभवत: अनार्यों द्वारा शिल्पों का ग्रहण किया जाना था। एक ब्राह्मण ग्रन्थ में स्थपति (बढ़ई) का स्पर्श यज्ञ को अपवित्र करने वाला कहा गया है। शूद्रों को भी यज्ञों के अयोग्य समझकर उन्हें अस्पृश्य माना जाने लगा। अग्नि देवता को दी जाने वाली दूध की हवि शूद्र के स्पर्श से अपवित्र समझी जाने लगी। किन्तु फिर भी अभी तक परवर्त्ती युगों की भांति शूद्र की अप्रतिष्ठा नहीं हुई थी। उसकी समृद्धि के लिए प्रार्थनाएं की जाती थीं।

आश्रम व्यवस्था

इस काल में साधारण मनुष्य के जीवन को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास इन चार आश्रमों में बांटा गया था। भारतीय विचारकों का यह मत था कि प्रत्येक व्यक्ति चार प्रकार के ऋण लेकर पैदा होता है—मनुष्यों, देवताओं, ऋषियों और पितरों का। मनुष्यों का ऋण अपने पड़ोसियों की सेवा और आतिथ्य से चुक जाता है, देवताओं का ऋण यज्ञों द्वारा उतारा जा सकता है। पितरों का ऋण सन्तानोत्पादन और ऋषियों के ज्ञान का ऋण अध्ययन और अध्यापन से चुकता है। प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने ऋण उतारे। इसीलिए आश्रमों की व्यवस्था की गई है। पहले आश्रम में मनुष्य ब्रह्मचारी रहते हुए अपना पूर्ण विकास करता था। दूसरे में गृहस्थ होकर पितरों और मनुष्यों का ऋण उतारता था। वानप्रस्थ और संन्यास में वह ऋषियों के ऋणों से मुक्त होता था। वानप्रस्थों के आश्रम परिपक्व अनुभव, स्पष्ट निर्भीक और निष्पक्ष विचारों के केन्द्र होते थे। इन वानप्रस्थियों और संन्यासियों से राष्ट्र को अपरिमित आनन्द पहुँचता था। किसी अन्य देश में इस प्रकार के आदर्श तथा उपयोगी सामाजिक संगठन का विकास नहीं हुआ।

स्त्रियों की स्थिति

वैदिक युग से स्त्रियों की स्थिति में अन्तर आने लगा था। इस युग के अंत तक उनकी अवस्था काफी गिर चुकी थी। इसका बड़ा कारण स्त्रियों को शूद्र के तुल्य समझा जाना था। इस युग में कर्म-काण्ड की जटिलता बढ़ने के कारण अब स्त्रियां पतियों के साथ बैठकर समूची यज्ञ-क्रिया नहीं कर सकती थीं।

उनकी कुछ क्रियाएं पुरोहित करने लगे। पवित्रता के विचार से भी कुछ कट्टरपन्थी ऋतुधर्म के कारण उन्हें अपवित्र मानने लगे थे, इस समय में आर्य अनार्य स्त्रियों से काफी विवाह करने लगे थे, अनार्य स्त्रियां यज्ञ-कार्य को ठीक तरह सम्पादित नहीं कर सकती थीं। शास्त्रकारों ने उनसे यह अधिकार छीनने के लिए उन्हें शूद्र के समान वेदों का अनधिकारी बताया इससे स्त्रियों का वैदिक अध्ययन बन्द हो गया और अध्ययन के अभाव में उनका बाल विवाह भी होने लगा। इस युग में हम सर्व प्रथम गौतम धर्म-सूत्र में यह विचार पाते हैं कि स्त्री का विवाह उसके बचपन में ही (अर्थात् ऋतुमती होने से पहले ही) कर देना चाहिए। पुत्रियों का जन्म इस युग से एक मुसीबत समझा जाने लगा। स्त्रियों से दाय का अधिकार भी छीन लिया गया। फिर भी ये व्यवस्थाएं अभी सर्व मान्य नहीं हुई थीं। मैत्रेयी, गार्गी जैसी कुछ स्त्रियां इस युग में भी ऊँची शिक्षा प्राप्त करती थीं और बड़े-से-बड़े विद्वानों के साथ विवाद करने की योग्यता रखती थीं।

मनोविनोद

इस युग में कई नये मनोविनोदों का विकास हुआ। शैलूषों (नट) ने अभिनय प्रारम्भ किये, वीणा गाथी अनेक वाद्यों के साथ गाथाएं या गीत गाते थे। इस समय के बाजों में सौ तार वाले (शत तन्तु) एक वाद्य का भी उल्लेख है। इस समय की गाथाओं ने बाद में महाकाव्यों का रूप धारण किया।

३—राजनैतिक जीवन

पूर्व वैदिक युग

नियन्त्रित राज सत्ता वरण

वैदिक आर्य जाति कई जन-समूहों में बंटी हुई थी। इन 'जनों' का मुखिया तथा शासक 'राजा' होता था। राजा प्रायः वंशक्रमागत होता था किन्तु उसे स्वेच्छाचार करने का निरंकुश अधिकार नहीं था। वह कुछ शर्तों से नियंत्रित होता था प्रजा राजा का वरण करती थी। वरण का अर्थ यह है कि उत्तराधिकारी के अभाव में वह नया अधिकारी चुनती थी और उत्तराधिकारी को

राजा होने की स्वीकृति देती थी। उस स्वीकृति से ही राजा का अभिषेक होता था और वह राजपद का अधिकारी समझा जाता था। वरण द्वारा प्रजा के साथ राजा का एक प्रकार की प्रतिज्ञा या ठहराव हो जाता था। अभिषेक के समय राजा से यह आशा रखी जाती थी कि वह इस प्रतिज्ञा को पूरा करेगा। यदि वह इस प्रतिज्ञा को तोड़ता था तो प्रजा उसे पद-च्युत और निर्वासित कर देती थी।

प्रजा (विशः) अपने अधिकारों का प्रयोग समिति द्वारा करती थी।

समिति — समिति समूची प्रजा की संस्था होती थी और राज्य की बागडोर उसके हाथ में थी। उसका एक पति या ईशान होता था। राजा भी समिति में जाता था। राजा का चुनाव पद-च्युति, पुनर्वरण आदि राजकीय प्रश्नों का विचार और निर्णय उसके प्रधान कार्य होते थे। उसके सदस्यों के सम्बन्ध में पूर्ण एवं निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इसमें ग्रामणी, सूत, रथकार और कर्मार (लोहे तथा ताम्बे के हथियार बनाने वाले) अवश्य सम्मिलित होते थे। इस प्रकार यह एक प्रतिनिधि संस्था प्रतीत होती है।

समिति के अलावा एक अन्य संस्था सभा होती थी यह समिति से छोटी

सभा — थी तथा राष्ट्र के प्रधान न्यायालय का काम देती थी। प्रत्येक ग्राम की अपनी सभा होती थी इसमें आवश्यक कार्यों के बाद विनोद की बातें भी होती थीं और तब वह गोष्ठी का काम देती थी।

राज्य के मुख्य अधिकारी पुरोहित सेनापति और ग्रामणी (ग्राम का नेता)

अधिकारी तथा रत्नी — थे। राज्याभिषेक के समय ये तथा सूत, रथकार, कर्मार राजा को राज्य का सांकेतिक चिह्न पलाश वृक्ष की डाल—पर्ण (मणि) या रत्न देते थे। अतएव इन्हें रत्नी कहते थे। राजा अभिषेक से पूर्व इनकी पूजा करता था। प्रजा की रक्षा, शत्रुओं से लड़ना, शान्ति के समय यज्ञ आदि करना राजा के मुख्य

कर्त्तव्य थे। राजा अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हुए प्रजा से बलि या भाग (कर) लेने का अधिकारी था।

गण-तन्त्र

कुछ राज्यों में राजा नहीं होता था, समिति ही देश का शासन करती थी। इस प्रकार के राज्य अराजक जन कहलाते थे। यादवों का वैतहव्य या वीतिहोत्र इसी प्रकार का राज्य था।

उत्तर वैदिक युग

राजाओं की शक्ति में वृद्धि

इस युग में पुराने राजा नये-नये प्रदेशों की विजय से अपना राज्य विस्रात कर रहे थे तथा अपनी शक्ति बढ़ा रहे थे। इस समय राजाओं में सार्वभौम होने अथवा समुद्र पर्यन्त पृथवी का एक राष्ट्र होने की होड़ लग रही थी। सभी 'पारमेष्ठ्य, माहाराज्य आधिपत्य के लिए लालायित थे' प्राची में मगध, विदेह कलिंग के राजा सम्राट् की पदवी धारण करते थे। इसी युग में राजा राजसूय, अश्वमेध और वाजपेय आदि यज्ञ करने लगे थे।

राजा का नियन्त्रण

किन्तु शक्ति बढ़ जाने पर भी राजा पूर्ण रूप से निरंकुश नहीं हो पाये थे। राज्याभिषेक के समय उन्हें गद्दी से उतर कर ब्राह्मणों को प्रणाम करना पड़ता था तथा उनके रक्षण की प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी। उसके अधीनस्थ अधिकारी सूत और ग्रामणी इतने अधिक महत्वपूर्ण थे कि उन्हें 'राजा को बनाने वाला (राजकृत:) कहा जाता था। राजा के नियमन के लिए सभा और समिति नामक संस्थाएं इस युग में भी थीं राजा की समृद्धि के लिए राजा और समिति का सांमजस्य (एकता) आवश्यक समझा जाता था। अत्याचारी राजाओं को जनता के कोप का शिकार होना पड़ता था।'

शासन-प्रणाली

इस युग में शासन-प्रणाली भी सामाजिक संस्थाओं की भांति स्थिर आकार धारण कर रही थीं। इस समय राजा समेत १२ रत्नी या राज्याधिकारी होते थे—[१] सेनानी, [२] पुरोहित, [३] राजा [४] महिषी-(पटरानी), [५] सूत (राज्य का वृत्तान्त

रखने वाला) [६] ग्रामणी (गांव का, राजधानी का या राज्य के गाँवों का नेता), [७] क्षत्ता (राजकीय कुटुम्ब का निरीक्षक), [८] संग्रहीता (कोषाध्यक्ष)' [९] भागदुघ (कर एकत्र करने वाला मुख्य अधिकारी, [१०] अक्षावाय (हिसाब रखने वाला मुख्य अधिकारी), (११) गोविकर्त्ता जंगलात का निरीक्षक) (१२) पालागल (संदेशहर) । इसी समय से नियमित शासन-तन्त्र शुरू हुआ । सौ गाँवों का अफसर पति और सीमान्त का शासक स्थापति कहलाता था ।

पुलिस के अधिकारियों को इस समय उग्र या जीवग्रभ कहते थे । राजा का कार्य पूर्ववत् विदेशी शत्रुओं से रक्षा करना और शासन और न्याय का प्रबन्ध करना था । न्याय कार्य 'अध्यक्ष' तथा पूर्व वैदिक काल की सभाएं करती थीं । गाँवों के छोटे मामलों का फैसला गाँव की सभा और 'ग्राम्यवादी' (गाँव का जज) करता था ।

इस युग में पश्चिम के सुराष्ट्र कच्छ और सौवीर (आधुनिक सिन्ध) तथा हिमालय के उत्तर कुरुओं में गणतन्त्र व्यवस्था प्रचलित थी । पश्चिमी राज्यों की व्यवस्था का नाम था स्वराज्य । उत्तरी प्रदेश में वैराज्य (राजा-विहीन राज्य) शासन-प्रणाली थी ।

गणतन्त्र

४—आर्थिक जीवन

पूर्व वैदिक युग

आर्यों की प्रधान आजीविका पशु-पालन थी । पशुओं में गोपालन पर सबसे अधिक बल था । वैदिक प्रार्थनाओं में गोधन को सबसे अधिक मांगा गया है । गौओं को दिन में तीन बार दुहा जाता था । बैल खेती और गाड़ी खींचने में प्रयुक्त होते थे । घोड़े लड़ाई तथा रथों की दौड़ के लिए पाले जाते थे । अन्य पालतू पशु भेड़ बकरी और कुत्ते थे । कुत्ते पशुओं की रखवाली और शिकार के लिए रखे जाते थे । बिल्ली को उस समय तक नहीं पाला गया था ।

दूसरी प्रधान आजीविका कृषि थी। कृषि केवल वर्षा पर निर्भर नहीं थी नहरों (कुल्माओं) द्वारा भी सिंचाई होती थी। प्रधान रूप से यव की फसलें बोई जाती थीं। मृगया तीसरी आजीविका थी। तीर-कमान, पाश से और गढ़े खोदकर शिकार किया जाता था। शेर और हिरन का आखेट प्रायः होता था।

शिल्प

इस युग में शिल्प की पर्याप्त उन्नति हुई थी। प्रधान शिल्प रथकार या बढ़ई का था। वह युद्ध के लिए रथ और कृषि के लिए हल और गाड़ियां बनाता था। दूसरा काम धातु का काम करने वाले कर्मार (लुहार) का था। वह अयस् के बरतन बनाता था अयस् को कुछ विद्वान् तांबा समझते हैं और कुछ लोहा या कांसा। इसके अतिरिक्त चमड़ा कमाने का शिल्प भी प्रचलित था। स्त्रियां चटाई की बुनाई का तथा कताई का काम करती थीं। यह बात ध्यान देने योग्य है कि पिछले काल में शिल्प करने वालों को जैसे नीच समझा गया, वैसी स्थिति वैदिक युग में नहीं थी। सब पेशे सम्मान्य समझे जाते थे और यह पहले बतलाया जा चुका है कि रथकार और कर्मार राजा के अधिकारियों में समझे जाते थे।

सम्पत्ति तथा विनियम

आर्यों की अचल सम्पत्ति भूमि और चल सम्पत्ति प्रधान रूप से पशु थे। ज़मीन खरीदने बेचने की था नहीं प्रथा, उसकी आवश्यकता भी नहीं थी, जंगल साफ कर नई ज़मीन बनाई जा सकती थी, लेकिन, अचल सम्पत्ति का लेन-देन काफी था। मुद्रा का प्रचलन नहीं के बराबर था वस्तु विनमय ही चलता था। भाव-ताव में काफी हुज्जत होती थी विनिमय में गाय सिक्के का काम देती थीं। निष्क नाम का सोने का सिक्का चलता था, पहले यह आभूषण-मात्र था उस समय भी ऋण लेने-देने का रिवाज था। जुए में हारना प्रायः ऋण का कारण होता था। ऋण न चुकने से दास बनना पड़ता था।

व्यापार

वैदिक आर्य गाँवों में रहते थे इन में व्यापार का विशेष विकास नहीं हुआ था। पणि नामक व्यापारी जाति का उल्लेख अवश्य मिलता है, लेकिन वे अनार्य या असुर होते थे नदियां पार करने के लिए नौकाएं खूब चलती थीं लेकिन समुद्र में आने-जाने वाली नौकाएं

थीं या नहीं इस बारे में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। वेद में सिन्धु और समुद्र शब्द का प्रयोग है, लेकिन वेदों में पतवार, पाल और लंगर और मस्तूल का वर्णन न होने से कुछ विद्वान् सिन्धु का अर्थ बड़ी नदी करते हैं। दूसरी ओर अन्य विचारकों की यह धारणा है कि भारतीय व्यापारियों की नौकाएं तट के साथ-साथ ईरान की खाड़ी तक जाती थीं दूसरे मत में अधिक सचाई मालूम पड़ती है।

उत्तर वैदिक युग

इस समय कृषि प्रधान आजीविका बन चुकी थी। एक हल में २४ बैल तक जोड़े जाने लगे थे। खाद का खूब प्रयोग होने लगा था। किन्तु प्राकृतिक विपत्तियों से दुर्भिक्ष भी पड़ते थे। टिड्डी-दल द्वारा जनित एक ऐसे ही अकाल का संकेत उपनिषदों में है। व्यापार बढ़ रहा था शतपथ ब्राह्मण की जल-प्रलय की कथा के आधार पर कुछ विद्वानों ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि उन दिनों भारत और बिबेलोनिया का सम्बन्ध था। निष्क के अतिरिक्त शतमान और कृष्कल के सिक्के भी चलने लगे थे। व्यापारियों ने गणों के रूप में अपने संगठन बनाने शुरू कर दिए थे। उद्योग-धन्धों में श्रम-विभाजन बढ़ रहा था। अनेक नये धन्धे निकल रहे थे। यजुर्वेद में विभिन्न पेशों की विस्तृत गणना है। इसी समय से नाई और ज्योतिषी के पेशे शुरू होते हैं। स्त्रियां वस्त्रों की रंगाई और कढ़ाई के द्वारा आर्थिक जीवन में भाग ले रही थीं।

वैदिक संस्कृति की विशेषताएं

भारतीय संस्कृति के निर्माण में वैदिक आर्यों ने सबसे अधिक भाग लिया, अतः यहाँ हमें स्पष्ट रूप से यह जान लेना चाहिए कि इसमें उनकी विशेष देनें क्या थीं। इनकी निम्न विशेषताएं उल्लेखनीय हैं—(१) सहिष्णुता और सामंजस्य का भाव (२) ओजस्विता (३) ज्ञान-विज्ञान का विकास (४) तपोवन-पद्धति (५) वर्णाश्रम-व्यवस्था (६) नारियों की प्रतिष्ठा। अन्तिम दो पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है। अतः यहां पहली चार का ही प्रतिपादन किया जायगा।

(१) सहिष्णुता का भाव

आर्य इस देश के विजेता थे किन्तु उन्होंने आस्ट्रेलिया, उत्तरी तथा मध्य अमरीका के योरोपियन आवासकों की तरह पुरानी जातियों का संहार नहीं किया किन्तु इङ्गलैंड पर हमला करने वाले एंग्लो सैक्सन लोगों की भांति वे यहां की मूल जातियों से घुल-मिल गए। दोनों के धर्म में एक सुन्दर सम्मिश्रण हुआ। आर्यों ने यद्यपि अनार्य देवता और पूजा पद्धतियां स्वीकार थीं किन्तु उनका परिष्कार कर दिया। ब्राह्मण ग्रन्थों में जो जटिल कर्मकाण्ड है, कीथ प्रभृति योरोपियन विद्वान् उसका मूल लोक-प्रचलित-विधि-विधान समझते हैं। उदाहरणार्थ—आर्यों के मूल धर्म में पशु-बलि की क्रूर प्रथा नहीं थीं, यज्ञों में इसे स्वीकार किया गया। शिव, रावण आदि अनार्यों द्वारा पूजा जाने वाला देवता हिन्दू धर्म में महादेव माना गया। नागों को हिन्दू धर्म में ऊंचा स्थान इसी सहिष्णुता से मिला। जंगली जातियां जिन पत्थरों को पूजती थीं, वे शालिग्राम और शिवलिंग बने। प्रारम्भिक आर्य मूर्ति बनाकर या देवता के किसी प्रतीक पर फूल पत्ते चन्दन, सिन्दूर इत्यादि चढ़ाना, फल-मूल आदि के नैवेद्य अथवा बलि किये पशुओं का रक्त अर्पण करना नहीं जानते थे। आर्यों ने अपनी सहिष्णुता और उदारता से उन सभी लोक प्रचलित विश्वासों और पूजा-पद्धतियों को ग्रहण कर उन्हें परिमार्जित किया, इनके समर्थन के लिए नये कथानक और आलंकारिक व्याख्याएं गढ़ी।

(२) प्रगतिशीलता

समूचा वैदिक साहित्य प्रगतिशीलता के ओजस्वी विचारों से ओत-प्रोत है। उसमें पौरुष, शौर्य, पराक्रम और प्रबल आशावाद के स्फूर्तिदायक विचारों का प्राधान्य है। शत्रुओं का दमन तथा बाधाओं का पद-दलन करते हुए जीवन में सदैव विजय पाना आर्यों का प्रधान लक्ष्य था। उनके जीवन का मूल मन्त्र था—'बढ़े चलो, बढ़े चलो (चरैवेति, चरैवेति)। ऐतरेय ब्राह्मण में इन्द्र न रोहित को इसका उपदेश करते हुए जो सन्देश दिया है। विश्व के वाङ्मय में उससे अधिक ऊर्जस्वल संदेश कहीं नहीं मिलता। 'जो परिश्रम से थककर चकनाचूर नहीं होता, उसे लक्ष्मी नहीं मिलती।' भाग्य के भरोसे बैठने का

कोई लाभ नहीं । 'जो बैठा रहता है, उसका भाग्य भी बैठ जाता है, जो उठ खड़ा होता है । उसका भाग्य भी उठ खड़ा होता है । जो अग्रसर होता है, उसका भाग्य भी आगे बढ़ता है । इसलिए आगे बढ़ो, आगे बढ़ो । अपनी निष्क्रियता या असफलता के लिए कलि-युग को दोष देना व्यर्थ है क्यों कि 'सो रहने को, ही कलियुग कहते हैं और निरन्तर अग्रसर होने को सत्ययुग । भगवान् आगे बढ़ने वाले का साथ देते हैं । आगे बढ़ने से मधु और स्वादुफल मिलता है । सूर्य की श्रेष्ठता और प्रतिष्ठा इसी लिए है कि वह चलने में आलस्य नहीं करता । अतः 'आगे बढ़ो, आगे बढ़ो' । प्रगतिशीलता की यह भावना आर्यों के समूचे जीवन में ओत-प्रोत थी । इसी से उनका तथा उनकी संस्कृति का भारत में और भारत से बाहर के देशों में प्रसार हुआ और उन्होंने ज्ञान-विज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में विलक्षण उन्नति की ।

(३) आर्यों की तीसरी विशेषता ज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में अन्वेषण, विवे-चन और उसे व्यवस्थित या क्रमबद्ध रूप देने की पद्धति थी । व्यवस्थित ज्ञान ही विज्ञान कहलाता है । उन्होंने दुनिया में सर्व प्रथम उच्चारण, भाषा और व्याकरण शास्त्र के नियमों का विवेचन किया, सूत्र शैली में विभिन्न विज्ञानों को उन्होंने बड़ी व्यवस्था से प्रतिपादित किया । इसका सर्वोत्तम उदाहरण पाणिनि की अष्टाध्यायी है । दर्शन, आयुर्वेद, राजनीति, छन्द, ज्योतिष आदि सभी शस्त्रों पर उन्होंने इस प्रकार के ग्रन्थ लिखे ।

(२) तपोवन पद्धति

उत्तर वैदिक युग में इस पद्धति का विशेष रूप से विकास हुआ, रामायण, महाभारत में इसका काफी वर्णन पाया जाता है । भारतीय संस्कृति के प्रसार तथा ज्ञान-विज्ञान के विकास में इसने बड़ा भाग लिया । पुराणों में ऋषि-मुनियों के जंगलों में जाकर तपस्या करने तथा अलौकिक फल ाने की अनेक कथाएं हैं । आज कल तपस्या का अर्थ आत्म-पीडन या शारीरिक यातना समझा जाता है । किन्तु प्राचीन काल में विक्षेपकारी प्रलोभनों और सुखों को तिलाञ्जलि देकर किसी ऊँचे आदर्श या उद्देश्य के लिए अनन्य निष्ठा और एकाग्रता के साथ

उग्र परिश्रम करना ही तपस्या कहलाती थी। भागीरथ ने गंगा की धारा नियन्त्रित करने के लिए जो अनथक और उग्र परिश्रम किया, वह आजतक प्रसिद्ध है। प्राचीन ऋषियों के जंगलों में जाकर तपस्या करने का अर्थ यही प्रतीत होता है कि वे उन जंगलों में ज्ञान के केन्द्र स्थापित कर अज्ञानान्धकार का नाश करें, जंगली जातियों को सभ्यता का पाठ पढ़ाएं, उन्हें उच्चतर नैतिकता और धर्म की दीक्षा दें। आर्यों के आगमन से पहले सारा दक्षिण भारत राक्षस आदि अनार्य जातियों से आवासित था। महर्षि अगस्त्य सबसे पहले इस प्रदेश में गये और उन्होंने वहाँ तपोवन स्थापित कर ज्ञान का आलोक फैलाना शुरू किया उनके अतिरिक्त वहां सुतीक्ष्ण, शरभंग आदि के आश्रम भी अपने पड़ौस की जंगली जातियों को सभ्य बना रहे थे।

आश्रमों का दूसरा कार्य ज्ञान का विकास, प्रचार और उन्नति थी। ऋषि तपोवनों के सुरम्य एकान्त में पारलौकिक और आध्यात्मिक समस्याओं पर विचार किया करते थे। श्रद्धालु जिज्ञासु दूर-दूर से उनके चरणों में बैठकर ज्ञान प्राप्त करने आते थे। उस समय के सबसे बड़े विश्वविद्यालय यही थे। इन्हीं में अरण्यक ग्रन्थों तथा उपनिषदों का निर्माण हुआ। दार्शनिक विचार की ऊँची-से-ऊँची उड़ाने ली गईं। इन्हीं में आचार-शास्त्र, और धर्म की गहन ग्रन्थियां सुलझाई गईं। तपोवन प्राचीन हिन्दू संस्कृति का एक प्रधान मूल स्रोत थे। हमारे वाङ्मय के एक बड़े भाग का निर्माण इन्ही में हुआ, रामायण, महाभारत, धर्मसूत्र, स्मृतियां इन्हीं के शान्त वातावरण में लिखी गईं।

तीसरा अध्याय

रामायण और महाभारत तथा तत्कालीन भारत

रामायण और महाभारत हमारे जातीय महाकाव्य हैं। इनमें वर्णित धर्म, आचार-व्यवहार के नियम संस्थाएं, व्यवस्थाएं और प्रथाएं हजारों वर्ष बीत जाने पर आज भी हमें प्रेरणा दे रही हैं और हजारों जाति के जीवन के निर्माण में प्रमुख भाग ले रही हैं। भारतीय जीवन की वास्तविक आधार-शिला यही है। रामायण की तो रचना महर्षि वाल्मीकि ने लोगों को मानव जीवन का सर्वोच्च आदर्श बताने के लिए की थी। रामायण और महाभारत का राजमहल से लेकर कुटिया तक सर्वत्र प्रसार है। हजारों वर्षों से भारत-वर्ष के गाँव-गाँव और घर-घर में प्रतिदिन इनकी कथा होती चली आ रही है। इनसे भारत की आबाल-वृद्ध वनिता जनता ने केवल आनन्द ही नहीं पाया, अपितु शिक्षा भी ग्रहण की है। वह इन्हें हृदय में ही नहीं रखती अपितु शिरोधार्य भी करती है। ये उसके लिए काव्य ही नहीं धर्म शास्त्र भी हैं। ये हमारे धर्म का प्रधान मूलस्रोत, सामाजिक आचार का मेरुदण्ड और संस्कृति का प्राण हैं। यहां पहले दोनों के काल तथा महत्त्व का उल्लेख कर अन्त में इनसे सूचित होने वाली तत्कालीन संस्कृति पर विचार किया जायगा।

रामायण का रचना-काल

रामायण का रचना-काल ४०० ई० पू० से पहले का है। रामायण की घटना निःसन्देह बहुत पुरानी है। किन्तु उसके वर्तमान रूप का अधिकांश भाग ६ शती ई० पू० में लिखा गया प्रतीत होता है क्योंकि इस शती में भगवान् बुद्ध के प्रादुर्भाव के समय हम पहली बार श्रावस्ती, पाटलिपुत्र और उत्तरी बिहार में वैशाली राज्य का उल्लेख पाते हैं। बुद्ध के समय रामायण की अयोध्या का स्थान श्रावस्ती ले चुकी थी और जनकपुरी मिथिला के महत्त्व का भी अन्त हो चुका था। इसी प्रकार रामायण पर बौद्ध धर्म का भी कोई प्रभाव नहीं है। किन्तु,

बौद्ध जातकों में रामायण की कथा है। अतः इसमें कोई सन्देह नहीं रहता कि उसकी रचना बौद्ध साहित्य से पहले हुई है। किन्तु इसमें पीछे तक काफी प्रक्षेप होते रहे और ऐसा प्रतीत होता है कि ईसा की पहली शती तक इसका वर्त्तमान रूप पूर्ण हो चुका था।

महाभारत के विकास में रामायण से भी अधिक समय लगा। उसकी मूल कथा तो ब्राह्मण-ग्रन्थों के समय (१००० ई० पू०) में अवश्य प्रचलित थी, क्योंकि ब्राह्मणों में कुरुक्षेत्र परीक्षित, भरत और धृतराष्ट्र का उल्लेख है। उसके बाद अनेक शतियों तक महाभारत की कथा 'सूतों' (चारणों) की रसना पर फूलती-फलती रही। उसमें अनेक परिवर्धन होते रहे। ५० ई० तक (कुछ विद्वानों की सम्मति ५०० ई० तक) इसका वर्तमान बृहत्स्वरूप पूरा हो चुका था। इसका अन्तिम संस्करण २०० ई० पू० में सातवाहन युग में हुआ। स्वयं महाभारत में इसके क्रमिक विकास का स्पष्ट उल्लेख है। "व्यास ने तीन वष तक लगातार परिश्रम कर इसकी रचना की उन्होंने इसे अपने शिष्य वैशम्यायन को सुनाया। वैशम्पायन ने अर्जुन के प्रपौत्र जनमेजय को तथा तीसरी बार लोम हर्षन के पुत्र सौति ने यह कथा शौनक आदि ऋषियों को सुनाई। व्यास के ग्रन्थ का नाम 'जय' था। इसके श्लोकों की संख्या ८८०० थी, वैशम्पायन ने इसे बढ़ा कर २४००० श्लोकों का 'भारत' बनाया। और सौति ने भारत में और भी आख्यान, उपाख्यान जोड़कर, 'हरिवंश' नामक परिशिष्ट के साथ उसे एक लाख श्लोकों का 'महाभारत' बना डाला।

महाभारत का रचना-काल

भारतीय संस्कृति में रामायण का विशेष महत्त्व इस बात में है कि उसने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में, विशेषतः गृहस्थ धर्म के जितने उज्ज्वल और विविध प्रकार के आदर्श लोकप्रिय और मनोरंजक ढंग से प्रस्तुत किये हैं, उतने अन्य किसी ग्रन्थ ने नहीं किये। यह इनका विशाल भंडार है। आदर्श पिता, आदर्श माता, आदर्श पति, आदर्श पत्नी, आदर्श राजा, आदर्श प्रजा, आदर्श धर्मात्मा—सारांश यह कि सब प्रकार के आदर्श इसमें

रामायण का महत्त्व

हैं। सदियों से ये आदर्श हमारे वैयक्तिक और राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण करते रहे हैं, हमारे देश की सांस्कृतिक एकता का एक बड़ा कारण यही आदर्श है। वाल्मीकि का उद्देश्य ही मर्यादा पुरुषोत्तम राम का चित्रण करना है। रामायण के अन्य चरित्र तो प्रधान रूप से एक आदर्श का चित्रण करते हैं किन्तु राम अनेक आदर्शों का पुंज है। वे पिता की आज्ञा शिरोधार्य कर वन जाने वाले आदर्श पुत्र, भाई के लिए गद्दी छोड़ने वाले आदर्श भाई, सीता का रावण से उद्धार करने वाले आदर्श पति हैं और अपनी प्राणाधिक प्रियतमा को लोकानुरञ्जन के लिए परित्याग कर देने वाले आदर्श राजा हैं। रामराज्य आज तक आदर्श राज्य माना जाता है। सीता भारतीय नारीत्व की साक्षात् प्रतिनिधि है। ललनाएं हजारों वर्षों से उनके उदारा उदाहरण का अनुसरण करती आ रही है। कौशल्या-जैसी माता और भरत और लक्ष्मण-जैसे भाई सदैव हिन्दू समाज में अनुकरणीय माने जाते रहे हैं।

महाभारत की महिमा

महाभारत केवल कौरव-पाण्डवों के संघर्ष की कथा ही नहीं किन्तु भारतीय संस्कृति और हिन्दू धर्म के सर्वाङ्गीण विकास का प्रदर्शक एक विशाल विश्व-कोष है। इस में उस समय के धार्मिक, नैतिक, दार्शनिक और ऐतिहासिक आदर्शों का अमूल्य और अक्षय संग्रह है। महाभारत की इस युक्ति में लेश-मात्र सन्देह नहीं कि वह सर्वप्रधान काव्य सब दर्शनों का सार, स्मृति, इतिहास और चरित्र-चित्रण की खान तथा पञ्चम वेद है। मानव जीवन का कोई ऐसा पहलू या समस्या नहीं जिस पर इस में विस्तार से विचार न किया गया हो। शान्तिपर्व और अनुशासन पर्व तो इसी दृष्टि से लिखे गए हैं। इसीलिए महाभारत का यह दावा सर्वथा सत्य है कि 'धर्म, अर्थ काम और मोक्ष के विषय में जो इसमें कहा गया है वही अन्यत्र है, जो इसमें नहीं है वह कहीं नहीं है (यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित् ऋग्वेद के बाद यह सस्कृत साहित्य का सबसे देदीप्यमान रत्न है। विस्तार में कोई काव्य इसकी समता नहीं कर सकता। यूनानियों का इलियड और ओडेसी, मिला

कर इसका आठवाँ हिस्सा है। इसका सांस्कृतिक महत्त्व इसी तथ्य से स्पष्ट है कि हिन्दू धर्म का सबसे प्रसिद्ध 'भगवद्गीता, इसी का अंश है। भारत या भारत से बाहर जहाँ कहीं भी हिन्दू संस्कृति का प्रसार हुआ रामायण के साथ-साथ वहां महाभारत का भी प्रचार हुआ। दूसरी शती ई० पू० में यूनानी राजदूत इसके उपदेशों को उद्धृत करते हैं। और छटी शती ई० में सुदूर कम्बोडिया के मन्दिरों में इसका पाठ होने लगता है, सातवीं शती में मंगोलिया के तुर्क अपनी भाषा में हिडम्बा वध आदि उपाख्यानों का आनन्द लेने लगते हैं, १० वीं शती में जावा की लोक-भाषा में इसका अनुवाद हो जाता है।

दोनों महा काव्यों का काल एक न होने पर भी ये प्रधान रूप में से प्राग्बुद्ध कालीन संस्कृति के उस काल पर प्रकाश डालते हैं जब हिन्दू धर्म और समाज का रूप काफी सुस्थिर हो चुका था। इनमें भारतीय संस्कृति के सब प्रधान विचार वर्णाश्रम— व्यवस्था जन्मान्तर वाद, आत्मा की अमरता, कर्म उदारता और सहिष्णुता मिलते हैं। यद्यपि रामायण अपेक्षा कृत पहले काल की दशा का दिग्दर्शन कराती हैं किन्तु दोनों मोटे तौर से उत्तर वैदिक युग के अन्तिम भाग की भारतीय संस्कृति के परिचायक हैं।

धार्मिक दशा

वैदिक युग से महाकाव्य युग के धर्म में बड़ा अन्तर आ गया था। पहले युग की प्राकृतिक शक्तियों के सूचक इन्द्र, वरुण, उषा आदि देवताओं का स्थान अब स्कन्द, विशाख और वैश्रवण-जैसे देवता लेने लगे। त्रिमूर्त्ति का उत्कर्ष हुआ। वैदिक काल में प्राकृतिक शक्तियां देवता बनती थीं अब वीर पुरुष इस पद को पाने लगे। श्रीराम रामायण के मूल अंश में मनुष्य हैं, किन्तु बाद के अंशों में विष्णु का अवतार बन जाते हैं। इस समय शास्त्रकारों ने नये देवी-देवता ग्रहण करने का एक सुन्दर उपाय खोज निकाला था। जिस तरह वैदिक युग में सब देवता एक भगवान् की विभिन्न शक्तियों के सूचक थे उसी प्रकार वे अब भगवान् की तीन मुख्य उत्पादक, धारक और संहारक शक्तियों

नये देवता

के प्रतीक ब्रह्मा, विष्णु, महेश के विविध रूप बने विभिन्न सम्प्रदायों की धार्मिक कट्टरता का हल इसी उपाय ने किया। इस युग में विष्णु के भक्त भागवतों या पांच रात्रों तथा शिव के उपासक पाशुपतों का प्राधान्य था। सूर्य का उपासक सौर सम्प्रदाय भी प्रबल हो रहा था। इनके पारस्परिक विरोध से आर्य जाति की एकता के विघटन की सम्भावना थी। इस संकट के निवारण के लिए यह कल्पना की गई कि भागवतों के उपास्य देवता विष्णु ही पाशुपतों के आराध्य देव शिव हैं। (म० भा० ३।३६।७६प्र०)। महाभारत के एक ही पर्व में शिव और विष्णु की सहस्र नाम से स्तुति है।

भक्ति की प्रधानता

इस युग की दूसरी विशेषता भक्ति की प्रधानता है। वैदिक युग में कर्म काण्ड पर अधिक बल था, उपनिषदों ने ज्ञान को प्रधान बतलाया, किन्तु अब भक्ति की महिमा बढ़ने लगी। भक्ति द्वारा भगवान् की आराधना कर उसे प्रसन्न किया जा सकता था। इस आन्दोलन के नेता श्रीकृष्ण थे। पहले यह बतलाया जा चुका है कि घोर आंगिरस ने श्रीकृष्ण को नये प्रकार के यज्ञ का उपदेश दिया था। महाभारत के समय महापुरुषों को देवता बनाने की जो प्रवृत्ति थी उसी ने कृष्ण को भी भगवान् बना दिया। बाद में उन्हीं की भक्ति पर बल दिया जाने लगा।

आत्म यज्ञ

पशु यज्ञ के स्थान पर महाभारत में मुक्ति पाने के लिए आत्म यज्ञ, आत्म-संयम और चरित्र-शुद्धि पर बल दिया गया है। रामायण के समय तक यज्ञों की काफी महत्ता थी। महाभारत के समय भी वे सर्वथा लुप्त नहीं हुए थे। फिर भी विचारक लोगों ने स्पष्ट रूप से यह कहना शुरू किया कि उन क्रूरतापूर्ण यज्ञों को करने का क्या लाभ, जिनसे स्वर्ग आदि क्षणिक फल प्राप्त होते हैं। सच्चा यज्ञ तो सत्य, अहिंसा, तृष्णा, क्रोध का परित्याग, संयम, वैराग्य और त्याग है। इनकी साधना करने वाला वह फल प्राप्त करता है जो हजारों यज्ञों से भी नहीं प्राप्त हो सकता। आचार-शुद्धि सबसे बड़ा धर्म है।

गीता का मध्य मार्ग

इस युग में भारतीय धर्म का सर्वोत्कृष्ट रूप हमें भगवद्गीता में मिलता है। यह इतना महान् है कि इसमें सब अवस्थाओं, सब धर्मों, सब वर्णों और जातियों को अपने-अपने विश्वासों के अनुसार मोक्ष पाने की स्वतन्त्रता है। गीता से पूर्व कर्मकाण्डी यज्ञों पर बल दे रहे थे, तपस्वी तप को महत्त्वपूर्ण समझते थे। पिछले वर्ग के मत में दुनिया से मुक्ति तब तक नहीं हो सकती थी जब तक कि दुनिया से भागकर योगाभ्यास न किया जाय। किन्तु, श्रीकृष्ण ने मध्यम मार्ग का उपदेश दिया। योग की सिद्धि न तो कृच्छ्रतप से और न ही भोग-विलास से होती है—'जिसका आहार-विहार, चेष्टाएं, निद्रा और जागरण सुनियंत्रित है उसी का योग दुःख दूर करने वाला है' (६।१७), श्रीकृष्ण अन्य योगियों की तरह इन्द्रियों के व्यापार और कामवृत्ति के दमन पर अत्यधिक बल नहीं देते थे। उनका तो कहना ही यही था कि मैं 'धर्माविरोधी काम हूं।' वे योग के लिए निष्क्रिय और संन्यासियों का-सा जीवन नहीं पसन्द करते थे। उनका मन्तव्य तो यह था कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्त्तव्य का पूरा पालन करना चाहिए। इसी से उसे मुक्ति और ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होगी। महाभारत में कई उदाहरणों द्वारा इस सिद्धान्त की पुष्टि भी की गई है। वन पर्व में मांस बेचने वाले व्याध ने ब्राह्मण को तत्त्व ज्ञान दिया है (अध्याय २०६-२२४)। इसी प्रकार शान्ति पर्व में जाजलि नामक बनिये ने तपस्वी ब्राह्मण को यह बतलाया कि उसने कभी डंडी नहीं मारी, इसीलिए उसे ब्रह्म ज्ञान मिला है (अ० २६०—२६३)। गीता की प्रधान शिक्षा फल की आशा छोड़, निष्काम बुद्धि से अपना कर्त्तव्य-पालन करने की है।

सार्वभौम धर्म

गीता ने न केवल स्वधर्म-पालन पर बल दिया अपितु उसके साथ ही उसने मोक्ष का द्वार सारे समाज के लिए खोल दिया। गीता से पहले मुक्ति के दो ही साधन थे—यज्ञ और ज्ञान। दोनों का वेदों में प्रतिपादन होने से उनका अधिकार केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य को ही था। (वे० सू० १।३। ३४।३८) गीता ने पहली

बार स्त्रियों तथा नीच जातियों को भी उत्तम गति पाने का अधिकार दिया ६।३२)। भगवद्गीता द्वारा स्त्री, वैश्य, शूद्र और अन्त्यज आदि नीच देशों, नीच वंशों में उत्पन्न सभी मोक्ष के अधिकारी समझे गए। श्रीकृष्ण ने इस क्षेत्र में स्त्री-पुरुष, आर्य-अनार्य सभी प्रकार का भेद मिटा दिया। गीता में इसे राजगुरु अर्थात् सबसे श्रेष्ठ ज्ञान कहा गया है। इसके साथ ही श्रीकृष्ण ने पूजा-विधियों की विविधता को भी स्वीकार किया। यह आवश्यक नहीं कि किसी एक निश्चित रूप में ही भगवान् की उपासना की जाय। जो लोग श्री कृष्ण की उपासना करते हैं वे तो मोक्ष के अधिकारी होते ही हैं किन्तु श्रीकृष्ण के मतानुसार जो किसी भी अन्य देवता का श्रद्धा पूर्वक स्मरण करते हैं वे भी भगवान् की ही भक्ति करते हैं (गी० ६।२३)। वे पत्र-पुष्प जो कुछ भी लाते हैं भगवान् उसे स्वीकार करते हैं। इस प्रकार गीता के सार्वभौम धर्म में किसी प्रकार के देवता या पूजा-पद्धति का नियम नहीं। वह जाति, देश और सम्प्रदाय सभी के बन्धनों से ऊपर उठा हुआ है। श्रीकृष्ण ही संभवत संसार में सार्वभौम धर्म के पहले प्रचारक थे।

धर्म का पालन

गीता तथा महाभारत ने इस बात पर बल दिया कि मनुष्य का मुख्य कर्त्तव्य धर्म का पालन है। धर्म का मतलब पूजा ही नहीं बल्कि, ईमानदारी से और नैतिकतापूर्वक जीवन-यापन करना ही था। भारतीय दृष्टि से आचार-शुद्धि और धर्म पर्याय हैं। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि धर्म कपालना किसी खास लाभ के उद्देश्य से नहीं होना चाहिए। उस का पालन धर्म के लिए ही होना चाहिए। युधिष्ठिर ने बनिपेपन की भावना से धर्म-पालन करने वालों की घोर निन्दा की है। धर्म के मार्ग पर चलते हुए बड़े कष्ट उठाने पड़ते हैं। रामायण और महाभारत में सब से अधिक कष्ट धर्मात्माओं श्री राम और युधिष्ठर को उठाने पड़े। फिर भी वे अपने मार्ग से विचलित नहीं हुए। दोनों महाकाव्यों की एक प्रधान शिक्षा यह है कि कठोर-से-कठोर संकट और विपत्ति में भी हमें अपने धर्म और कर्त्तव्य का त्याग नहीं करना चाहिए।

इस समय तक छहों भारतीय दर्शनों के मूल विचारों का विकास हो चुका था। किन्तु अभी उसमें क्रमबद्धता और सुस्थिरता नहीं आई थी। इस समय तक वे निर्माणावस्था में थे, उन्होंने पृथक् सम्प्रदायों का रूप धारण नहीं किया था। इस बात में सभी मीमांसक थे कि वे वैदिक विधियों का पालन करते थे। सांख्य योग का भगवद्गीता में स्पष्ट निर्देश है। उन दोनों को पृथक् बतलाने वालों को 'बाल' अर्थात् नासमझ कहा गया है। न्याय सब प्रकार के अध्ययन और विचार के लिए आवश्यक समझा जाता था। वेदान्त का ब्रह्म भी महाभारत में स्पष्ट निर्दिष्ट है।

दर्शन

सामाजिक जीवन

इस काल में वर्ण व्यवस्था तो थी किन्तु जात-पांत नहीं थी। वर्णों का विभाग गुण कर्मानुसार माना जाता था। भगवद्गीता में भी श्रीकृष्ण ने भी स्पष्ट शब्दों में कहा है कि "मैंने चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था गुण कर्म के आधार पर की है।" उस समय तक यह जन्म के आधार पर नहीं थी। वन पर्व में यह कहा गया है कि वही व्यक्ति ब्राह्मण है जिसने काम-क्रोध को वश में किया है, इन्द्रियों पर विजय पाई है। जो अध्ययन-अध्यापन और यज्ञ-कर्म करने वाला और अहिंसक तथा शुद्ध आचार वाला है। उस समय तक सामाजिक विभाग परवर्ती युगों की तरह सुस्थिर नहीं हुए थे। ब्राह्मण क्षत्रियों का काम करते थे और क्षत्रिय ब्राह्मणों का। द्रोणाचार्य विप्र होते हुए भी धनुर्वेद के सबसे बड़े आचार्य थे और भीष्म पितामह सबसे बड़े क्षत्रिय होते हुए भी तत्त्वज्ञान के उपदेष्टा थे। महाभारत में एक स्थान पर तो यह भी कहा गया है कि वर्णों का कोई भेद है ही नहीं (शान्ति प० १८८। १०७)।

सामाजिक सगठन

तत्कालीन समाज में स्त्रियों को प्रतिष्ठित पद प्राप्त था और उन्हें समाज में पर्याप्त स्वतंत्रता थी। किन्तु उत्तर वैदिक युग की स्त्रियों की स्थिति में जो ह्रास होना प्रारम्भ हुआ था, वह इस युग में भी बना रहा है। नारी विरोधी वर्ग पुत्रियों के जन्म को बुरा मानता था (१। १५६। ११)।

स्त्रियों की स्थिति और विवाह-पद्धति

उन्हें सारी बुराइयों का मूल समझता था (१६।३८।१)। किन्तु दूसरी ओर ऐसे विचारकों की भी कमी नहीं थी जिनकी यह मान्यता थी कि स्त्रियों की प्रतिष्ठा से देवता प्रसन्न रहते हैं। स्त्रियों को ऊंची शिक्षा मिलती थी, उन्हें अपना पति चुनने की भी स्वतंत्रता थी। महाभारत के समय में आठ प्रकार के विवाह—ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, गान्धर्व, आसुर, राक्षस और पैशाच प्रचलित थे। इनमें पहले चार ही अच्छे समझे जाते थे। गान्धर्व राक्षस और आसुर विवाहों का भी काफी रिवाज था। दुष्यन्त और शकुन्तला में गान्धर्व अर्थात् प्रणय विवाह हुआ था राक्षस का अर्थ था कन्या के बलपूर्वक हरण द्वारा किया जाने वाला विवाह। अर्जुन का सुभद्रा-हरण, श्रीकृष्ण का रुक्मिणी-हरण और दुर्योधन का कलिंगराज कन्या-हरण इसके उदाहरण हैं। आसुर विवाह में कन्या का पिता वरपक्ष से धन लेता था। माद्री का विवाह ऐसा ही था। नियोग की प्रथा भी इस समय शास्त्र-सम्मत थी। कुन्ती ने युधिष्ठिर आदि नियोग से उत्पन्न किये थे। बहु विवाह-प्रथा धनियों और राज-वर्ग में काफी प्रचलित थी। भारतीय साहित्य में सती के उदाहरण इसी समय से मिलने प्रारम्भ होते हैं। माद्री पाण्डु के साथ सती हो गई थी। बाल-विवाह की प्रथा भी शुरू हो गई थी।

प्राय: यह समझा जाता है कि पर्दा-प्रथा मुसलमानों के आगमन से प्रारम्भ हुई; किन्तु यह ठीक नहीं है। रामायण और महाभारत दोनों में इस बात का स्पष्ट संकेत है कि स्त्रियां सामान्य रूप से अलग रहती थीं और सर्व साधारण के सामने न आती थीं। श्री राम ने जब लक्ष्मण को अग्नि-परीक्षा के लिए सीता को सबके सामने लाने को कहा तो सब आश्चर्य-चकित हो गए तब राम को यह कहना पड़ा कि संकट, यज्ञ और विवाह के समय में स्त्री का दर्शन आपत्तिजनक नहीं है। दुर्योधन की स्त्रियों को महाभारतकार ने असूर्यम्पश्या (शल्य पर्व २९।७४) कहा है। फिर भी महाभारत में इस बात की पर्याप्त साक्षी है कि स्त्रियों में मध्यकाल की-सी परतंत्रता और घोर पर्दा प्रथा नहीं थी। स्वयंवर आदि में वे सबके सामने आती थीं। कुछ विद्वानों ने पर्दे का कारण ईरानी या यूनानी प्रभाव को बतलाया है। आजकल हिन्दू

समाज मे स्त्रियां पति का नाम नहीं लेतीं, किन्तु रामायण और महाभारत के समय में द्रौपदी, सीता, दमयन्ती और सावित्री आदि पति को नाम लेकर पुकारने मे संकोच नहीं करती थीं।

गृहस्थ जीवन मे पत्नी का स्थान वैदिक काल की भांति पति के बराबर समझा जाता था। वे पुरुष की अर्धाङ्गिनी और सब सुखों का स्रोत समझी जाती थीं। वे पतिव्रता के ऊँचे आदर्श का पालन करती थीं। सीता, सावित्री और दमयन्ती आज तक भारतीय स्त्रियों के लिए अनुकरणीय उदाहरण हैं।

जीवन के प्रति दृष्टिकोण

वैदिक युग की भांति इस समय में जीवन का दृष्टिकोण आशावादी था। भाग्य की अपेक्षा पौरुष पर अधिक बल दिया जाता था। महाभारत में बार-बार इस प्रश्न पर विचार है कि भाग्य प्रबल है या पुरुषार्थ और प्रायः हर बार ही पुरुषार्थ की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है महात्वाकांक्षा सतत परिश्रम और भागीरथ प्रयत्न सम्पत्ति के मूल माने गए हैं। महत्वाकांक्षी ही महान् बनता है और अनन्त सुख का उपभोग करता है। देवता भी अपने कर्म के कारण महान् बने हैं। जो व्यक्ति भाग्य पर भरोसा रखकर काम नहीं करता वह नपुंसक पति वाली स्त्री की तरह सदा दुःखी रहता है। इस युग के अन्त में ही भारतीयों की मनोवृत्ति में कुछ अन्तर आने लगा था। वन पर्व में यक्ष के प्रश्नों के उत्तर में एक श्लोक में निष्क्रियता और भाग्य को अच्छा बतलाया गया है।

इस समय भारतीयों ने चरित्र और आचार को बहुत महत्ता दी। महाभारत के एक उपाख्यान में बतलाया गया है जब प्रह्लाद ने इन्द्र को अपना शील दिया तो सम्पत्ति भी उसके पास से जाने लगी। जब प्रह्लाद ने उससे जाने का कारण पूछा तो उत्तर मिला—लक्ष्मी वहीं रहती हैं जहां शील, धर्म और सत्य रहते हैं। राम का वचन-पालन और युधिष्ठिर का सत्य-प्रेम प्रसिद्ध ही है। मेगस्थनीज प्रभृति विदेशियों ने भी भारतीयों की चारित्रिक उच्चता और सत्यप्रियता को स्वीकार किया है।

आर्थिक दशा

इस युग में आजीविकाओं (वृत्तियों) के शास्त्र का सामान्य नाम 'वार्त्ता' था। इसके तीन अंग थे-कृषि, पशु-पालन और शिल्प। राजाओं

कृषि

का यह कर्त्तव्य समझा जाता था कि वे तीनों वृत्तियों की उन्नति के लिए योग्य पुरुष नियुक्त करे। कृषि काफी उन्नत थी, सिंचाई का राज्य की ओर से प्रबन्ध किया जाता था। उद्यान-कला (बागवानी) का विकास इसी युग से प्रारम्भ होता है। धनी लोगों को पांच वर्ष में फल देने वाले आम के बगीचे लगाने का बहुत शौक था।

पशु इस युग में भी सम्पत्ति का प्रधान अंग थे। कृषि के लिए बैल और युद्धों के लिए घोड़े तथा हाथी अनिवार्य थे। इनकी चिकित्सा और शिक्षा के लिए योग्य व्यक्ति नियत किये जाते थे अज्ञात वास के समय सहदेव ने विराट के यहां गो-विशेषज्ञ और नकुल ने अश्व-विशेषज्ञ के रूप में नौकरी की थी उन दिनों पशुओं के शिक्षण और चिकित्सा पर हस्ति सूत्र और अश्व सूत्र आदि कई ग्रन्थ रचे गए। आजकल इनमें से नकुल का अश्वविद्या विषयक शालिहोत्र तथा हस्त्यायुर्वेद ही उपलब्ध होते हैं।

शिल्प

शिल्पों में वस्त्र-व्यवसाय विशेष उन्नति पर था। उत्तर वैदिक युग से भारतीय साहित्य में कपास का उल्लेख मिलता है। मोहेंजोदड़ो में भी सूती कपड़े मिले हैं। दुनिया को कपास का परिचय कराने वाला भारत ही था। यूनानी इस बात पर आश्चर्य करते थे कि भारत में ऊन पेड़ों पर लगती है। १८ वीं शती तक भारत का वस्त्र-व्यवसाय बहुत उन्नत था और वह दुनिया को ढाके की मलमल-जैसा महीन कपड़ा देता रहा। महाभारत के समय में भरुच और चोल देशों में बढ़िया सूती कपड़ा बनता था, ऊनी कपड़ों के लिए आजकल की तरह ही काश्मीर और कम्बोज (पामीर और बदख्शाँ) प्रसिद्ध थे। रेशमी वस्त्रों का भी प्रचलन था। सोना, चांदी, लोहा, सीसा और रांगे से अनेक पदार्थ तैयार किये जाते थे। समुद्र से मोती और दक्षिण की खानों से

अनेक मणियां निकाली जाती थीं। इनमें वैदूर्य सबसे मूल्यवान थी। विभिन्न शिल्पों के प्रोत्साहन के लिए राज्य की ओर से सहायता दी जाती थी। आन्तरिक और वैदेशिक व्यापार प्रधान रूप से वैश्यों के हाथ में था। धनी लोग अपने सामान के यातायात के लिए गोमियां (बंजारों) को रखते थे। माल की दुलाई पशुओं तथा बैल गाड़ियों से होती थी। विदेशियों के साथ अभी व्यापार बहुत उन्नत नहीं था।

राजनीतिक जीवन

इस समय अधिकांश भारत में राजतंत्रात्मक शासन-प्रणाली प्रचलित थी। राजा कुल-क्रमागत थे। उनका मुख्य कार्य प्रकृति-रंजन समझा जाता था। उनकी शक्ति तथा अधिकार सर्वथा निरंकुश हो यह बात नहीं है। राजा राजकीय कार्य 'सभा' की सहायता से करता था, इसे हम वैदिक युग में भी देख चुके हैं। इसमें या तो राज्य के सब क्षत्रिय योद्धा होते थे (१।२२०)' या यह एक प्रकार की वृद्ध परिषद् होती थी। इसमें राज-परिवार के व्यक्ति सेनापति तथा अन्य सैनिक अधिकारी (२।४७।१०) सम्मिलित होते थे। कई बार परामर्शदाताओं में पुरोहित और जनता के निम्न वर्ग के प्रतिनिधि भी सम्मिलित किये जाते थे (शा० प० १२।८५।६६)। राजा के प्रमाद या गलती करने पर उसके परामर्शदाता उसकी भर्त्सना में संकोच नहीं करते थे। राजा को ब्राह्मणों और जनता की इच्छा का आदर करना पड़ता था यह माना जाता था कि (राजा और प्रजा में एक प्रकार का समझौता है।) राजा प्रजा का अनुरंजन तथा रक्षण करता है और उसके बदले में वह प्रजा से कर लेता है। प्राचीन काल में राजा पृथु ने राजगद्दी पर बैठते समय ऋषियों के सम्मुख शपथ ली थी कि 'मैं जब तक जीवित रहूंगा, जो कार्य धर्मानुकूल होगा वही करूँगा।' यह प्रतिज्ञा सभी राजाओं पर लागू समझी जाती थी। अत्याचारी राजा के विरुद्ध विद्रोह कर उसे पदच्युत कर दिया जाता था। 'जब राग, द्वेष-वश, राजा वेन ने प्रजा पर अत्याचार किये तब ऋषियों ने उसे गद्दी से उतार दिया।

महाभारत में राजा के लिए अनेक उच्च आदर्श और कर्त्तव्य बताये गए हैं। उसे निर्बलों पर अत्याचार नहीं करना चाहिए, मन, वचन और शरीर से न्यायाचरण करते हुए 'अपने पुत्र का भी अपराध क्षमा नहीं करना चाहिए।' राजा का धर्म है कि जहाँ एक ओर वह साधारण प्रजा को सुखी करे, वहाँ दूसरी ओर 'अभागे' अनाथ और बूढ़ों के भी आँसू पोंछना' उचित है। विद्वानों से उपदेश सुनकर उसे उनका पालन करना चाहिए, जो ऐसा करते हुए स्वेच्छाचारी नहीं बनता 'प्रजा उसी के वश में रहती है'। उसका कर्त्तव्य अपनी सेना, कोष और व्यापार को बढ़ाना तथा प्रजा के कष्ट-निवारण करना है। बेकार निर्धन और अपाहिजों का पालन-पोषण भी उस राजा का कार्य है। आजकल इसके लिए दरिद्र पोषण के नियम (Poor laws) बनाये जाते हैं। उस समय भी अनाथ, वृद्ध, निस्सहाय तथा विधवाओं की रक्षा तथा उनकी आजीविका का प्रबन्ध राजा का कर्त्तव्य माना जाता था।

राजा के कर्त्तव्य

राज्य की आय के प्रधान स्रोत भूमि की उपज, व्यापार, खानों, समुद्रों तथा वनों की उत्पत्ति पर लगाये गए कर थे। कर-संग्रह के लिए काफी जटिल व्यवस्था थी, एक, दस, बीस, सौ और हजार ग्रामों के अफसर अपने क्षेत्र का कर वसूल कर ऊपर पहुँचाते थे। कर का उद्देश्य प्रजा की सुख-समृद्धि और रक्षा ही समझा जाता था। कर लगाते हुए इस बात पर पूरा ध्यान रखा जाता था कि निर्धन से धनी तक सभी पर कर का भार उचित अनुपात में पड़े, कोई भी उससे वंचित न रह जाय। लोभ में पड़कर राजा को बहुत कर बढ़ाकर अपने और राष्ट्र के व्यवसाय पर कुठाराघात नहीं करना चाहिए। "कर बहुत बढ़ा देने वाले राजा से प्रजा द्वेष करती है इस प्रकार राजा को सदा राज्य जाने का भय बना रहता है राष्ट्र को बड़ा समझकर ही प्रजा पर कर लगाना चाहिये। गौ को अधिक दुह लेने से बछड़ा भी काम का नहीं रहता। इसी प्रकार प्रजा पर अत्यधिक कर लगा देने से राष्ट्र की आय बहुत कम हो जाती है। राजा को चाहिए कि वह प्रत्येक नागरिक, राष्ट्रवासी उपनिवेश तथा

कर-पद्धति

आधीन देशवासियों से अनुकंपापूर्वक यथाशक्ति सब उचित करों को प्राप्त कर ले (शा० ८७।१७।२४)"। उस समय भी कर्मचारी रिश्वतखोर और लूटने वाले होते थे। राजा का यह कर्त्तव्य बताया गया है कि इस प्रकार के व्यक्तियों से वह प्रजा की रक्षा करे।

सैन्य प्रबन्ध

विदेशी आक्रमणों से रक्षा तथा युद्धों के लिए राजा विशाल सेनाएं रखते थे। यह स्थायी और स्वयंसेवक दोनों प्रकार की होती थी। सेना के चार अंग होते थे—पदाति, अश्व, हाथी, और रथ। उत्तर वैदिक युग तक हाथियों का लड़ाई में प्रयोग नहीं था, यह संभवतः इसी युग में शुरू हुआ, भारतीयों से इसका प्रयोग यूनानियों, ईरानियों और तुर्कों ने सीखा। सेना के चार अंगों के अतिरिक्त कई आवश्यक और सहायक विभाग भी थे—इनमें यातायात, नौ सेना और गुप्तचर थे। पदाधिकारियों के मुख्य हथियार तलवार और ढाल होते थे। गदा का प्रयोग द्वन्द्वयुद्ध तथा हाथियों की लड़ाई में होता था। अश्वारोही तलवार और भाला रखते थे। रथ पर बैठकर लड़ने वालों के प्रधान अस्त्र धनुष-बाण होते थे। कवच का प्रयोग सब करते थे। महाभारत में परिघ-तोमर, भिन्दियाल रिष्टि, शतघ्नी, भुशुण्डी आदि अनेक प्रकार के अस्त्रों का वर्णन आता है, जिनका ठीक स्वरूप अब तक ज्ञात नहीं हो सका। उस समय मंत्र शक्ति से आग्नेय, वायव्य, वारुण आदि अनेक प्रकार के विचित्र बाण छोड़े जाते थे, सेना के सूची, मकर चक्रादि अनेक व्यूह बनाये जाते थे।

इस काल की एक विशेषता वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध-नियमों की भांति कुछ उल्लेखनीय व्यवस्थाएं थीं। कौरव पाण्डवों ने युद्ध से पहले ये नियम बना लिये थे कि निःशस्त्र, निष्कवच और युद्ध से पीठ दिखाने वाले पर प्रहार नहीं किया जायगा, प्रहार करने से पहले उसकी सूचना दे दी जायगी, विश्वास दिलाकर तथा घबराहट में डालकर प्रहार करना तथा एक दूसरे को छलना ठीक नहीं। उस समय के आर्यों के जीवन का प्रधान ध्येय धर्म का पालन था, अतः युद्ध में भी वे छल-कपट को अनुचित समझते थे। इस समय 'युद्ध और प्रणय में सब कुछ ठीक होता है' का सिद्धान्त आदर्श नहीं बना था।

इस युग में ज्योतिष, चिकित्सा-शास्त्र, पशुविद्या, सैनिक कला, धनुर्वेद और स्थापत्य की अच्छी उन्नति हुई थी। ज्योतिष में ग्रहों की गति तथा स्थिति के बारे में उन्हें पर्याप्त ज्ञान था। चिकित्सा औषधियों तथा मंत्र द्वारा की जाती थी। गहरे-से-गहरे घाव भरने का आश्चर्यजनक प्रभाव रखने वाली 'विशल्यंकरणी' औषधि का खूब प्रयोग होता था। गौओं, घोड़ों, हाथियों, की नस्ल उन्नत करते तथा बीमारियों को दूर करने के लिए अनेक शास्त्र बने हुये थे। सैनिक कला तथा धनुर्वेद की उन्नति ऊपर निर्दिष्ट शस्त्रों से मिलती है। स्थापत्य का सर्वोत्तम उदाहरण मयदानव द्वारा निर्मित पाण्डवों का राजप्रासाद था जिसमें जल में स्थल और स्थल में जल का धोखा होता था। उस समय तक भारतीय वृक्षों में जीव की सत्ता को ज्ञात कर चुके थे (शा० प० अ० १८४)

वैज्ञानिक उन्नति

यह युग भारतीय इतिहास के स्वर्ण युगों में से है। रामायण महाभारत हिन्दू आचार-विचार की आज तक आधार शिला बने हुए हैं। ये दोनों उज्वलतम रूप में हमारे सामने उन धार्मिक, दार्शनिक और नैतिक आदर्शों को रखते हैं जिनके अनुसार हमें अपना जीवन बिताना चाहिए। इनमें किसी सम्प्रदाय और जाति का बंधन नहीं है। आत्मा की अमरता, कर्मवाद, पुनर्जन्म और अहिंसा इसके मूल तत्त्व हैं। धार्मिक और दार्शनिक विचार के क्षेत्र में भगवद्गीता में जो ऊंची उड़ान ली गई है वह विश्व-इतिहास में अनुपम है। भौतिक क्षेत्र में युद्ध-नीति, शस्त्रास्त्र प्राकृतिक विज्ञान, शिल्प वाणिज्य और व्यवसाय की दृष्टि से भारत ने बहुत उन्नति की थी, किन्तु सामाजिक आचार इस समय काफी अवनत था। युधिष्ठिर-जैसे धर्मराज द्यूत-जैसे दुर्व्यसनों का शिकार होते थे और नारी की स्थिति भी समाज में गिरने लगी थी।

उपसंहार

चौथा अध्याय

जैन और बौद्ध धर्म

छठी श०ई०पू० में भारत में एक जबर्दस्त धार्मिक क्रान्ति हुई। इस के प्रधान नेता वर्धमान महावीर और गौतम बुद्ध थे।

धार्मिक क्रान्ति इस क्रान्ति के मूल तत्त्व याज्ञिक कर्मकाण्ड की निरर्थकता, वेदों की प्रामाणिकता तथा ब्राह्मणों की प्रभुता का विरोध, नैतिकता और तपस्या का महत्त्व थी वेद. आत्मा और ईश्वर में विश्वास न रखने से इन्हें नास्तिक धर्मान्दोलन कहा जाता है। इन्होंने न केवल भारत किन्तु संसार के इतिहास पर कई शतियों तक गहरा प्रभाव डाला। वास्तव में यह कई शती पहले प्रारम्भ हुई प्रवृत्तियों के मूल रूप थे। इनकी जड़ उपनिषदों के समय में जम चुकी थी, अनेक बोधिसत्व और तीर्थङ्कर इसे अपने जीवनों से सींच चुके थे। बौद्ध ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि छठी श०ई०पू० में स्वतन्त्र धार्मिक और दार्शनिक विचार काफी विकसित हो चुके थे। ब्रह्मजाल सूक्त के अनुसार उस समय ६३ अभय पन्थ थे। इनके विकास का प्रधान कारण यह प्रतीत होता है कि उस समय की दो प्रधान विचार धाराएं ब्राह्मण ग्रन्थों का याज्ञिक कर्मकाण्ड और उपनिषदों का ज्ञान मार्ग साधारण जनता की आवश्यकता पूरी नहीं कर सका था। यज्ञों के विरुद्ध उपनिषदों ने जबर्दस्त आवाज़ उठाई थी और यह घोषणा की थी कि संसार सागर पार करने के लिए यज्ञ फूटी नाव की भांति है किन्तु इसके विरोध में उन्होंने जिस ज्ञान और ब्रह्मविद्या पर बल दिया था, वह केवल बुद्धिजीवी वर्ग को ही प्रभावित कर सकती थी। साधारण जनता के लिए आडम्बरपूर्ण यज्ञ और रहस्यवाद से ओत-प्रोत उपनिषदें समान रूप से जटिल एवं दुर्बोध थीं वह सरल, आचार एवं भक्ति प्रधान धर्म के लिए तरस रही थी। इनमें पहली दो आवश्यकताएं बौद्ध जैन धर्म ने पूरी कीं और

तीसरी भक्त प्रधान पौराणिक धर्म ने। इस अध्याय में जैन और बौद्धधर्म का वर्णन किया जायगा और अगले में हिन्दू धर्म का।

जैन धर्म का आविर्भाव

जैन धर्म के संस्थापक प्रायः वर्धमान महावीर माने जाते हैं किन्तु जैन अनुश्रुति के अनुसार वे अन्तिम और चौबीसवें तीर्थङ्कर थे। उनसे पहले २३ जैन धर्म सुधारक हो चुके थे। जैन ग्रन्थों में इनके इतने अधिक अत्युक्ति पूर्ण वर्णन हैं कि पाश्चात्य विद्वान् इनमें से केवल २३वें तीर्थङ्कर महात्मा पार्श्व को ही ऐतिहासिक व्यक्ति स्वीकार करते हैं।

महात्मा पार्श्व

महात्मा महावीर के २५० वर्ष पहले ८वीं श०ई०पू० में उन्होंने वाराणसी में अश्वयनि राजा की वामा नामक रानी से जन्म लिया, तीस वर्ष की आयु में वैराग्य उत्पन्न होने पर राजपाट का परित्याग किया। ८३ दिन की घोर तपस्या के बाद उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ। उन्होंने उसका प्रचार करना शुरू किया। ७० वर्ष तक धर्म प्रचार कर उन्होंने पार्श्वनाथ पर्वत पर मोक्षपद प्राप्त किया। पार्श्व की मुख्य शिक्षाएं अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह व्रत का पालन थीं। ये चातुर्याम कहलाते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि पार्श्व की इन शिक्षाओं में कोई नवीनता नहीं थी। वैदिक यज्ञों की पशु-हिंसा के विरुद्ध 'मा हिंस्यात् सर्वभूतानि' की लहर बड़ी प्राचीन थी किन्तु पार्श्व ने पुराने आदर्शों को मानते हुए तीन नई बातें कीं—(१) उन्होंने धर्म का प्रचार प्रारम्भ किया। उनसे पहले यज्ञयाग का तिरस्कार कर तपस्या करने वाले श्रमण अवश्य थे, पर वे समाज में उसका उपदेश नहीं देते थे। उपनिषदों में हम शिष्यों को आश्रमों में गुरुओं के पास जाता हुआ देखते हैं किन्तु गुरू अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए भ्रमण नहीं करते थे, पार्श्व ने प्रचार की परिपाटी को प्रारम्भ किया। (२) पुराने श्रमण अहिंसा धर्म का पालन तपस्या के एक अंग के रूप में करते थे, वे इसे सर्वसाधारण के लिए आवश्यक नहीं समझते थे। पार्श्व ने अहिंसा, तथा अन्य यामों को ऋषि-मुनियों के आचरण तक ही सीमित न रखा, किन्तु साधारण जनता को भी इन्हें अपने जीवन में ढालने

का उपदेश दिया। (३) महात्मा पार्श्व ने अपने नवीन धर्म के प्रचार के लिये संघ बनाया। बुद्ध के समय के सब संघों में जैन साधु, साध्वियों का संघ सबसे बड़ा था।

महात्मा वर्धमान महावीर

महात्मा पार्श्व के २५० वर्ष बाद चौबीसवें तीर्थङ्कर वर्धमान ने ५३६ ई०पू० में कुण्डग्राम वैशाली (आधुनिक बसाढ़ जि० मुजफ्फरपुर) के ज्ञातृक नामक क्षत्रिय कुल में जन्म लिया। उनके पिता सिद्धार्थ और माता त्रिशला थे। उनकी प्रवृत्ति सांसारिक जीवन की ओर न थी, तीस वर्ष की अवस्था में, (५०६ ई०पू०) अपने पिता की मृत्यु पर, अपने भाई के राजगद्दी पर बैठने पर उन्होंने गृह परित्याग कर कठोर तपस्या प्रारम्भ की। १२ वर्ष के उग्र तप के बाद उन्हें १३ वें वर्ष पूर्ण सत्य ज्ञान की उपलब्धि हुई। उन्होंने अपने ज्ञान का प्रचार शुरू किया, (४९७ ई०पू०) अनुयायियों ने उन्हें महावीर तथा जिन (विजेता) की उपाधि दी, लोगों ने उनके सम्प्रदाय को निर्ग्रन्थ (बन्धनमुक्त) कहा। अपने सिद्धान्तों का प्रचार करते हुए ७२ वर्ष की आयु में उन्होंने पावापुरी में निर्वाणपद पाया - (४६७ ई०पू०) उनकी प्रधान शिक्षाएं पार्श्व की ही थीं, किन्तु उन्होंने कुछ बातें बढ़ाईं। महात्मा पार्श्व चातुर्याम (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह) पर बल देते थे इन्होंने इनके साथ ब्रह्मचर्य को भी आवश्यक व्रत बना दिया। अपरिग्रह पर बल देते हुए उन्होंने दिगम्बर रहने का आदेश दिया। मगध आदि देशों में उनकी शिक्षाओं का बहुत जल्द प्रचार हो गया, कलिंग भी उनका अनुयायी बना, उनके निर्वाण के दो एक शती के भीतर ही पश्चिम भारत में भी जैनधर्म की बुनियाद जम गई। अनेक उतार-चढ़ावों के बाद भारत में आज तक उनके अनुयायियों की एक अच्छी संख्या है।

(५६७ ई०पू०—४८७ ई०पू०) बौद्धधर्म के प्रवर्तक महात्मा बुद्ध

महात्मा बुद्ध

महावीर के समकालीन थे। कपिलवस्तु के राजा शुद्धोदन के घर लुम्बिनीवन (रुम्मिनदेई) में उनका जन्म हुआ। वे बचपन से गम्भीर एवं चिन्ताशील प्रकृति के थे। पिता ने १८ वर्ष की आयु में उनका विहाह कर दिया। किन्तु इससे उनकी प्रवृत्ति नहीं बदली। छोटी-छोटी घटनाएं उन पर गहरा प्रभाव डालती थीं। ऐसा प्रसिद्ध है कि रथ में सैर करते हुए बूढ़े बीमार और मृत व्यक्ति को देखकर उनका मानसिक असन्तोष बढ़ा, अन्त में प्रसन्नमुख संयासी देखकर उन्हें उसके हल का मार्ग सूझा। २८ वर्ष की आयु में अपना पुत्र होने पर, वे गृहस्थ और राज-पाट के सब सुखों को लात मार कर घर से निकल पड़े। यही उनका 'महाभिनिष्क्रमण' कहलाता है। पहले कुछ समय तक उन्होंने राजग्रह के दो प्रधान दार्शनिकों आलार कालाम और रामपुत्र से शिक्षा ग्रहण की; किन्तु इनसे उनकी ज्ञान-पिपासा नहीं शान्त हुई। गृहस्थों के कर्मकाण्ड से ऊबकर वे ज्ञान मार्ग की ओर बढ़े थे, किन्तु यहां उन्हें सूखी दिमागी कसरत ही दिखाई दी। इसके बाद, उन्होंने तपस्या का मार्ग पकड़ा। पांच साथियों के साथ, गया के पास उस विल्व में उन्होंने ६ वर्ष तक घोर तपस्या की, पर फिर भी शान्ति नहीं मिली। कहते हैं एक बार नाचने वाली स्त्रियां उस जंगल में से गुजरीं; उनके गीत की ध्वनि गौतम के कान में पड़ी, वे गा रही थीं अपनी वीणा के तार को अधिक ढीला न करो, नहीं तो वह बजेगा नहीं; उसे इतना अधिक कसो भी नहीं कि वह टूट जाय। इससे गौतम को यह ज्ञान हुआ कि वह अपने जीवन के तार एकदम कसे जा रहे हैं, इस तरह कसने से उनके टूटने की संभावना है। उन्हों ने तपस्या का मार्ग छोड़ दिया, उनके साथियों ने समझा कि वे तपस्या से डर गए हैं। वे उन्हें छोड़कर बनारस चले गए। अब धीरे-धीरे स्वास्थ्य लाभ करते हुए उन्हें एक दिन एक पीपल के पेड़ के नीचे बैठे हुए बोधि (ज्ञान) प्राप्त हुई। उन्होंने निश्चय किया कि जनता को यह ज्ञान दे कर उसके दु:ख दूर किये जायं, सबसे पहले सारनाथ (बनारस) में उन्होंने अपने पांच साथियों को उपदेश देकर 'धर्म चक्र प्रवचन' किया, अब लोगों को

प्रव्रज्या देकर भिक्षु बनाना शुरू किया तथा उन्हें सर्वत्र अपने उपदेशों को प्रचार करने की शिक्षा दी। ४५ वर्ष तक वे स्वयं अपने सिद्धान्तों का प्रसार करते रहे और अन्त में ८० वर्ष की आयु में उनका कुशीनगर (वर्त्तमान कुसीनारा जि० गोरखपुर) में महापरिनिर्वाण हुआ (४८७ ई० पू०)

महात्मा बुद्ध की शिक्षाएं

महात्मा बुद्ध ने जिस धर्म का उपदेश किया, वह प्रधान रूप से आचार प्रधान था। उनकी प्रधान शिक्षाएं निम्न थीं—(१) मध्यम मार्ग उन्होंने इस बात पर बल दिया कि मनुष्य को न तो भोग विलास की अति में फंसना चाहिए और न कठोर तपस्या की अति का अवलम्बन करना चाहिए दोनों अतियों को छोड़कर मध्यमार्ग पर चलना चाहिए।

(२) चार आर्य सत्य—इस दुनिया में चार महान् सत्य हैं—(क) संसार दुःखमय है (ख) दुःख का कारण तृष्णा है (ग) तृष्णा के निरोध से दुःख का निरोध होता है (घ) इसका उपाय अष्टांग मार्ग है।

(३) अष्टांग मार्ग—अष्टांग मार्ग का निम्न आठ बातों का पालन करना है—सत्य दृष्टि, सत्य भाव, सत्य भाषण, सत्य व्यवहार, सत्य निर्वाह, सत्य प्रयत्न, सत्य विचार और सत्य ध्यान।

बुद्ध की शिक्षाओं को ध्यान पूर्वक देखने से प्रतीत होगा कि बुद्ध ने उस समय के प्रधान पंथों से असहमति प्रकट करते हुए, अपना नया मत चलाया और यह अपनी व्यावहारिकता और क्रियात्मकता के कारण अधिक सफल हुआ महात्मा बुद्ध यज्ञादि के विरोधी थे और उग्र तपश्चर्या के भी। सपुत्र निकाय में उन्होंने एक कर्म काण्डी ब्राह्मण को कहा हैं—"हे ब्राह्मण यह मत यह समझो कि पवित्रता अग्नि में समिध डालने से होती है, यह तो बाह्य बात है, इसे छोड़कर मैं तो अपने भीतर अग्नि जलाता हूं, आन्तरिक यज्ञ में स्रुवा (घी डालने का चमम्च) वाणी है और हृदय ही यज्ञ-वेदी है। प्राचीन बौद्ध-ग्रन्थों से यह स्पष्ट है कि वे यज्ञों का नहीं, किन्तु यज्ञों की पशु-हिंसा का विरोध करते थे। जैन धर्म से उनका मौलिक मत-भेद था। जैनों के पंचमहाव्रत निषेधात्मक थे, वे कठोर तपस्या में

विश्वास रखते थे। उन्होंने अहिंसा को बहुत अधिक महत्त्व दिया था। बुद्ध अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आदि का 'सम्यक् जीवन' में ही अन्तर्भाव करते थे। उनके लिए अहिंसा कोई एकान्तिक धर्म नहीं था, जैनों में अहिंसा का विचार जिस पराकाष्ठा तक पहुंचा उतना बौद्धों में नहीं। जैनों के मतानुसार मांस अभक्ष्य था किन्तु बुद्ध कुछ अवस्थाओं में इसे भिक्षु के लिए भी भक्ष्य समझते थे। बुद्ध का समूचा दृष्टिकोण अत्यन्त व्यावहारिक था। यही कार्य है कि बौद्धधर्म को अधिक सफलता मिली। जैनधर्म की प्रधान विशेषता कट्टरता थी, उन्होंने अपने धर्म को २॥ हज़ार वर्ष के आंधी-पानी में भी सुरक्षित रखा है, उनका प्रसार भारत में ही हुआ किन्तु जितना हुआ, वह ठोस रूप में बना रहा। बौद्धधर्म में बड़ी परिवर्त्तनशीलता और उदारता थी। इससे उसे भारत और विदेशों में बड़ी सफलता मिली; किन्तु अन्त में इस देश में उसके अनुयायी अन्त में हिन्दू धर्म में ही विलीन हो गए।

बौद्धधर्म का विकास

४८७ ई० पू० महात्मा बुद्ध के निर्वाण के बाद संघ में बुद्ध की शिक्षाओं पर विवाद उत्पन्न हो गया, उन्होंने अपना कोई उत्तराधिकारी नहीं नियत किया था, अतः उनके सबसे पुराने शिष्य काश्यप ने बुद्ध के वचनों का प्रामाणिक संग्रह करने के लिए राज गृह में पहली बौद्ध सभा बुलाई और इसमें बुद्ध की शिक्षाओं (त्रिपिटक) का पाठ किया गया। इन्हें त्रिपिटक (तीन टोकरियां) कहने का यह कारण था कि बुद्ध के उपदेश—तीन भागों में बांटे गए थे। (१) विनय-पिटक—इसमें बौद्ध भिक्षुओं तथा संघ के नियमों का प्रतिपादन था (२) सूत्र-पिटक—इसमें बुद्ध के धार्मिक उपदेशों का संग्रह था (३) अभिधम्म-पिटक—इसमें धर्म सम्बन्धी आध्यात्मिक प्रश्नों का विवेचन था। पहली महासभा के सौ वर्ष बाद कुछ भिक्षु-नियमों के संबन्ध में पुनः विवाद उत्पन्न हुआ, इसके निर्णय के लिए ३८७ ई० पू० में दूसरी बौद्ध महासभा बुलाई गई। नियम भंग करने वाले भिक्षुओं को संघ से बाहर निकाल दिया गया, इन्होंने 'महासांघिक' नाम से अपना नया समुदाय स्थापित किया

उनसे भिन्न बाकी बौद्ध 'थेरवादी' कहलाये। बौद्ध धर्म का विशेष उत्कर्ष अशोक (२७२–२३० ई० पू०) के समय में हुआ। कलिंग-विजय के बाद वह बौद्ध बना और उसने बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए पूरा प्रयत्न किया, भारत के विभिन्न भागों, पश्चिमी एशिया, मिस्र, पूर्वी योरोप, लंका के राजाओं के पास धर्म-प्रचार के लिए दूत भेजे। लंका जाने वाले तो उसके पुत्र और पुत्री महेन्द्र और संघमित्रा थे। बौद्ध धर्म को विश्व-धर्म बनाने का श्रेय उसी का है। उसी के समय में तीसरी बौद्ध महासभा हुई (२४५ ई० पू०) बौद्ध-प्रचारकों के साथ 'त्रिपिटक' लंका पहुँचा और पहली श० ई० पू० में इसे लिपि-बद्ध किया गया, मौर्य साम्राज्य के बाद भारत पर यूनानियों, शकों, कुशाणों के आक्रमण हुए। इनमें से अनेक राजाओं ने बौद्धधर्म को स्वीकार किया और उसके प्रचार का प्रयत्न किया। इनमें यवन राजा मिनाण्डर और कुशाण नृपति कनिष्क (७८—१०० ई०) विशेष रूप से उल्लेखनीय है। कनिष्क के समय बौद्ध संघ में अनेक प्रकार के विवाद उत्पन्न हो गए, इनका अन्त करने के लिए चौथी बौद्ध महासभा बुलाई गई इसमें त्रिपिटक पर प्रामाणिक भाष्य लिखा गया और इसी के आधार पर बाद में महायान का विकास हुआ।

महायान का आविर्भाव

बौद्धसंघ का प्रजातन्त्रात्मक संगठन होने से, उसमें कोई केन्द्रीय नियामक सत्ता नहीं थी, अतः उसमें कुछ भी मतभेद होने पर नये सम्प्रदाय स्थापित हो जाते थे। बौद्धग्रन्थों में १८ सम्प्रदायों या निकायों का उल्लेख है। इनमें हीन यान और महा याम प्रधान हैं। बुद्ध की मूल शिक्षाओं को सुरक्षित रखने वाला और उन पर आचरण करने वाला सम्प्रदाय हीन यान है, इसमें नई विशेषताओं और परिवर्तनों से महा यान की उत्पत्ति हुई। पहले का प्रचार बर्मा, लंका और स्याम में है तथा दूसरे का नैपाल, तिब्बत, चीन, जापान और मंगोलिया में। हीन यान और महा यान नाम का श्रेय महा यान के जन्मदाता नागार्जुन को है। बौद्धों में बुद्धत्व प्राप्ति के दो प्रधान मार्ग हैं—(१) प्रत्येक बुद्ध यान (२) सम्यक् सम्बुद्ध यान। पहले का अर्थ ऐसे बौद्ध भिक्षुओं से है जिन्हें केवल अपने लिए बोध होता है और दूसरे

का आशय उनसे है जिन्हें सबको देने के लिए बोध होता है। जो सबके उद्धार का यत्न करते हैं। इनमें दूसरे मार्ग को श्रेष्ठ ठहराकर उसे महायान कहा गया। महायानी बोधिसत्व बनने पर बल देते थे, बोधिसत्व वे व्यक्ति हैं जो बुद्ध बनने का प्रयत्न कर रहे हैं। बोधिसत्व बनना बड़ा कठिन था, अतः महायानियों ने अवलोकितेश्वर आदि बोधिसत्वों में विश्वास, उनकी मूर्त्तियों की पूजा से मुक्ति मानी। इन्हीं से बाद में मन्त्र यान और वज्र यान का विकास हुआ। महायानियों ने लोकप्रियता की दृष्टि से पालि छोड़कर संस्कृत का आश्रय लिया। अतः हीनयानियों से इनके प्रधान भेद निम्न थे—(१) बोधिसत्वों में विश्वास (२) बोधिसत्वों की मूर्ति-पूजा और भक्ति (३) संस्कृत का प्रयोग। इनके अतिरिक्त दोनों यानों मे आध्यात्मिक एवं दार्शनिक प्रश्नों, बुद्ध के वास्तविक स्वरूप पर मौलिक मतभेद थे। विदेशों में विशेषतः मध्य एशिया तथा चीन में बौद्धधर्म के प्रचार का श्रेय महायानी बौद्ध भिक्षुओं को ही है।

बौद्ध धर्म प्राचीन काल में अपने प्रचार-कार्य में बड़ा सफल हुआ, इस समय मानव जाति का तृतीयांश बौद्धधर्म का उपासक है। अतः इसको लोकप्रियता और सफलता के कारणों पर प्रकाश डालना आवश्यक जान पड़ता है।

बौद्ध धर्म की लोकप्रियता और सफलता के कारण

(१) बौद्ध धर्म के आकर्षण—बौद्ध धर्म ने कई विशेषताओं से जनता को अपनी ओर आकृष्ट किया था। भगवान् बुद्ध के उपदेश उस समय की लोक भाषा (पालि) में थे, उनकी शिक्षाएं उपनिषदों के उपदेशों की भांति सूक्ष्म और याज्ञिक कर्मकाण्ड की भांति जटिल न होकर अत्यन्त सरल थीं। बुद्ध प्रायः अपने उपदेशों में सुन्दर दृष्टान्तों का प्रयोग करते थे, इनसे ये बहुत सुबोध हो जाते थे। बुद्ध द्वारा प्रतिपादित आचार प्रधान धर्म के द्वार सबके लिए खुले हुए थे, उसमें ब्राह्मण, शूद्र स्त्री, पुरुष सब बराबर थे। किसी प्रकार का वर्ग-भेद ऊँच-नीच या जात-पांत नहीं था

प्रचारकों की अनथक लगन

भगवान बुद्ध स्वयमेव आदर्श प्रचारक थे। उत्थान और अप्रमाद उनके जीवन का मूल मन्त्र था। ४५ वर्ष तक वे स्वयं अपने सिद्धान्तों का प्रचार करते रहे तथा अपने शिष्यों को 'बहुजन-हिताय, बहुजन सुखाय' का संदेश सुनाने की प्रेरणा करते रहे। उनका यह सौभाग्य था कि उन्हें अत्यन्त उत्साही अनुयायी मिले। विश्व के इतिहास में किसी भी महापुरुष के अनुयायियों ने अपने गुरू का आदेश पालन करने में इतना उत्साह इतनी सत्यपरता और इतना त्याग प्रदर्शित नहीं किया, जितना गौतम-बुद्ध के शिष्यों ने।

राज्याश्रय

बौद्धधर्म का विश्व-व्यापी प्रसार सम्राट् अशोक के प्रयत्नों से हुआ, मिनाण्डर, कनिष्क तथा पालवंशी राजाओं के प्रयत्नों के समर्थन से इसे बहुत बल मिला।

संघ व्यवस्था

गौतमबुद्ध ने प्रजातन्त्र की पद्धति पर अपने संघ का संघटन किया था, ये संघ महन्ती गद्दियां नहीं थीं, अपनी योग्यता से इनमें कोई भी व्यक्ति उच्चतम पद पा सकता था, संघ ने बौद्धधर्म की उन्नति और विकास में बड़ा भाग लिया, इसे नागार्जुन, अरुण, वसुबन्धु, आर्यदेव-जैसे धुरन्धर विद्वान्, बोधिधर्म, दीपंकर श्रीज्ञान-जैसे प्रचारक, धर्मकीर्त्ति और दिङ्नाग-जैसे वाद-विवाद-महारथी, विमुक्त-सेन, कमलशील-जैसे लेखक, कुमारजीव, जिनमित्र-जैसे अनुवादक उत्पन्न करने का श्रेय है इनसे एशिया के बड़े भाग को प्रकाशित करने वाले बौद्ध ज्ञान का आलोक प्रादुर्भूत एवं प्रसारित हुआ।

भारतीय संस्कृति पर बौद्धधर्म के प्रभाव

बौद्धधर्म ने हमारी संस्कृति पर प्रधान रूप से निम्न प्रभाव डाले—

(१) कलाओं की उन्नति—बौद्धधर्म के प्रभाव से प्राचीन भारत में मूर्ति, चित्र, स्थापत्य आदि कलाओं का उच्चतम विकास हुआ। पुराने जमाने में कला धर्म की चेरी थी। वैदिक युग में इसका अधिक विकास संभव न था। उस समय के धर्म का प्रधान तत्त्व यज्ञ थे। यज्ञ करने के लिए विशाल एवं भव्य मंडप बनाये जाते थे, यूप गाड़े जाते थे। किन्तु

इनकी आयु यज्ञ की समाप्ति तक ही होती थी। उस समय कला के विकास का कोई स्थायी आधार न होने से उसकी विशेष उन्नति नहीं हुई। बौद्धों के स्तूप और विहार स्थायी थे अतः उनके आश्रय से सभी कलाएं बहुत उन्नत हुईं। प्राचीन मूर्तिकला की अनेक सुन्दर प्रतिमाएं भगवान् बुद्ध से संबन्ध रखती हैं, अजन्ता की चित्रकला का उद्देश्य बौद्धविहारों को अलंकृत करना था, कार्ले आदि की बौद्ध गुफायें हिन्दू मन्दिरों से पुराने स्थापत्य की उन्नति सूचित करती हैं। बौद्ध मतावलम्बियों द्वारा बनवाये सांची, भर्हुत, अमरावती के स्तूप, अशोक के शिलास्तम्भ, भारतीय कला के सर्वोत्तम नमूनों में से है। बौद्धों का अनुसरण कर जैनों ने कला-कौशल की उन्नति की तथा बाद में शैवों और वैष्णवों ने इनका अनुकरण किया।

सरल और लोकप्रिय धर्म

बौद्ध धर्म भारत का पहला सरल और लोकप्रिय धर्म था। इससे पहले का वैदिक धर्म कर्मकाण्ड के कारण बड़ा जटिल था, उसके अधिकारी केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य थे। इसके विपरीत यह अत्यन्त सरल, नैतिक आचरण पर बल देने वाला था और इसका द्वार सबके लिए खुला था। इसने पहली बार धर्म में व्यक्तित्व को प्रधानता दी। वैदिक धर्म प्राकृतिक शक्तियों के प्रतीक देवता प्रधान उपास्य थे, उपनिषदों में निर्गुण ब्रह्म के गीत गाये गए थे। ये दोनों साधारण जनता के लिए दुरूह थे। बौद्धधर्म में भगवान् बुद्ध का व्यक्तित्व बहुत आकर्षक था, वे शीघ्र ही जनता की पूजा के पात्र बन गए मूर्तियों द्वारा उनकी उपासना होने लगी। इसने हिन्दू धर्म के विकास पर गहरा प्रभाव डाला, उसमें भक्ति तत्त्व को प्रधानता मिली।

मूर्ति-पूजा का प्रसार

यह संभव है कि भारत में मूर्ति-पूजा का व्यापक प्रसार बौद्धधर्म के द्वारा हुआ। पहले-पहल बौद्धों ने अपने धर्म प्रवचनादि की मूर्तियां बनाईं, इनका अनुकरण कर, हिन्दुओं ने भी देवताओंकी प्रतिमाएं बनाकर उन्हें पूजना शुरू कर दिया।

भिक्षुसंघों द्वारा धर्म-प्रचार बौद्धधर्म की एक बड़ी विशेषता है। यद्यपि संघ पद्धति का श्रीगणेश करने वाले महात्मा पार्श्व थे

संघ व्यवस्था

किन्तु प्रजातन्त्र-प्रणाली पर इसका पूरा विकास महात्मा बुद्ध ने ही किया। इनसे पहले हिन्दू धर्म में तपोवनों में तपस्या करने वाले ऋषियों तथा ज्ञान का प्रसार करने वाले गुरुओं का उल्लेख तो मिलता है किन्तु उनमें अपना संगठन बनाकर कार्य करने की परिपाटी नहीं थी। हिन्दुओं के वर्तमान संन्यासी-सम्प्रदाय अखाड़े और बौद्ध संघों को एक बड़ी विशेषता यह भी है कि हमारे देश में संघटित रूप से शिक्षा-प्रसार का पहला प्रयास इन्होंने ही किया। इस प्रकार पहला व्यवस्थित शिक्षा केन्द्र नालन्दा बौद्ध-विहार ही था।

बौद्धिक स्वतंत्रता

ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में बौद्धों की एक बड़ी विशेषता बौद्धों की स्वतंत्रता है। हिन्दू विचारक वेद को परम प्रमाण मानते थे किन्तु बौद्धों ने इसे प्रामाणिक नहीं माना। महात्मा बुद्ध सदैव स्वतंत्र विचार को प्रोत्साहित करते रहे, उन्होंने बार-बार अपने शिष्यों को यह उपदेश दिया कि मेरे वचनों को गुरु-वचन मानकर मत स्वीकार करो, उनको अपनी बुद्धि की कसौटी पर वैसे ही कसो, जैसे स्वर्णकार सोने को कसता है। निर्वाण से पहले, उन्होंने शिष्यों को यही उपदेश दिया था कि व 'आत्मदीप' हों, अपनी आत्मा को अपना मार्ग-दर्शक बनायें। यही कारण था कि बौद्ध दार्शनिकों ने निर्बाध होकर दर्शन की सभी समस्याओं पर स्वतन्त्रता पूर्वक विचार किया. इस क्षेत्र में उनके विचार भारतीय दर्शन के उच्चतम विकास को सूचित करते हैं। नागार्जुन, असङ्ग, वसुबन्धु, धर्मकीर्ति विश्व के दार्शनिकों की पहली पंक्ति में आते हैं। शंकर पर इनका स्पष्ट प्रभाव है।

उच्च नैतिक आदर्श

बौद्ध धर्म ने सदाचार, लोक-सेवा और त्याग के उच्च आदर्शों पर बल दिया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनसे पहले भी उपनिषदों में तथा महाभारत में इस पहलू पर बल दिया गया था किन्तु फिर भी उससे साधारण जनता के सदाचार का स्तर बहुत ऊंचा नहीं उठा था। महायानियों ने बोधिसत्व के रूप में लोक-सेवा का उदात्त आदर्श जनता के सामने रखा।

बोधिसत्व अपनी मुक्ति की परवाह न कर निरन्तर प्राणि-मात्र का दुःख दूर करने के लिए बड़े-से-बड़ा आत्म-त्याग करने को उद्यत रहता था। उसकी वह आकांक्षा थी कि मैं असहायों का सहायक भटकों का मार्ग-दर्शक और दीन-दुखियों का सेवक बनूं; इस आदर्श ने जहां बौद्ध धर्म के प्रसार में बड़ी सहायता दी, वहां दूसरी ओर हिन्दू धर्म पर भी गहरा प्रभाव डाला। भागवत पुराण में रन्तिदेव (६।२१।१२) और ध्रुव की उक्तियां इसके सुन्दर उदाहरण हैं।

बौद्ध धर्म से बोल-चाल की भाषा में विस्तृत साहित्य की उत्पत्ति हुई, पालि का समूचा साहित्य बौद्ध-धर्म के अभ्युदय का फल था।

लोक-साहित्य का विकास किन्तु इस क्षेत्र में बौद्धों की अपेक्षा जैनों ने अधिक कार्य किया। इसका आगे उल्लेख किया जायगा।

विदेशों में भारतीय संस्कृति के प्रसार में बौद्धों ने प्रमुख भाग लिया।

भारतीय संस्कृति का प्रसार मध्य एशिया, चीन, कोरिया, मंचूरिया, बर्मा, स्याम, मलाया, जावा, सुमात्रा, लंका में हमारी संस्कृति प्रधान रूप से बौद्ध प्रचारकों द्वारा पहुंची। बृहत्तर भारत के निर्माण में उन्होंने सबसे अधिक सहायता दी।

बौद्धों की भांति जैनों ने भी भारतीय संस्कृति के विकास में बहुत बड़ा भाग लिया। धार्मिक क्षेत्र में उनकी सबसे बड़ी देन अहिंसा का सिद्धान्त है। प्रायः अहिंसा को परम धर्म बनाने का श्रेय बौद्धों को दिया जाता है, किन्तु यह लोक-प्रचलित धारणा ऐतिहासिक दृष्टि से भ्रान्त है। इसके वास्तविक जन्मदाता जैन ही हैं। जैनों के 'अनेकता' और 'स्याद्वाद' के सिद्धान्त यह शिक्षा देते हैं कि प्रत्येक कथन में आंशिक सत्य है, सम्पूर्ण सत्य के लिए सभी विभिन्न दृष्टि कोणों का अध्ययन आवश्यक है। इससे भारत में पहले से विद्यमान सहिष्णुता और उदारता की प्रवृत्ति पुष्टि हुई। जैनों की कला और भाषा सम्बन्धी देन विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। बौद्धों की भांति इन्होंने भी अपने तीर्थंकरों की स्मृति में स्तूप, प्रस्तर वेदिकाएं, अलंकृत तोरण स्थापित

भारतीय संस्कृति में जैनों की देन

किये। श्रवण बेलगोला में गोमतेश्वर तथा मैसूर में करकल के नाम से प्रसिद्ध बाहुबली की प्रतिमाएं संसार की आश्चर्य-जनक मूर्त्तियों में से हैं। देलवाड़ा का जैन मन्दिर कला-मर्मज्ञों की सम्मति में ताजमहल का प्रतिस्पर्धी भी है। देश के भाषाविषयक विकास में जैनों का कार्य अद्वितीय है। हिन्दुओं ने धर्मग्रंथों की भाषा का माध्यम सदैव संस्कृति रखा। बौद्धों ने शुरू में पालि अवश्य रखा; किन्तु बाद में संस्कृत को अपना लिया किन्तु जैनों ने धर्म-प्रचार तथा ग्रन्थ-लेखन के लिए विभिन्न प्रदेशों तथा विभिन्न कालों में प्रचलित लोक-भाषाओं का उपयोग किया। इस प्रकार उन्होंने 'प्राकृत' भाषाओं के विकास पर बहुत प्रभाव डाला। कई लोक-भाषाओं को सर्वप्रथम साहित्यिक रूप देने वाले जैन ही थे। कन्नड़ का प्राचीनतम साहित्य जैनों की कृति है, प्रारिम्भक तामिल साहित्य के निर्माण में बड़ा भाग इन्हीं का है। संस्कृत, प्राकृत तथा आधुनिक हिन्दी, मराठी, और गुजराती के मध्यवर्ती रूप अपभ्रंश में अनेक जैन रचनाएं मिली हैं। जैनों ने संस्कृत में व्याकरण, कोश, दर्शन आदि विषयों में महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे ।

पांचवां अध्याय

भक्ति प्रधान पौराणिक धर्म का उदय और विकास

पौराणिक हिन्दू धर्म के विकास के दो युग

वर्त्तमान हिन्दू धर्म लोक-प्रचलित धारणा के अनुसार सनातन काल से चला आने वाला समझा जाता है किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से यह विचार ठीक नहीं। वर्त्तमान काल में हिन्दू धर्म में पूजे जाने वाले प्रधान देवताओं विष्णु, शिव, सूर्य, दुर्गा, गणपति प्रभृति का तथा इनकी भक्ति प्रधान उपासना का विकास शनैः-शनैः अनेक शतियों में जाकर पूरा हुआ है। आधुनिक हिन्दूधर्म को यह रूप गुप्त युग में प्राप्त हुआ। इसके उद्भव और विकास को दो मुख्य युगों में बांटा जा सकता है-(१) उद्भव काल ६०० ई० पू० से ३०० ई०—९०० वर्ष का यह काल भक्ति-प्रधान सम्प्रदायों के बीज-वपन, अंकुरित और पल्लवित होने का काल था, किन्तु इस सारे समय में बौद्ध जैन धर्म की प्रबलता से इनका पूर्ण विकास नहीं हो पाया। ३०० ई० की मर्यादा अभिलेखों के आधार पर नियत की गई है। इस काल के १५०० से अधिक लेख मिले हैं, इनमें पचास से भी कम लेख शैव, वैष्णव अथवा हिन्दू धर्म के अन्य सम्प्रदायों से सम्बंध रखते हैं, शेष सब बौद्ध और जैन धर्मों का उल्लेख करते हैं। (२) उत्कर्ष काल (३०० ई०—१२०० ई०) चौथी शती ई० से भारत के धार्मिक इतिहास में पासा पलटने लगता है। इस समय से हिन्दू धर्म का निरन्तर उत्कर्ष और बौद्ध तथा जैन धर्मों का अपकर्ष होने लगता है। यहां पहले इन दोनों कालों की सामान्य विशेषताओं का वर्णन किया जायगा और बाद में शैव और वैष्णव धर्मों के विकास की संक्षिप्त रूप-रेखा दी जायगी।

उद्भव काल

छठी श० ई० पू० में भारत में एक जबरदस्त धार्मिक क्रान्ति हुई थी।

पिछले अध्याय में हम यह देख चुके हैं कि इससे जैन तथा बौद्ध नास्तिक धर्मान्दोलन किस तरह विकसित हुए, भक्ति-प्रधान धार्मिक आन्दोलन भी इनकी भांति पुराने धर्म के विरुद्ध असन्तोष से उत्पन्न हुए। उपनिषदों ने आडम्बर-प्रधान जटिल कर्मकाण्ड और यज्ञों का विरोध करके निर्गुण ब्रह्म, कर्मवाद, मुक्ति आदि सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। किन्तु वे साधारण मनुष्यों की धार्मिक आकांक्षाओं को पूरा नहीं कर सकीं। उपनिषदों का इन्द्रियातीत, अगोचर, निर्गुण ब्रह्म इतना गूढ़ और सूक्ष्म था कि बुद्धिजीवी ही उसका ज्ञान प्राप्त कर सकते थे। स्थूल-बुद्धि सामान्य मनुष्य के लिए वह अतीव दुर्बोध था। उपनिषदों की दूसरी अपूर्णता यह थी कि उन्होंने मुक्ति-प्राप्ति के लिए कर्मकाण्ड-प्रधान यज्ञों का तो खण्डन किया; किन्तु उसके स्थान पर ब्रह्म साक्षात्कार के श्रवण, मनन, निदिध्यासन तथा समाधि के जो साधन बताये उनका पालन भी साधारण जनता के लिए संभव नहीं था। सभी व्यक्तियों से घर-बार छोड़कर परिव्राजक बन ब्रह्म-प्राप्ति की आशा दुराशा-मात्र है। उपनिषदों ने यज्ञों का खण्डन तो किया, किन्तु उनके स्थान पर कोई नई लोकप्रिय पद्धति नहीं रखी। अतः साधारण जनता की धार्मिक आकांक्षा और आवश्यकता को पूरा करने के लिए नये नेता और पन्थ उत्पन्न हुए। इन्होंने उपनिषदों की मूल विचार-धारा को सुरक्षित रखते हुए पुराने धर्म और परम्पराओं के विरुद्ध क्रान्ति की, नये धार्मिक सम्प्रदाय स्थापित किये। इन में चार विचार प्रधान थे—

धार्मिक क्रान्ति के मूल विचार

(१) ब्राह्मण ग्रन्थों द्वारा प्रतिपादित यज्ञों का विरोध।

(२) पशु-बलि का विरोध और अहिंसा की महत्ता।

(३) आत्मा, परमात्मा संबन्धी गूढ़ प्रश्नों की उपेक्षा, शम, दम इन्द्रिय-निग्रह पर बल, आध्यात्मिक की अपेक्षा व्यावहारिक दृष्टिकोण की प्रधानता, आचार-शुद्धि की महत्ता।

(४) अव्यक्त एवं निर्गुण ब्रह्म के श्रवण, मनन द्वारा साक्षात्कार के स्थान पर भक्ति पूर्वक सगुण ईश्वर की उपासना का विश्वास।

आस्तिक आन्दोलनों का जन्म

नास्तिक आन्दोलनों ने पहले तीन पहलुओं पर बल दिया; किन्तु आस्तिक आन्दोलनो में चौथी बात पर भी पूरा बल दिया था।

(क) भागवत धर्म

नास्तिक आन्दोलनो में बौद्ध और जैन प्रधान थे तथा आस्तिकों में भागवत और शैव। हमें निरीश्वरवादी सम्प्रदायों के उद्भव तथा प्रवर्तकों का इतिहास काफी अच्छी तरह ज्ञात है किन्तु आस्तिक पंथों के आरम्भिक इतिहास पर अन्धकार का पर्दा पड़ा हुआ है। उपनिषदों से हमें उनके उद्भव की कुछ अस्पष्ट झलक मिलती है। भागवत सम्प्रदाय के जन्मदाता देवकी-पुत्र कृष्ण घोर आंगिरस के शिष्य थे। छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार गुरू ने शिष्य को एक नये आत्म यज्ञ की शिक्षा दी थी (३। १७। ४—६), उसकी दक्षिणा तपश्चर्या, दान, ऋजु भाव, अहिंसा तथा सत्य वचन थ। इसी धर्म के एक अन्य प्रतिष्ठापक राजा वसु ने यज्ञों में पशु-बलि का विरोध करके, हरि की उपासना पर बल दिया था। यह हरि-निर्गुण ब्रह्म नहीं किन्तु भक्त द्वारा उपास्य वैयक्तिक ईश्वर था। वह यज्ञ और तपस्या करने वालों द्वारा प्राप्य नहीं था, केवल भक्त को ही अपने दर्शन देता था। यज्ञों और तप की निरर्थकता, यज्ञों में पशु-हिंसा की निन्दा तथा भक्ति-तत्त्व की प्रधानता द्वारा भागवत सम्प्रदायों ने पुराने विश्वासों और परम्पराओं के विरुद्ध क्रान्ति की; किन्तु ईश्वर की सत्ता मानने से यह क्रान्ति बौद्ध और जैनों की क्रान्ति की तरह उग्र और दूरगामी नहीं था।

(ख) शैव धर्म

भागवतों के अतिरिक्त उपनिषदों से शैवों के ईश्वरवादी भक्ति सम्प्रदायों का स्पष्ट रूप से ज्ञान होता है। श्वेताश्वतर उपनिषदों में (३।२,।४। १६—१७) इसका प्रतिपादन है। उपनिषद् के निर्गुण ब्रह्म से मनुष्यों द्वारा समझे, प्रीति तथा उपासना किये जाने योग्य वैयक्तिक ईश्वर की कल्पना सर्वथा स्वाभाविक प्रतीत होती है। उपर्युक्त उपनिषद में शिव का इसी रूप में वर्णन किया गया है। किन्तु यह प्रश्न उठता है कि शिव की ही इस रूप में कल्पना क्यों की गई। श्री रामकृष्ण

भंडारकर इस विषय पर गहरी खोज करने के बाद इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि शिव अनार्य देवता था। अनार्य जातियों में इसकी तथा इसके लिंग की पूजा व्यापक रूप से प्रचलित थी। मोहेंजोदड़ो की खुदाइयों से यह बात पुष्ट हो गई है। अतः आर्यों ने पूजा के लिए सर्व प्रथम इसी देवता को चुना। इस प्रकार उपनिषदों के अव्यक्त ब्रह्म के सिद्धान्त के साथ वैयक्तिक ईश्वर की भक्ति-प्रधान पूजा का श्रीगणेश हुआ।

धार्मिक क्रान्ति की विशेषताएं

छठी श० ई० पू० की उपर्युक्त धार्मिक क्रान्ति के संबन्ध में तीन बातें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। पहली तो यह कि इसके सभी सुधार-आन्दोलनों का उद्भव भारतीय संस्कृति के केंद्र-स्थल कुरू-पांचाल से दूर गणराज्यों के स्वतन्त्र वातावरण में हुआ। गौतम बुद्ध शाक्यों के तथा वर्धमान महावीर लिच्छवियों के और श्रीकृष्ण सात्वकों के प्रजातंत्र में हुए थे। दूसरा महत्त्व-पूर्ण तथ्य यह है कि इस क्रान्ति से स्वतन्त्र विचार और अन्वेषण की प्रवृत्ति को बल मिला। पाँचवीं छठी श० ई० पू० में भारत में हमें असाधारण बौद्धिक क्रियाशीलता दिखाई देती है, लोगों ने पुरानी विचार-प्रणालियों से बाहर निकल स्वतंत्र रूप से सोचना शुरू किया। इसका परिणाम नई-नई विचार-धाराएं और सम्प्रदाय थे। बौद्ध ग्रन्थों में ६३ श्रमण संघों का पहले उल्लेख हो चुका है। इनमें अच्छे बुरे सभी प्रकार के विचारक थे। एक ओर जहाँ इस स्वतन्त्र विचार-धारा ने बौद्ध, जैन सम्प्रदाय पैदा किये, दूसरी ओर चार्वाकों को भी जन्म दिया। भारतीय दर्शन के अधिकांश विचारों का प्रादुर्भाव इसी काल में हुआ। तीसरा तथ्य यह था कि इस क्रान्ति में पहले बौद्धों और जैनों को राज्याश्रय द्वारा भागवत या शैव धर्म की अपेक्षा अधिक सफलता मिली। मौर्य राजा पहले दो धर्मों के रक्षक थे। चन्द्रगुप्त और सम्प्रति ने जैन धर्म को तथा अशोक ने बौद्ध धर्म को संरक्षण दिया। इससे दोनों धर्मों का उत्कर्ष हुआ। पहले यह बताया जा चुका है कि राज-संरक्षण के अतिरिक्त अनेक स्वाभाविक आकर्षणों के कारण भी ये धर्म लोकप्रिय हुए थे।

बौद्ध एव जैन धर्म की सफलता का हिन्दू धर्म पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। विरोधियों के प्रबल होने पर आस्तिकों तथा कट्टरपंथियों ने अपना घर ठीक करना शुरू किया, इन धर्मों के आक्षेपों तथा चुनौतियों का उत्तर देने के लिए अपने सिद्धान्तों और मन्तव्यों को शृंखलाबद्ध एवं तर्क संगत रूप दिया। विरोधियों के आक्रमणों से रक्षा के लिए उन्होंने धर्म एवं दर्शन सम्बन्धी विचारों को स्मृतियों, रामायण, महाभारत, तथा विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों में व्यवस्थित रूप से उपनिबद्ध किया तथा बौद्ध और जैन धर्म जिन तत्त्वों के कारण लोकप्रिय हो रहे थे, उन्हें अपने धर्म में समाविष्ट कर इन्होंने हिन्दू धर्म को सुदृढ़ किया।

बौद्ध जैन धर्म का हिन्दू धर्म पर प्रभाव

४००—२०० ई० पू० तक मौर्य युग में घात-प्रतिघात और क्रिया-प्रतिक्रिया की यह प्रवृत्ति प्रबल रही। और इसके परिणाम २०० ई० पू० के बाद हमें स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होने लगते हैं। उपर्युक्त २०० वर्षों में दो महत्त्वपूर्ण घटनाएं हुईं।

दर्शनों का निर्माण

दर्शनों के मूलभूत विचार तो बहुत प्राचीन थे किन्तु उन्हें सूत्रबद्ध करके शास्त्र का रूप इसी युग में दिया गया। प्राय: कपिल, कणाद आदि को दर्शनों का प्रेणता समझा जाता है। किन्तु वे प्रधान रूप से पुराने विचारों को शृखलाबद्ध एवं सुव्यवस्थित रूप से उपस्थित करने वाले हैं। इनका विशेष वर्णन अगले अध्याय में होगा।

हिन्दू धर्म का नया रूप

इस समय समूचे हिन्दू धर्म को पुराने यज्ञ प्रधान रूप के स्थान पर नया भक्ति प्रधान पौराणिक रूप दिया गया। यद्यपि पुष्य मित्र आदि राजाओं ने अश्वमेध आदि यज्ञों को पुनर्जीवित किया। किन्तु यह स्पष्ट था. वैदिक धर्म वैदिक समाज के साथ था, न वह समाज में वापिस आ सकता था और न वह धर्म अपने पुराने रूप में लौट सकता था--बौद्धधर्म ने जनता के विचारों में जो परिवर्त्तन किया, उसे मिटाया नहीं जा सकता था। बुद्ध ने जन-साधारण को नये

धर्म की ज्योति दिखाई थी, सदाचार और सम्यक् जीवन ही वास्तविक धर्म है, यह विचार दिया था। इससे जनता में जो जागृति हुई थी, उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। अतः इस युग का अभी सुधार-आन्दोलन बौद्ध सुधार की सब मुख्य प्रवृत्तियों को अपनाये हुए था। बौद्ध धर्म यदि जनता के लिए था तो हिन्दू धर्म का नया रूप उससे बढ़कर जनता की वस्तु बना। उस समय हिन्दू धर्म को निम्न उपायों से लोकप्रिय बनाया गया।

लोक-प्रचलित देवताओं को वैदिक देवता बनाना

आर्यों के निचले दर्जे और अनार्य जातियों में कई प्रकार के देवताओं, यक्षों, भूत-प्रेतों, जड़ पदार्थों तथा जन्तुओं की पूजाएं प्रचलित थीं। बौद्ध धर्म ने यक्षों को बुद्ध का उपासक बनाकर उनकी पूजा चलती रहने दी थी। अब हिन्दुओं ने भी उनका अनुकरण किया। लोक-प्रचलित देवताओं को यथापूर्व रखते हुए उन्होंने उस पर वैदिक धर्म की हल्की छाप अंकित कर उन्हें ग्रहण कर लिया। मथुरा में वासुदेव (श्री कृष्ण) की पूजा प्रचलित थी, उसको अब वैदिक देवता विष्णु से मिलाकर उसकी उपासना वेदानुयायी कट्टरपंथियों के लिए ग्राह्य बना दी गई। शैव धर्म को भी नया रूप दिया गया। 'वैदिक धर्म' के पुनराहरण की लहर ने उस समय पूजे जाने वाले प्रत्येक जड़ और मनुष्य देवता में किसी-न-किसी वैदिक देवता का आत्मा फूंक दिया।' वनचरों के भयंकर देवी-देवता काली और रुद्र के रूप बन गए। समूचे भारतवर्ष के देवता शिव, विष्णु, सूर्य, स्कन्द आदि विभिन्न शक्तियों के सूचक बने। जहां किसी पुराने पुरखा की पूजा होती थी, उसके अन्दर भी भगवान् का 'अवतार' किया गया। वह एक भारी समन्वय की लहर थी, जिसने जहां कहीं पूज्यभाव या दिव्यभाव किसी भी रूप में पाया, उसमें किसी-न-किसी देवता का 'संकेत' रख दिया। प्रत्येक पूज्य पदार्थ को किसी-न-किसी देवशक्ति का प्रतीक बना डाला। 'देव ज्योति को मानो उसने ऊंचे स्वर्ग से और वैदिक कवियों के कल्पना जगत् से उतारकर भारतवर्ष के कोने-कोने में पहुँचा दिया; जिससे जन-साधारण की सब पूजाएं आर्यप्राण हो उठीं और उनके जड़ देवता भी

वैदिक देवताओं के भावमय आत्माओं से अनुप्राणित हो उठे ।'

बौद्धों की लोकप्रियता का एक बड़ा कारण जातक और अवदान साहित्य था । इनमें बुद्ध के पिछले जन्मों तथा बोधिसत्वों की बड़ी रोचक कथाएं होती थीं, जिनमें उनके दया, दान, आत्म-त्याग आदि गुणों पर बड़े सुन्दर ढंग से प्रकाश डाला जाता था । महात्मा बुद्ध सुन्दर कथाओं और दृष्टान्तों द्वारा धर्म के गूढ़ मर्म जनता को समझाते थे, उनके शिष्यों ने इस कला को उपर्युक्त जातक तथा अवदान साहित्य में पराकाष्ठा तक पहुंचा दिया । प्राचीन वैदिक साहित्य में इस प्रकार का लोकप्रिय साहित्य नाम-मात्र था । सूत पुराण और इतिहास की गाथाएं अवश्य गाते थे । किन्तु उनका प्रधान उद्देश्य प्राचीन वीर पुरुषों के शूरतापूर्ण कारनामों का ही बखान था, धर्म-प्रचार नहीं । ये गाथाएं बड़ी लोकप्रिय थीं । अब इस युग में इनके द्वारा धर्म-प्रचार का कार्य लिया जाने लगा । रामायण और महाभारत के नवीन संस्करण तैयार किये गए । महाभारत का तो प्रधान उद्देश्य आख्यानों द्वारा नये धर्म की शिक्षाओं का प्रतिपादन था । इसने श्रीकृष्ण को देवता और विष्णु का अंश बना डाला । विष्णु और शिव की महिमा के गीत गाए, भगवद्गीता द्वारा भागवत धर्म का प्रचार किया । ४०० ई० पू० से २०० ई० तक की भारत की लगभग सभी धार्मिक और दार्शनिक विचार-धाराओं का इसमें समावेश है । यह ग्रन्थ हमारे धार्मिक विकास का सुन्दर उदाहरण है । पहले यह 'सूतों' तथा चारणों द्वारा गाया जाने वाला वीर रस-पूर्ण काव्य ही था, इसकी लोकप्रियता के कारण इसमें सभी धार्मिक समस्याओं का आख्यानों के रूप में समावेश कर इसे हिन्दू धर्म का न केवल विशाल विश्व-कोश, किन्तु प्रचार का भी प्रबल साधन बनाया गया । यही हाल रामायण का हुआ । मूल कथा में राम एक आदर्श वीर पुरुष था, वह दूसरे से छठे काण्ड तक इसी रूप में चित्रित है; किन्तु इस युग में कम-से-कम दूसरी श० ई० पू० तक उसमें पहला और सातवां काण्ड जुड़ा, राम को भी देवता बना दिया गया । इन दोनों महाकाव्यों ने नवीन ईश्वरवादी, भक्ति प्रधान

लोकप्रिय धर्म-ग्रन्थों का निर्माण

शैव वैष्णव धर्मों को लोकप्रिय बनाने तथा साधारण जनता में प्रचलित धर्म को नया रूप देने में मुख्य भाग लिया, वर्तमान हिन्दू धर्म की आधार-शिला रामायण, महाभारत और पुराण ही हैं। इनमें से पहले दो ग्रन्थों को वर्तमान रूप इस युग में मिला और पुराणों को गुप्त युग में।

अन्त में हमें ६०० ई० पू०–३०० ई० तक के काल में नास्तिक-आस्तिक धर्मान्दोलनों के विकास, पारस्परिक संघर्ष और ऐतिहासिक उतार-चढ़ाव पर भी संक्षिप्त दृष्टिपात कर लेना चाहिए। पहले ३०० वर्ष तक तो किसी धर्म का विशेष उत्कर्ष नहीं हुआ। नन्द राजाओं तथा चन्द्रगुप्त मौर्य (३२१-२९६ ई० पू०) के संरक्षण से जैनधर्म सर्वप्रथम सारे भारत में फैला, बौद्ध धर्म को सम्राट् अशोक (२७२ ई० पू०-२३० ई० पू०) का राज्याश्रय प्राप्त हुआ और इसका भारत में तथा भारत से बाहर भी बर्मा, लंका, सिकन्दरिया और खोतन में प्रसार हुआ। पहली श० तक यह चीन पहुँचा और चीन से कोरिया होते हुए जापान से पहुँचा। २०० ई० पू० से १०० ई० तक भारत पर आक्रमण करने वाले यवन और कुशाण राजाओं ने इसे स्वीकार किया।

किन्तु मौर्यों के पतन के साथ भारत में बौद्धधर्म के पतन तथा वैदिक धर्म के पुनरुद्धार की लहर का प्रारम्भ हुआ मौर्यराजा बौद्ध और जैन धर्मों के संरक्षक थे, वे यवनों के आक्रमणों से देश की रक्षा नहीं कर सके। जनता इसका प्रधान कारण उनकी धर्मविजय और अहिंसा की नीति को समझती थी, अत: ये धर्म कम-से-कम उस समय उनकी दृष्टि में गिर गए।

वैदिक धर्म के पुनरुद्धार की लहर

पुष्यमित्र शुंग ने वैदिक धर्म की 'पुन: प्रतिष्ठा' का यत्न किया, अश्वमेध यज्ञ किया, तथा न केवल वैदिकधर्म को राजधर्म बनाया किन्तु बौद्ध का दमन भी किया। इसी समय बनी मनुस्मृति में जहाँ जुआरियों को राष्ट्र से निकालने का विधान है, वहाँ बौद्धों और जैनों (पाखण्डस्थों) के निर्वासन का भी उपदेश है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि १८९ ई० पू० वैदिक मार्ग का सीधा विरोध करने वाले बौद्ध, जैन आदि नास्तिक सम्प्रदायों के

विरुद्ध स्पष्ट प्रतिक्रिया उत्पन्न हो गई थी। फिर भी बौद्ध धर्म मिनान्दर, कनिष्क आदि विदेशी राजाओं की छत्र-छाया में फलता-फूलता रहा। तीसरी श० ई० में कुशाणों की सत्ता का उच्छेद करने वाले शिव के उपासक भारशिव राजाओं ने हिन्दू धर्म को राज धर्म बनाया, पुष्यमित्र के समान एक नहीं दस अश्वमेध यज्ञ किये। उनसे तथा उनके बाद के गुप्त राजाओं से संरक्षण पाकर हिन्दू धर्म का उत्कर्ष होने लगा और बौद्ध धर्म में क्षीणता आई।

हिन्दू ध ि का उत्कर्ष-युग—पौराणिक काल [३०० ई०—१२००[

चौथी श० ई० से भारत में बौद्ध जैन धर्मों की तुलना में हिन्दू धर्म को प्रधानता मिलने लगी। १२ वीं शती के अन्त तक उसके दोनों प्रतिद्वन्द्वी समाप्त हो गए। बौद्ध धर्म का तो भारत में कोई नाम लेवा पानी देवा तक न बचा और जैन धर्म का प्रभाव नगण्य हो गया। इस युग में अधिकांश पुराणों की रचना हुई, रामायण और महाभारत की भांति इन्होंने हिन्दूधर्म को लोकप्रिय बनाया और उसे वर्तमान रूप प्रदान किया। इसी लिए धार्मिक दृष्टि से इसे पौराणिक युग भी कहते हैं। इस युग की प्रधान विशेष-षताएं निम्न हैं—(१) देवताओं की प्रतिमाओं की पूजा के लिए जटिल धर्मकाण्ड का विकास तथा मन्दिरों का निर्माण (२) वाममार्गी तान्त्रिक सम्प्रदायों का उत्थान (३) हिन्दू धर्म को अधिक राज्याश्रय मिलना।

(१)कर्मकांड की जटिलता

मौर्य सातवाहन युग में वैदिक देवताओं और यज्ञों के स्थान पर नई मूर्तियों और अवतारों का मन्दिरों में पूजन अवश्य शुरू हो गया था किन्तु उस काल में वे मन्दिर, उनकी प्रतिमाएं और पूजा पद्धति बहुत सादी थी। मूर्तियां दिव्य-शक्तियों का केवल प्रतीक या संकेत थीं, जिनके आह्वान से जड़ प्रतिमाओं में जान पड़ जाती थी। 'यज्ञों के बड़े आडम्बर में दबे हुए उत्तर वैदिक युग के धार्मिक जीवन में और पूर्व वैदिक युग के आरम्भिक सरल वैदिक धर्म में जितना अन्तर था, मध्यकालीन विशाल मन्दिरों के

सिंहासनों पर बैठने वाले स्वर्णरत्नों से अलंकृत देवताओं की पेचीदा क्रिया-कलायों और व्रतों, उपवासों, तथा जपों के गोरखधन्धे में लिपटी हुई मध्य युग की पौराणिक पूजा में तथा और सातवाहन युग के आरम्भिक सरल पौराणिक धर्म में उतना ही अन्तर था। इस युग में देवताओं के सुनहले तथा भव्य मन्दिर बनने लगे, उनका साज-शृंगार और उनकी पूजा एक बड़ा प्रपंच बन गई।

वाममार्गी पन्थों का जन्म

बौद्ध धर्म की अवनति होने पर छठी श० ई० में उसके महायान सम्प्रदाय से मन्त्रयान और वज्रयान का जन्म हुआ, वज्रयानी बुद्ध को वज्रगुरू अर्थात् अलौकिक सिद्धि सम्पन्न देवता समझते थे। इन सिद्धियों के पाने के लिए अनेक गुह्य साधनाएं करनी पड़ती थीं। शैव मत में पाशुपत, कापालिक (अघोरी), वैष्णव मत में गोपी लीला, शान्तसम्प्रदाय में आनन्द भैरवी की पूजा आदि घोर अश्लील पन्थ चल पड़े। सब पन्थों का उद्देश्य मन्त्रों तथा अन्य साधनाओं द्वारा 'सिद्धि' प्राप्त करना था।

राज्याश्रय

इस काल की एक प्रधान विशेषता हिन्दूधर्म को अधिक राज्याश्रय मिलना था। गुप्त सम्राट् भागवत धर्म के अनुयायी और पक्षपोषक थे, उन्हीं के शक्तिशाली समर्थन से वैष्णव धर्म का विशेष उत्कर्ष हुआ। गुप्तों के बाद पिछले गुप्त, प्रतिहार, चन्देल, मौखरी, कलचुरी, वल्भी और कामरूप के वर्मन राजा वैष्णव या शैव थे। पाल अवश्य बौद्धवंशी थे किन्तु सेन शैव और वैष्णव थे। दक्खन में 'पहले चालुक्य' जैनों के पोषक थे, किंतु बाद के राजा हिंदूधर्म के उपासक बने। राष्ट्रकूटों में कुछ जैन थे किंतु अधिकांश हिंदू थे। पल्लवों और होयसलों के पहले राजा जैनों के समर्थक थे किंतु बाद के पल्लव शैव थे और होयसल वैष्णव। यह स्पष्ट है कि इस सारे काल में बौद्धों और जैनों को हिंदुओं का पर्याप्त समर्थन नहीं मिला और यह उनके ह्रास का एक प्रधान कारण था।

पौराणिक युग की प्रधान घटनाएं पुराणों का विकास, समन्वयात्मक हिन्दूधर्म का जन्म, बौद्ध धर्म का पतन, जैनधर्म का ह्रास और शैव, वैष्णव, शाक्त तथा अन्य अनेक छोटे सम्प्रदायों का जन्म है।

पुराणों का विकास

पुराण भी रामायण और महाभारत की भांति अत्यन्त प्राचीन काल से चले आते थे, प्राचीन वंशों का वर्णन इनका एक प्रधान अंग था। यज्ञ, राज्याभिषेक आदि के अवसर चारण भाट इनका कीर्तन किया करते थे। इनमें क्रमशः वृद्धि होती रहती थी। महाभारत युद्ध के बाद महर्षि वेद व्यास ने प्राचीन वंश वृत्तों का संग्रह कर पुराण रचे थे। इनमें समय-समय पर नई घटनाएं जुड़ती चली गईं। इनका वर्तमान रूप प्रधानतः गुप्त युग का है। कुल पुराणों की संख्या १८ है, इनमें छः ब्रह्मा, छः विष्णु और छः शिव का वर्णन करते हैं। पहले यह बताया जा चुका है कि रामायण, महाभारत और पुराण हिन्दू धर्म की आधार शिला हैं, जातकों ने जिस प्रकार कथाओं द्वारा बौद्ध धर्म का प्रचार किया वैसे ही पुराणों ने हिन्दू धर्म का वेद और उपनिषद् के अधिकारी केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य थे, किन्तु रामायण महाभारत और पुराण सुनने का-अधिकार स्त्रियां और शूद्रों को भी था। इसमें कोई अत्युक्ति नहीं कि पुराण हिन्दू धर्म के प्राण हैं।

समन्वयात्मक हिन्दू धर्म

इस युग की दूसरी घटना समन्वयात्मक हिन्दू धर्म का विकास है। सातावाहन युग की समन्वयवादी लहर भारत की वनेचर और अनार्य जातियों के सब देवताओं में वैदिक देवताओं की प्राण—प्रतिष्ठा की थी, पुराणों ने ब्रह्मा, विष्णु, महेश तीन ही देवता प्रधान माने, त्रिमूर्त्ति के विचार द्वारा इन्हें एक ही परमात्मा की उत्पादक, पालक और संहारक शक्तियों का रूप माना। जब ये एक ही शक्ति के रूप हैं तो इनमें विरोध की कल्पना कैसे हो सकती है। हिन्दू धर्म में ऐसे अनेक समन्वयवादी पन्थ हुए, जिन्होंने न केवल पुराना साम्प्रदायिक विरोध छोड़कर सभी देवताओं की पूजा प्रारम्भ की; किन्तु पुराने वैदिक अनुष्ठानों के साथ इसका कोई विरोध नहीं

समझा। स्मार्त्त सम्प्रदाय वाले वैदिक विधियों के साथ विष्णु, शिव, दुर्गा, गणेश की भी पूजा करते थे। समुच्चयवादी इस बात पर बल देते थे कि ब्रह्म प्राप्ति के इच्छुक मुमुक्षु को वैदिक अनुष्ठान और वेदान्त दोनों का ज्ञान होना चाहिए। गुप्त युग में सम्राटों ने अश्वमेध आदि वैदिक यज्ञों के साथ वैष्णव धर्म के पालन में कोई विरोध नहीं समझा। विभिन्न सम्प्रदायों को मिलाने के लिए देवताओं में अभेद और तादात्म्य तक स्वीकार किया गया। त्रिमूर्त्ति के विचार में तीनों पृथक् शक्तियों के रूप थे। (किन्तु तादात्म्यवादियों के मत में विष्णु और शिव विभिन्न थे) हरिहर की मूर्ति इसी विचार का मूर्त्त रूप था।

बौद्ध धर्म की क्षीणता और लोप आन्तरिक एवं बाह्य दोनों कारणों से हुए।

बौद्ध धर्म का लोप और जैन धर्म का ह्रास

आन्तरिक कारणों में भिक्षुओं की विलासिता, आलस्य नैतिक अध:पतन वाममार्ग और सम्प्रदाय भेद थे। बाह्य कारणों में राज्याश्रय का अभाव, हिन्दूधर्म द्वारा उसकी सभी विशेषताओं का अपना लिया जाना और मुस्लिम आक्रमण थे। ७वीं, ८वीं शती में शैवों ने महायान बौद्ध धर्म के संघ और समाधिके तत्त्व ग्रहण किये, वैष्णवों ने भक्ति और रथयात्रा, मूर्तिपूजा आदि के तत्त्व ग्रहण किये। बौद्ध श्रमणों का स्थान हिन्दू वैरागियों ने ले लिया, बुद्ध को हिन्दुओं ने आठवाँ अवतार मान लिया और इस प्रकार शनैः-शनैः समूचे बौद्धधर्म को हज़म कर डाला। दोनों में कोई अन्तर नहीं रहा। १२वीं शती के अन्त में तुर्कों ने जब बौद्धमठों पर हमला किया तो सब भिक्षु तिब्बत भाग गए, उनके भक्त हिन्दू बन गए और उनके उजड़े मठों में शैव साधु जम गए। बुद्ध गया का मन्दिर प्रारम्भ में बौद्ध था, बाद में गिरि सम्प्रदाय के शैवों ने उस पर अधिकार कर लिया।

जैन धर्म में बौद्ध धर्म की अपेक्षा पुराण-प्रियता, रूढ़ि-प्रेम और कट्टरता अधिक थी। अत: इसमें वाममार्ग जैसे सम्प्रदाय नहीं विकसित हुए; किन्तु यही कट्टरता इसके ह्रास का कारण हुई। इससे वह अपने में समयानुकूल परिवर्त्तन करने में असमर्थ रहा। वैष्णव शैव धर्म अपने आकर्षक सिद्धान्तों के कारण अधिक लोकप्रिय हुए, दक्षिण के कुछ शैव राजाओं ने जैनों पर

अत्याचार भी किये। कहा जाता है कि पाण्ड्य राजा सुन्दर ने ८००० जैनों को हाथी के पैरों तले कुचलवा दिया था, मदुरा के महान् मन्दिर की दीवारों पर इन दृश्यों के चित्र भी उत्कीर्ण हैं। इन सब कारणों से मैसूर, महाराष्ट्र में एक हजार वर्ष तक प्रधान धर्म रहने के बाद इसकी महत्ता कम हो गई। इस समय जैन धर्म के प्रधान केन्द्र पश्चिमी भारत में गुजरात और राजपूताना हैं।

बौद्धधर्म के लोप और जैनधर्म के ह्रास से भारत में स्वभावतः पौराणिक हिन्दूधर्म और उसके विविध सम्प्रदाय प्रबल हो गए। इनमें वैष्णव और शैव मुख्य हैं। इनके तथा अन्य गौण सम्प्रदायों के ऐतिहासिक विकास की संक्षिप्त रूपरेखा ही यहां दी जायगी।

वैष्णव धर्म

उद्गम

पहले यह बताया जा चुका है कि अगर वैदिक युग में राजा वसु द्वारा यज्ञों में पशु-बलि का विरोध करने तथा हरि की उपासना पर बल देने वाली लहर के रूप में वैष्णव धर्म का जन्म हुआ, यज्ञों का विरोध करने में तो यह बौद्धों जैसे ही थे किन्तु उन्होंने ईश्वर और आत्मा को अपने धर्म में कोई स्थान न देकर अष्टांगमार्ग के नैतिक आचरण द्वारा मुक्ति मानी थी, वैष्णवों का उनसे मुख्य भेद इस बात पर था कि वे वैदिक ईश्वर की सत्ता में विश्वास रखते थे और उस की भक्ति से मुक्ति मानते थे। भागवत धर्म का उद्भव उपनिषदों से प्रारम्भ होने वाली उसी विचार धारा से हुआ, जिसने बौद्ध और जैन धर्म पैदा किये थे। प्रारम्भ में यह धर्म यज्ञों तथा तपस्या के पुराने साधनों की अपेक्षा भक्ति पूर्वक हरि की उपासना पर बल देता था। यज्ञ को वह गौण समझता था और पशु, बलि का विरोध करता था। इस तरह यज्ञ प्रधान पुराने वैदिक धर्म के विरुद्ध यह उतनी उग्र क्रान्ति नहीं थी जितनी वेद और ईश्वर में विश्वास न रखने वाले बौद्ध और जैनों की।

धार्मिक सुधार की इस लहर को वृष्णि वंशी वसुदेव-पुत्र श्रीकृष्ण से बहुत अधिक बल मिला। उन्होंने भगवद्गीता में नवीन धार्मिक

कृष्ण और गीता

सुधार के सिद्धान्तों का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन किया और इस सुधार आन्दोलन को सुनिश्चित रूप प्रदान किया। गीता के काल के संबन्ध में पर्याप्त मतभेद है, कुछ विद्वान् तो इसे गुप्त युग की कृति मानते हैं किन्तु इसमें संन्देह 'नहीं इस में विचार बहुत प्राचीन हैं छान्दोग्य उपनिषद् में श्रीकृष्ण का स्पष्ट उल्लेख होने से वे काफी पुराने धर्म-संशोधक जान पड़ते हैं। भागवत धर्म के विकास की दृष्टि से गीता के दो सिद्धान्त उल्लेखनीय हैं, इसके अनुसार मोक्ष के लिए तपस्या और वैराग्य का मार्ग आवश्यक नहीं, मनुष्य के लिए यह अच्छा नहीं कि वह अपना काम धन्धा छोड़ कर मुक्ति के लिए सन्यासी हो जाय, उस आदर्श तो स्वधर्म पालन है, उसी में मरना श्रेयस्कर है। दूसरा सिद्धान्त यह है कि मुक्ति शुष्क नैतिक आचरण में नहीं किन्तु भक्ति में है और इस भक्तिमार्ग में जात-पात और स्त्री-पुरुष का कोई भेद नहीं। वैदिक धर्म की मुक्ति केवल उपवर्ण के पुरुषों को प्राप्त थी क्योंकि वेदाध्यन और वैदिक अनुष्ठानों का उन्हें ही अधिकार था, श्री कृष्णकी मुक्ति स्त्री शूद्र सबके लिए थी।

श्री कृष्ण द्वारा प्रतिपादित यह मार्ग पहले उनकी जाति मे और फिर शनैः शनैः भारत के अन्य हिस्सों में बड़ा लोक प्रिय होने

भागवत धर्म का आरम्भिक प्रसार

लगा। भक्तों ने उसुदेव के पुत्र वासुदेव श्रीकृष्ण को ही भगवान् बना कर उनकी पूजा शुरू कर दी। जातक, निदेश और पाणिनि के सूत्रों में वासुदेव के भक्तों का उल्लेख है। चौथी श० ई० पू० में मेगस्थनीज ने मथुरा में श्रीकृष्ण की पूजा का वर्णन किया है। दूसरी श० ई० पू० में वैष्णव धर्म इतना प्रबल हो चुका था कि विदेशी जातियां भी इससे आकर्षित हो रही थीं। यूनानी राजा अन्तर्लिखित (एटियाल्किडस) के राजदूत तक्षशिला निवासी हेलियो डोरस ने इस शतीमें बेसनगर (प्राचीन विदिशा) में एक गरुड-ध्वज (एक स्तम्भ पर गरुड़ की मूर्ति) स्थापित की। यह 'देव देव वासुदेव की'

प्रतिष्ठा में खड़ा किया गया था, इस पर उत्कीर्ण लेख में वह अपने को भागवत अथवा वैष्णव धर्म का अनुयायी कहता है। सीरिया की एक अनुश्रुति के अनुसार दूसरी श० ई० पू० तक आर्मीनिया में श्रीकृष्ण की पूजा होने लगी थी। इसी समय के घासुण्डा और नानाघाट के अभिलेखों में भागवत धर्म का स्पष्ट उल्लेख है।

वैदिक धर्म के साथ समन्वय

भागवत धर्म की लहर यज्ञ-प्रधान प्राचीन वैदिक धर्म के विरोध में शुरू हुई थी किन्तु इस काल में कट्टरपंथी वर्ग ने नवीन सम्प्रदाय के प्रधान देवता कृष्ण का वैदिक विष्णु और नारायण से अभेद स्थापित कर नये धर्म को अपना लिया। होलियो दोरस के गरुडध्वज से यह ज्ञात होता है कि यह परिवर्त्तन दूसरी श०ई०पू० से पहले हो चुका था। यह दोनों के लिए लाभप्रद था। ब्राह्मणों ने इस लोकप्रिय धर्म को अपनाकर बौद्ध धर्म के प्रति लोगों का आकर्षण कम कर दिया और भागवतों को इससे नई प्रतिष्ठा और गौरव मिले। शिशुपाल ने महाभारत में कृष्ण के विरुद्ध जो विष-वमन किया है, उससे स्पष्ट है कि कुछ कट्टर-पंथियों को श्रीकृष्ण को देवता बनाना पसन्द नहीं था; किन्तु अन्त में उन्हें भी यह परिवर्त्तन मानना पड़ा और वैष्णव धर्म ने हिन्दू धर्म को बिलकुल नया रूप दे दिया।

वैष्णवधर्म के नये तत्त्व

दूसरी शती ई० पू० में शनैः-शनैः वैष्णव धर्म और कृष्ण-चरित्र में नए तत्त्व जुड़ने शुरू हुए। इनमें अवतार-कल्पना, पांचरात्र-पद्धति, कृष्ण की बाल गोपाल, गोपियों और राधा के साथ लीलाओं की कहानियां प्रधान हैं। अवतारों की कल्पना पुरानी थी किन्तु गुप्त युग में शनैः-शनैः इसका पूरा विकास हुआ, पांचवीं शती ई० पू० तक कृष्ण और राम मनुष्य थे, दूसरी श० ई० पू० में वे देवता बने, धीरे-धीरे अवतारों की संख्या बढ़ने लगी। पहले छः थी, बाद में दस हुई, इसमें बुद्ध को भी सम्मिलित कर लिया गया था और अन्त में जैनों के प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव आदि को समाविष्ट कर यह २४ तक पहुँच गई। पांचरात्र पद्धति में वासुदेव की पूजा चार रूपों में (चतुर्व्यूह) के साथ होती थी। इसके विस्तृत प्रतिपादन के लिए

६००-८०० ई० के बीच में अनुश्रुति के अनुसार १०८ पांचरात्र संहिताएं बनीं। इनमें काफी तान्त्रिक प्रभाव है और ये विष्णु की शक्ति पर अधिक बल देती हैं।

कृष्ण-लीलाएं

किन्तु वैष्णव धर्म में 'पांचरात्र' के स्थान पर धीरे-धीरे श्रीकृष्ण की लीलाओं को प्रधानता मिलने लगी, मध्ययुग में वैष्णव-धर्म का प्रधान अंग यही बन गईं। महाभारत में इन लीलाओं का कोई वर्णन नहीं; किन्तु भक्तों की भावना के अनुसार पुराणकार इन्हें कृष्ण-चरित्र में जोड़ते चले गए। सर्वप्रथम ईसा की पहली शतियों में पश्चिमी भारत के शासक आभीरों के समय कृष्ण की गोपाल बाल के रूप में क्रीड़ाओं का वर्णन लोकप्रिय हुआ और उसके बाद गोपियां आईं। सातवीं से नवीं शती के मध्य में विरचित भागवत पुराण में श्रीकृष्ण की इन लीलाओं का भक्ति-प्रधान प्रतिपादन है। किन्तु उस समय तक राधा की कल्पना का विकास नहीं हुआ था, भागवत में उसका कोई उल्लेख नहीं है। किन्तु १२ वीं शती के अन्त तक राधा-कृष्ण-चरित्र का अभिन्न अंग बन गई। इस शती के अन्त में जयदेव ने राधाकृष्ण की केलियों का सरस वर्णन किया और निम्बार्क ने दार्शनिक और धार्मिक दृष्टि से राधाकृष्ण की उपासना को उच्चतम स्थान दिया।

दक्षिण भारत के आचार्य

मध्य युग में वैष्णव धर्म के विकास में दक्षिण भारत ने प्रधान भाग लिया। भागवत पुराण के अनुसार भक्ति दक्षिण देश में पैदा हुई थी। पांचवीं से बारहवीं शती के बीच में वहाँ प्रगाढ़ भक्तिरस की मन्दाकिनी बहाने वाले 'आलवार' नामक वैष्णव सन्त हुए। इनके गीत आज तक वहाँ वैष्णव वेद समझे जाते हैं। भागवत पुराण भी दक्षिण में लिखा गया माना जाता है। आठवीं नवीं शती में वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को दो ओर से भयंकर खतरा पैदा हुआ। एक ओर कुमारिल भट्ट ने वैदिक कर्मकाण्ड को ही मुक्ति का मार्ग मानते हुए उसके पुनः प्रतिष्ठापन का आन्दोलन चलाया; दूसरी ओर शंकराचार्य ने अद्वैतवाद की स्थापना-कर दार्शनिक दृष्टि से भक्ति

सिद्धान्त के मूल पर ही कुठाराघात किया। भक्ति में भगवान् और भक्त की पृथक् सत्ता आवश्यक है, जब सभी कुछ ब्रह्म है तो भक्ति की कोई आवश्यकता ही नहीं रहती। शंकराचार्य के अगाध पाण्डित्य, असाधारण प्रतिभा, शास्त्रार्थ-सामर्थ्य और विलक्षण व्यक्तित्व से यह सिद्धान्त लगभग सर्वमान्य हो चला, किन्तु वैष्णवों ने शीघ्र ही अपने भक्ति सिद्धान्त को सुदृढ़ दार्शनिक आधार पर स्थापित किया। यह कार्य 'आचार्यों' द्वारा हुआ। पहले आचार्य नाथमुनि १० वीं शती के अन्त या ११ वीं शती के प्रारम्भ में हुए, इनका प्रधान कार्य न केवल श्री वैष्णवों का संगठन, आलवारों के गीतों का संग्रह तथा उन्हें द्रविड़ रागों में बद्ध करना और मन्दिरों में उनका गायन कराना था किन्तु वैष्णव सिद्धान्तों की दार्शनिक व्याख्या भी थी। इनके उत्तराधिकारियों में यामुनाचार्य और रामानुजाचार्य (११०० ई०) में थे। रामानुज ने शंकर के अद्वैतवाद के में विशिष्टा द्वैतवाद की स्थापना की। इसके अनुसार अखिल सद्गुणों के भण्डार एक ईश्वर के जीव और जगत् दो प्रकार का विशेषण हैं। शंकर के अद्वैत में जीव ब्रह्म से अभिन्नता होने के कारण भक्ति के लिए कोई स्थान न था, रामानुज की दार्शनिक पद्धति में उसे ब्रह्म का विशेषण मानते हुए भी उससे पृथक् माना गया था, अतः इसमें भक्ति संभव थी। किन्तु रामानुज की भक्ति उपनिषद् प्रतिपादित ध्यान और उपासना पर बल देती थी, उसमें गोपाल कृष्ण की लीलाओं का कोई स्थान न था।

रामानुज के बाद के आचार्यों में आनन्दतीर्थ या माध्व (१३ वीं) और निम्बार्क उल्लेखनीय हैं। माध्व ने जीव को ब्रह्म से बिलकुल भिन्न माना और अब तक भागवतों की पूजा में वासुदेव के 'चतुर्व्यूह' की जो पूजा चली आती थी, उसके स्थान पर विष्णु को ही उपास्य माना है। इस दृष्टि से यह 'वैष्णव धर्म का सच्चा संस्थापक' कहा जा सकता है। १२ वीं शती के अन्त में निम्बार्क ने उत्तर भारत में गोपियों और राधा से घिरे श्रीकृष्ण की पूजा चलाई। तैलंग ब्राह्मण होते हुए भी उन्होंने वृन्दावन को अपने धर्म-प्रचार

का केन्द्र बनाया। गोपियों और राधा पर पहले किसी आचार्य ने बल नहीं दिया था। निम्बार्क का यह मत उत्तरी भारत में बड़ा लोकप्रिय हुआ, चैतन्य आदि आचार्यों के प्रचार से इसे बड़ा बल मिला और उत्तर भारत में अनेक भेदों के साथ वर्त्तमान समय में वैष्णव धर्म का प्रधान रूप यही है।

शैव धर्म

उद्गम

वैयक्तिक ईश्वर के रूप में शिव का पहला स्पष्ट उल्लेख 'श्वेताश्वतर' उपनिषद् में है, बाद में 'अथर्वशिरस्' उपनिषद् में इसका प्रतिपादन किया गया। दूसरी श० ई० पू० में शैवपन्थ के प्रचलन की सूचना पतंजलि के महाभाष्य से मिलती है। महाभारत के नारायणीय प्रकरण में उमापति शिव को इस सम्प्रदाय के ग्रन्थ प्रकट करने का श्रेय (अध्याय २३) दिया गया है। उस समय तक शिव मानव था, देवता नहीं बना था। वायु और लिंगपुराण (अध्याय २३) कथाओं के अनुसार, जब वासुदेव श्रीकृष्ण ने जन्म लिया। उसी समय कायावर्धन (करवन, बड़ोदा) में शिव ने नकुलीश के रूप में जन्म लिया। शैव सम्प्रदाय का प्रारम्भिक नाम लाकुल, पाशुपत या माहेश्वर है। विदेशी जातियाँ भागवत धर्म को भांति शैव धर्म से भी आकर्षित हुईं। कुशाण राजा विम कफ्स (३०-७७ ई०) ने शैवधर्म अंगीकार किया। उसके कुछ सिक्कों के उल्टी तरफ नन्दी पर झुके त्रिशूलधारी शिव की मूर्त्ति है। अनेक आधुनिक विद्वान् इसे शैवधर्म के संस्थापक नकुलीश की प्रतिमा मानते हैं। किन्तु शीघ्र ही शिव की मानव-मूर्त्ति के स्थान पर लिंग की पूजा शुरू हो गई।

(क) पाशुपत शैव सम्प्रदाय

छठी श० ई० के अन्त तक शैव धर्म का पर्याप्त विकास और विस्तार हो चुका था। शैव भारत के दक्षिण छोर तक फैल चुके थे, अनाम और कम्बोडिया का प्रधान धर्म यही था। शैव सम्प्रदायों में दीक्षित न होने पर भी शशांक; हर्षवर्धन जैसे सम्राट्, कालिदास, भवभूति-जैसे कवि, सुबन्धु, बाण-जैसे गद्य लेखक शिव के उपासक थे। इसमें अनेक सम्प्रदाय बने। सातवीं

शती ई० में इनमें पाशुपत सम्प्रदाय सबसे अधिक प्रबल था। युआन च्वांग को इसके अनुयायी लोचिस्तान तक मिले थे, बनारस पाशुपतों का गढ़ था, यहां १०० फीट से कुछ कम ऊंची महेश्वर की ताम्र-मूर्ति थी। सर्वत्र मन्दिरों में इसकी पूजा बड़ी धूमधाम से होती थी। पाशुपतों के सम्प्रदय में सिद्धि और ज्ञान-प्राप्ति के लिए साधुओं को जिन बातों का पालन करना पड़ता था, उनमें कुछ ये थीं—(१) शरीर पर भस्म रमाना और भस्म में लोटना (२) गले तथा होंठों को चौड़ा कर 'हा हा, की ध्वनि करना (३) सब लोगों द्वारा निन्दित ठहराये कार्य करना ताकि साधक कर्तव्य-अकर्त्तव्य के विवेक से ऊपर उठ सके।

(ख) कापालिक और कालमुख

इन शैव सम्प्रदायों के सिद्धांत पाशुपतों से अधिक उग्र थे। इनकी प्रधान विशेषताएं निम्न थीं—(१) नरमुण्ड या कपाल में भोजन करना (२) मृत व्यक्ति की भस्म को शरीर पर रमाना (३) भस्म भक्षण (४) हाथ में त्रिशूल दण्ड रखना (५) मदिरा का पात्र पास रखना (६) उसी में अब स्थित महेश्वर की पूजा करना।

(ग) 'शैव' सम्प्रदाय

किन्तु 'शैव' सम्प्रदाय के सिद्धान्त और आचार कापालिकों से अधिक सौम्य और तर्क-संगत थे। यह प्रातः सायं सन्ध्याकाल में शिव की भक्ति और उपासना पवित्र मंत्रों के जप, प्राणायाम, धारणा, ध्यन, समाधि तथा विभिन्न प्रकार के लिंगों की पूजा पर बल देता था। नवीं, दसवीं शती में काश्मीर में शैव धर्म के सम्प्रदायों का उच्चतम विकास हुआ। इनके अध्यत्मिक विचारों में मौलिकता और धार्मिक आचार व्यवहार में उदारता थी। इनमें उपर्युक्त सम्प्रदायों की वाम मार्गी प्रवृत्तियों का कभी प्राधान्य नहीं हुआ। काश्मीर के इस उदाम शैवधर्म का कारण शंकराचार्य का प्राभाव समझा जाता है।

शैव साहित्य

वायु, लिंग और कूर्म पुराणों शैव साहित्य अतिरिक्त शैव, ईश्वरवाद

(क) आगम

का आगमों में विस्तार से प्रतिपादन किया गया है। आगमन अट्ठाइस हैं किन्तु प्रत्येक के साथ अनेक उपागम जुड़े हुए हैं और इनकी कुल संख्या १९८ है, ये ७ वीं श० ई० से पहले बन चुके थे। इनमें प्रतिपदित शैव धर्म 'आगम' शैवधर्म' कहलाता है, यह द्वैतवादी है। नवों शती में शंकर ने अद्वैतवाद का प्रचार किया और काश्मीर के शैवधर्म ने द्वैतवादी आगमों का स्थान अद्वैतवाद को प्रदान किया।

पल्लव (छठी श० ई० से) तथा चोल सम्राटों (१० वीं श०) के

(ख) तामिल साहित्य

संरक्षण से द्रविड देश में शैवधर्म का बड़ा उत्कर्ष हुआ। संग्रहों के रूप में शैव धर्म सम्बन्धी विशाल तामिल साहित्य का निर्माण हुआ। इसके वैष्णवों के आलवार सन्तों की भांति नायन्मार नामक शैव संत थे। पहले तीन संग्रहों के रचयिता प्रसिद्ध सन्त 'ज्ञान सम्बन्ध' सम्भवतः सातवीं शती में हुए। तामिल पुराण 'पेरिया पुराण' सहित उपर्युक्त ११ संग्रह तामिल शैव धर्म का आधार हैं। इनमें पहले सात संग्रहों 'देवारम्' में अप्पार, सुन्दर और ज्ञान सम्बन्ध की रचनाओं उनका संग्रह है उनकी प्रतिष्ठा वेदों के तुल्य है। इनकी दार्शनिक विचार धारा आगमों से मिलती-जुलती है।

१३ वी, १४ वीं शतियों में तामिल शैवधर्म में नवीन साहित्य का

शैव सिद्धान्त

विकास हुआ, इसे शैव सिद्धान्त कहते हैं। अब आगमों का स्थान १४ सिद्धान्त शास्त्रों ने ले लिया।

शैवों का एक महत्वपूर्ण सम्प्रदाय वीरशैव है। इसका संस्थापक

वीर शैव या लिंगायत सम्प्रदाय

११६० ई० में कलचूरीराजाबिज्जल से राजगद्दी छीनने वाला उसका प्रधान मन्त्री बासव था। कर्नाट और महाराष्ट्र से बौद्ध और जैन धर्म समाप्त करने का श्रेय इसी को है। यह सम्प्रदाय आत्मसम्बन्धी नैतिकता और पवित्रता

पर बहुत बल देता था। इसकी एक विशेषता कवर हिन्दू धर्म के सिद्धान्तों का विरोध है। 'ये वेद की प्रामाणिकता और पुनर्जन्म में विश्वास नहीं रखते, बाल-विवाह का विरोध तथा विधवा पुनर्विवाह का समर्थन करते हैं' ब्राह्मणों के प्रति तीव्र घृणा रखते हैं।

मध्य युग में महाराष्ट्र तथा दक्षिण में राष्ट्रकूट और चोल राजाओं के संरक्षण से शैवधर्म बड़ा लोकप्रिय हुआ। इसी समय इलोरा (वेरुक) के जगत् प्रसिद्ध कैलास और तांजोर विशाल शैव मन्दिरों का निर्माण हुआ।

अन्य सम्प्रदाय

वैष्णव और शैव धर्म के अतिरिक्त शक्ति, गणपति, स्कन्द या कार्तिकेय, ब्रह्मा और सूर्य की पूजा भी हिन्दूधर्म में सातवाहन युग से चली। इनमें शाक्त सम्प्रदाय विशेष रूप से उल्लेखनीय है। पहले यह बतलाया जा चुका है कि वैदिक युग में स्त्री तत्त्व की उपासना नहीं थी। भीष्म पर्व के तेइसवें अध्याय में पहली बार दुर्गा की स्तुति मिलती है। गुप्तयुग में शिव की शक्ति को अधिक प्रधानता मिली। शक्ति के उपासकों ने शरीर में षट् चक्र माने, ह्रिम, हुम फट आदि मन्त्रों से तथा योग से अलौकिक सिद्धियों की प्राप्ति, यन्त्रों की शक्ति और 'मुद्राओं' में विश्वास किया, देवी को प्रसन्न करने के लिए पशु तथा नरबलियों की पद्धति पचलित हुई, युआन च्वांग को सातवीं शती में एक बार डाकुओं ने कन्नौज के पास बलिन देने के लिए पकड़ लिया था। बौद्ध धर्म की भांति, मध्य युग में इसमें भी तन्त्रिक प्रभाव प्रबल हुआ।

मुसलमानों के आने के बाद हिन्दूधर्म में भक्ति और सुधार की जो लहरें चली, उनका वर्णन ११ वें अध्याय में किया जायगा।

छठा अध्याय

दर्शन

दर्शन संभवतः भारतीय संस्कृति की समुज्ज्वलतम कृति है भारतवर्ष विचार-प्रधान देश है। वैदिक युग से आध्यात्मिक और पारलौकिक प्रश्न भारतीयों को बेचैन करते रहे हैं और उनका हल ढूंढ़ने वाली अध्यात्म विद्या को सब शास्त्रों में श्रेष्ठ माना जाता रहा है। अतः इसके विकास में हज़ारों वर्ष से हमारे देश के सर्वोत्तम विचारक लगे रहे हैं। यही कारण है कि तत्त्वचिन्ता की ऊँची-से-ऊँची उड़ान तथा विचारों की सूक्ष्मता और गंभीरता में बहुत कम देश उसकी तुलना कर सकते हैं। अन्य देशों के दर्शन की अपेक्षा भारतीय तत्त्वज्ञान की कई विशेषताएं हैं। चीन के अतिरिक्त किसी अन्य देश में दार्शनिक विचार की तीन हज़ार वर्ष लम्बी और अविच्छिन्न परम्परा नहीं है। पश्चिम में यह केवल फिलासफी या विद्या का अनुराग-मात्र है, पण्डितों के मनोविनोद या बुद्धि-विलास की वस्तु है। किन्तु भारत में इसका जीवन के साथ घनिष्ठ संबन्ध है। इसका उद्देश्य आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधि दैविक तापों से संतप्त मानवता के क्लेशों की निवृत्ति है। है। योरोप में दर्शन और धर्म पृथक्-पृथक् हैं। दर्शन बुद्धि का विषय है, उसका उद्देश्य सत्य की खोज है, धर्म श्रद्धा और विश्वास की वस्तु है किन्तु हमारे देश में धर्म और नैतिकता की आधार-शिला दर्शन है। वह हमारे समूचे आचार-व्यवहार का परिचालक और मार्ग-दर्शक है।

भारतीय दर्शन के विकास को चार प्रधान कालों में बांटा जा सकता है—

दार्शनिक विकास के चार युग

(१) आविर्भावकाल (६०० ई० पू०) तक (२) सूत्रकाल (६०० ई० पू० से पहली श० ई०) (३) भाष्यकाल (पहली से १५वीं शती तक (४) वृत्तिकाल (१६वीं शती से वर्त्तमान समय तक)। पहले काल को हम भारतीय दर्शन का उषा-काल कह सकते हैं। इस समय में इसके प्रायः सभी मूलभूत विचारों का उदय हुआ। बाद में पृथक् रूप में विकसित होने वाले

छहों दर्शनों का बीजारोपण इस काल की घटना है। जिस प्रकार एक ही वट-मूल विकसित होने पर नाना शाखाओं-प्रशाखाओं में विभक्त हो जाता है, वैसे ही वेदों तथा उपनिषदों के विचारों से बाद में नाना सम्प्रदाय विकसित हुए। भारतीय तत्त्व-चिन्तन तो ऋग्वेद से ही आरम्भ हो गया, उसमें दर्शन के इन सनातन प्रश्नों के अस्फुट उत्तर है कि यह विश्व कैसे पैदा हुआ, इसे पैदा करने वाला कौन है, विश्व के पैदा होने से पहले क्या था। नासदीय सूत्र (ऋ० १०/११६) में इनका स्पष्ट उल्लेख है। पूर्व वैदिक युग में तत्वचिन्ता की प्रवृत्ति याज्ञिक कर्मकाण्ड के बोझ से दबी रही, किन्तु उत्तर वैदिक युग में यज्ञों के विरुद्ध प्रतिक्रिया होने पर इसकी लहर पुनः प्रबल हुई। मनुष्य क्या है? कहां से आया? मर कर कहां जायगा? सृष्टि का क्या प्रयोजन है? इस प्रकार के प्रश्नों से आर्य विचारक अधीर हो उठे। उपनिषदों से ज्ञात होता है कि अनेक समृद्ध परिवारों के कुलीन युवक घरबार छोड़कर विभिन्न ऋषि-मुनियों के आश्रमों में जाकर इन प्रश्नों का उत्तर खोजा करते थे। इनमें प्रधान रूप से इसी प्रकार के संवाद और कथाएं हैं। नकिकेता, मैत्रेयी; सत्यकाम, जाबाल, पिप्पलाद की कहानियां उस समय के तत्वा-वेषन पर सुन्दर प्रकाश डालती हैं। उस समय तक भारतीय दर्शन की मूलभूत मान्यताओं पंचभूत, पंचेन्द्रियां, आत्मा और शरीर की पृथकता, आत्मा की अमरता, सर्वोच्च, सर्वव्योप ं सत्ता या ब्रह्म उसके स्वरूप सृष्टि-विकास की प्रक्रिया, सत्व, रज तम के तीन गुणों, कर्मवाद, पुनर्जन्म, संसार की क्षण-भंगुरता और नश्वरता के सिद्धान्तों का जन्म हो चुका था। किन्तु पृथक् दार्शनिक सम्प्रदायों का विकास नहीं हुआ था। उपनिषदों में सभी प्रकार के दार्शनिक विचारों की ऊँचो-से-ऊँची उड़ानें हैं, कठोपनिषद् में एक साथ सांख्य और वेदान्त का प्रतिपादन है। तैत्तिरीय तथा बृहदारण्यक में वेदान्त ब्रह्म का वर्णन है किन्तु इनका कहीं भी क्रमबद्ध या व्यवस्थित विवेचन नहीं किया गया

(६०० ई० पहली श० ई०) सूत्रकाल में दार्शनिक विचारों का शृंखला-बद्ध किया जाने लगा। उपनिषदों में तत्त्व-चिन्तन की

सूत्र काल

आरम्भिक उड़ानें हैं, दर्शनों में व्यवस्थित विवेचन कपिल, कणाद गौतम, को सांख्य, वैशेषिक, न्याय का रचयिता समझना ठीक नहीं। उन्होंने केवल पहले से-चले आने वाले विचारों को सूत्र-बद्ध किया। पिछले अध्याय में इन्हें यह नया रूप देने का कारण स्पष्ट किया, जा चुका है। छठी श० ई० पू० में भारत में एक जबरदस्त धार्मिक और बौद्धिक क्रांति हुई थी। बौद्ध, जैन और चार्वाक विचारकों ने जब प्राचीन विचार की रूढ़ियों पर खरी-खरी और सीधी-सीधी चोटें कीं, तब शृंखलाबद्ध दार्शनिक विचारों की आवश्यकता अनुभव हुई और छः दर्शनों ने जन्म लिया कौटिल्य के समय तक (४थी० ई० पू० का अन्तिम भाग) केवल तीन दर्शन थे—सांख्य, योग और चार्वाक। पिछले मौर्य युग या आरम्भिक सातवाहन युग में पहली श० ई० तक वर्त्तमान रूप के मिलने वाले वैशेषिक, सांख्ययोग, पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा (वेदान्त) सूत्रबद्ध हुए।

दार्शनिक विकास का तीसरा युग भाष्यकाल है। इसे यदि दर्शन का स्वर्ण युग कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। इसी युग में

भाष्य काल

नागार्जुन और शंकर-जैसे दार्शनिक पैदा हुए जिनकी टक्कर के दार्शनिक दूसरे देशों ने बहुत कम पैदा किये हैं। इस काल में विभिन्न सम्प्रदायों के दार्शनिकों में परस्पर खूब टक्कर या घात-प्रतिघात चलता रहा इसने दर्शन के विकास में बड़ी सहायता दी। प्रत्येक दर्शन को विपक्षियों द्वारा उठाये आक्षेपों का उत्तर तथा नई समस्याओं का समाधान करना पड़ता था। यह कार्य भाष्यकारों ने किया। ये स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखने के स्थान पर पुराने दर्शन या भाष्य की टीका द्वारा इसे सफलतापूर्वक करते रहे। इसमें ये न केवल आक्षेपों का समाधान करते किन्तु नवीन सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन करते थे। शंकर का अद्वैत इसी प्रकार का सिद्धांत है। हम अपने दर्शनों के तत्त्व को ऐतिहासिक दृष्टि से उनका क्रम-विकास

देखे बिना नहीं समझ सकते। उदाहरणार्थ न्यायदर्शन का विकास बौद्धदर्शन के साथ जुड़ा हुआ है। न्याय का सर्वप्रथम भाष्यकार वात्स्यायन नागार्जुन आदि की अनेक आरंभिक बौद्ध दार्शनिकों का खण्डन करता है, उसके उत्तर में दिङ्नाग ने प्रमाण समुच्चय लिखा, इसके जवाब में प्रसिद्ध नैयायिक उद्योतकर ने वात्स्यायन भाष्य पर न्याय वार्तिक की रचना की इसका खण्डन बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्त्ति ने प्रमाण वार्तिक में किया, अन्त में इसके उत्तर में वाचस्पति मिश्र की तात्पर्य टीका लिखी गई। भाष्य युग में इस प्रकार के घात-प्रतिघात से भारतीय दार्शनिक तत्त्व-चिन्तन की जिस ऊँचाई तक पहुँचे, आधुनिक विचार-धारा उससे आगे नहीं बढ़ सकी। भाष्य युग दो प्रधान भागों में बंटा है—पहली से ८वीं शती तक इस काल ने नागार्जुन, वसुबन्धु, असंग, धर्मकीर्त्ति और शंकर-जैसे दिग्गज दार्शनिक पैदा किये। भारतीय दर्शन में मौलिकता और नवीनता बनी रही, किन्तु इसके बाद से १६ वीं शती तक भाष्यकारों ने प्रधान रूप से वेदान्त की विभिन्न व्याख्याओं पर बल दिया, मौलिक विचार बहुत-कुछ समाप्त हो गया। तीसरे वृत्तियुग में मुख्य रूप से भाष्यों का अर्थ स्पष्ट करने के विभिन्न टीकाएं लिखी जाती रहीं।

भारतीय दर्शन को प्रधान रूप से दो भागों में बांटा जाता है (१) नास्तिक दर्शन (२) आस्तिक दर्शन। नास्तिक दर्शन वेद की प्रामाणिकता और ईश्वर में विश्वास नहीं रखते। इनमें तीन प्रधान हैं—चार्वाक, जैन और बौद्ध। आस्तिक दर्शन छः हैं—पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा, सांख्य, योग न्याय और वैशेषिक।

नास्तिक दर्शन

(१) चार्वाक

चार्वाक दर्शन बिलकुल भूतवादी और प्रत्यक्ष में विश्वास करने वाला है। इसके मत में ईश्वर, परलोक, आत्मा, स्वर्ग, नरक की कोई सत्ता नहीं। इसका प्रधान सिद्धान्त है—'खाओ, पियो, मौज उड़ाओ, 'जब तक जिओ, सुख से जिओ, ऋण ले कर भी घी पियो, क्योंकि शरीर के भस्म हो जाने पर जीव लौटकर नहीं आता

अध्यात्मवाद निरा ढकोसला है, जगत् में आंखों से दिखाई देने वाले भूमि, जल, अग्नि और वायु चार ही तत्त्व हैं, इनके संयोग से स्वभाववश चेतना और बुद्धि की उत्पत्ति होती है। जीवन का लक्ष्य भोग और द्रव्य-प्राप्ति है। मृत्यु के बाद सब चीजों का अन्त हो जाता है। ऐहिक सुखवाद पर बल देने के कारण इसके सिद्धान्त लोगों को बड़े मनोरम जान पड़ते थे। सम्भवतः इसीलिए इसका नाम चार्वाक (चारु वाक सुन्दरवाणी) तथा लोकायत (लोक में विस्तीर्ण) हैं। इसके प्रवर्त्तक वृहस्पति नामक ऋषि थे। इनका मूल ग्रन्थ तो लुप्त हो चुका है, किन्तु उसके ८ सूत्र पिछले ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं।

चार्वाक दर्शन सम्भवतः श्रुतिकाल के अन्त में बढ़ते हुए यज्ञानुष्ठान, तपश्चरण और पारलौकिकता के विरुद्ध प्रतिक्रिया थी।

(२) जैन

जैन धर्म प्रारम्भ में आचार-प्रधान था, बाद में उस में दार्शनिक सिद्धान्तों का विकास हुआ। उमास्वाति और कुन्दकुन्दाचार्य (पहली श० ई०) जैनदर्शन की नींव डालने वाले थे। छठी से नवम शताब्दी का काल जैन दर्शन का स्वर्णयुग है। इस समय सिद्धसेन दिवाकर (पांचवी श० ई०) समन्तभद्र (७वीं श० ई०) हरिभद्र (८वीं श०) भट्ट अकलंक (आठवीं श०) और विद्यानन्द (नवी श०) हुए। परवर्त्ती दार्शनिकों में हेमचन्द (१०८८-११७२ ई०) मल्लिसेणसूरी (१२९२ ई०) और गुणरत्न (१४०९ ई०) उल्लेखनीय हैं।

जैन दर्शन प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द तीन प्रमाण मानता है। इसका प्रधान सिद्धान्त 'स्याद्वाद' है। इसके अनुसार प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है, इन सबका ज्ञान तो उसी व्यक्ति को हो सकता है, जिसने कैवल्य (मुक्ति) प्राप्त कर लिया हो, साधारण व्यक्ति उसके अंश-मात्र को ही जान सकते हैं। अतः हमारा ज्ञान सीमित और सापेक्ष्य है। इसे प्रकट करने के लिए प्रत्येक ज्ञान के साथ शुरू में स्यात् (संभवतः) शब्द जोड़ना चाहिए। इसी को स्याद्वाद या अनेकान्तवाद कहते हैं। जैन धर्म अनेक द्रव्यों की सत्ता में विश्वास रखने से बहुत्ववादी वास्तववाद (Pluralistic Re-alism) का पोषक है। जैन दर्शन में मोक्ष के तीन साधन हैं—(१) सम्यक् दर्शन (श्रद्धा) (२) सम्यक्

ज्ञान (३) सम्यक् चरित्र। चरित्र की शुद्धि के लिए अहिंसा, सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का पालन आवश्यक है। जैनी कर्मफलदाता ईश्वर की सत्ता नहीं मानते।

भगवान् बुद्ध ने सामान्यतः दार्शनिक समस्याओं की उपेक्षा की थी, किंतु बाद में उनके अनुयायियों ने दर्शन की बड़ी सूक्ष्म विवेचना की। बुद्ध की शिक्षाओं के मूल में प्रधानतः दो दार्शनिक सिद्धान्त थे। (१) संघातवाद (२) सन्तानवाद। पहले सिद्धांत का आशय यह था कि आत्मा की कोई पृथक् सत्ता नहीं, वह शारीरिक और मानसिक प्रवृत्तियों का समुच्चय (संघात) मात्र है। सन्तानवाद का तात्पर्य है कि आत्मा तथा जगत् अनित्य है, यह प्रतिक्षण बदलता रहता है। जिस प्रकार नदी का प्रवाह प्रतिक्षण बदलने पर भी वही प्रतीत होता है, दीपक की लौ परिवर्त्तित होते हुए भी उसी तरह जान पड़ती है, वैसे ही आत्मा और जगत् क्षणिक होने पर भी प्रवाह (संतान) रूप से बने रहने के कारण स्थायी प्रतीत होते हैं।

(३)बौद्ध दर्शन

बौद्ध दर्शन को चार सम्प्रदायों में बाँटा जाता है— (१) वैभाषिक (२) सौत्रान्तिक (३) योगाचार (४) माध्यमिक। इनका प्रधान मतभेद सत्ता के सम्बन्ध में है। वैभाषिकों के मत में बाह्य एवं भीतरी (मानस) जगत् से सम्बन्ध रखने वाले सभी पदार्थ वास्तविक हैं। इसीलिए इसका नाम 'सर्वास्तिवाद' है। सौत्रान्तिक बाह्य पदार्थों को अनुमान द्वारा ही सत्य स्वीकार करते हैं। योगाचार विज्ञान अथवा चित्त को ही एक मात्र सत्य मानता है, इसलिए विज्ञानवादी भी कहलाता है। माध्यमिक के मत में जगत् के समस्त पदार्थ शून्य रूप हैं, अतः इसका नाम शून्यवाद भी है।

बौद्धों के दार्शनिक सम्प्रदायों का विशाल साहित्य में प्रायः लुप्त हो चुका है। अब इसका चीनी और तिब्बती अनुवादों से पुनरुद्धार हो रहा है। वैभाषिक सम्प्रदाय के सिद्धान्तों की जानकारी वसुबन्धु के अभिधर्म कोष से मिलती है। वसुबन्धु को कुछ ऐतिहासिक समुद्रगुप्त (३६०-३७५ ई०)

का तथा कुछ बालादित्य का गुरू मानते हैं। अतः इसका समय चौथी या पांचवीं शती है। ये पेशावरवासी ब्राह्मण थे, पहले वैभाषिक या सर्वास्तिवादी थे, बाद में अपने बडे भाई असंग के संग और उपदेश से विज्ञानवादी बने। विज्ञानवाद के संस्थापक अभिसमयालंकार और मध्यान्त विभाग के प्रणेता आर्य मैत्रेय थे। (तीसरी श०) किन्तु इसका प्रसार असंग और वसुबन्धु ने किया। असंग ने बोधिसत्वभूमि और महायान सूत्रालंकार लिखे तथा वसुबन्धु ने गाथासंग्रह और अभिधर्मकोश। इस सम्प्रदाय के अन्य दो प्रसिद्ध आचार्य दिङ्नाग और धर्मकीर्ति हैं। दिङ्नाग वसुबन्धु के शिष्य और प्रमाण समुच्चय के प्रणेता थे, धर्मकीर्ति (५ वीं० श०) ने प्रमाण वार्तिक में विज्ञानवाद का प्रतिपादन तथा बौद्ध न्याय पर अन्य नैयायिकों के आक्षेपों का निराकरण किया है। माध्यमिक मत के प्रवर्त्तक नागार्जुन (दूसरी श. ई.) तथा अन्य प्रसिद्ध आचार्य आर्यदेव (तीसरी श. ई.) स्थविर बुद्धि पालित [पांचवी श.] चन्द्रकीर्ति [६ वीं श.] और शान्तरक्षित [८ वीं श.] थे। नागार्जुन की कृतियां माध्यमिक सूत्र, धर्मसंग्रह, और शुद्धलेख हैं। आर्यदेव का चतुःशतक अनुपम दार्शनिक रचना है। शान्तरक्षित का सर्वोत्तम ग्रन्थ तत्वसंग्रह है। इसमें ब्राह्मण दार्शनिकों की विस्तृत आलोचना करते हुए बौद्ध सिद्धान्तों का समर्थन किया गया है। माध्यमिक सम्प्रदाय के आचार्य न केवल बौद्ध किन्तु भारतीय दार्शनिक जगत की सबसे बड़ी विभूतियों में हैं

आस्तिक दर्शन

(१) पूर्व मीमांसा

छः दर्शनों में, मीमांसा दर्शन अपने स्वरूप के कारण काफी पुराना प्रतीत होता है। इस का प्रधान उद्देश्य कर्मकाण्ड संबन्धी वैदिक वाक्यों की समुचित व्याख्या के नियमों का प्रतिपादन है। मीमांसा का विचार बहुत प्राचीन है। संहिताओं और ब्राह्मण ग्रन्थों में इसका संकेत है। किन्तु मीमांसा के पूर्ववर्ती सभी विचारों को श्रृंखला बद्ध कर शास्त्रीय रूप देने का श्रेय महर्षि

जैमिनि की है। जैमिनीय दर्शन के १६ अध्याय ९०९ अधिकरण तथा २६४४ सूत्र हैं। आधुनिक विद्वान् पहले १२ अध्यायों को ही प्रामाणिक मानते हैं। इन में यज्ञ विषयक धर्म का विस्तृत विचार है। उपवर्ष, भवदास (२ री श. ई.) और शबरस्वामी (२०० ई०) ने मीमांसा सूत्रों पर वृत्तियां और भाष्य लिखे। इनमें शबरस्वामी के भाष्य की तुलना ब्रह्मसूत्र के शांकर-भाष्य तथा पाणिनीय अष्टाध्यायी के पातंजल भाष्य से की जाती है। बाद में शाबर भाष्य के टीकाकारों ने तीन सम्प्रदाय चलाये—भाट्टमत, गुरुमत और मुरारिमत। भाट्टमत के प्रवर्तक कुमारिल भट्ट थे (आठवीं श० का पूर्वार्द्ध) मीमांसा के विकास में कुमारिल-युग (६००--९००) स्वर्ण युग है। कुमारिल ने मीमांसा को बौद्धों के आक्षेपों से बचाया, सिद्धान्तों की सुबोध-व्याख्या कर इसे लोकप्रिय बनाया। इनके प्रधान ग्रन्थ श्लोक, धार्मिक और तन्त्रवार्त्तिक हैं। इनके शिष्य मण्डनमिश्र ने विधिविवेक, भावनाविवेक आदि ग्रन्थ लिखे। भाट्टमत के अन्य आचार्यों में पार्थसारथि (१२ वीं श.) माधवाचार्य (१४ वीं. श०) और खण्डदेव (१७ वीं० श०) उल्लेखनीय हैं। गुरुमत के संस्थापक कुमारिल भट्ट के शिष्य प्रभाकर मिश्र थे। तीसरा सम्प्रदाय मुरारि मिश्र (१२ वीं० श०) का है।

मीमांसा का मुख्य उद्देश्य तो यज्ञादि वैदिक अनुष्ठानों का विवेचन था, किन्तु इसमें मीमांसकों ने अनेक नवीन सिद्धान्तों की उद्भावना की। शब्द के स्वरूप और उसकी नित्यानित्यता पर बड़ा सूक्ष्म विचार किया। विरोधी वाक्यों की संगति बिठाने तथा व्याख्या करने के उन्होंने जो मौलिक सिद्धान्त निश्चित किये, उनसे स्मृति-ग्रन्थों के अर्थ निर्णय में भी बड़ी सहायता ली जाती रही है। वैदिक कर्म काण्ड का ज्ञान तो मीमांसा के बिना हो ही नहीं सकता।

(२) उत्तरमीमांसा (वेदान्त)

वेदान्त भारतीय दर्शन का सबसे चमकीला रत्न है। वेदान्त सूत्रों के प्रणेता महर्षि बादरायण हैं। ये संभवतः महर्षि जैमिनि के समकालीन थे।

इनका उद्देश्य उपनिषदों के आधार पर ब्रह्म का प्रतिपादन, सांख्य, वैशेषिक जैन, बौद्ध आदि मतों का खण्डन, ब्रह्म प्राप्ति के वेदान्तसम्मत साधनों का वर्णन था। वेदान्त दर्शन के सूत्र इतने अल्पाक्षर हैं कि भाष्यों के बिना उनका अर्थ लगाना बहुत कठिन है और भाष्यकारों ने इनसे अपना अभीष्ट अर्थ निकालने में बड़ी खींच-तान की है। अतः इन सूत्रों का वास्तविक अर्थ और महर्षि बादरायण का आशय पता लगाना अत्यन्त क्लिष्ट कार्य है। फिर भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि बादरायण के अनेक सिद्धान्त शंकर से भिन्न थे। उनके मूल विचार संभवतः ये थे "विभु ब्रह्म की अपेक्षा आत्मा अणु है, जीव चैतन्यरूप है। ज्ञान उसका विशेषण या गुण है। ब्रह्म-जगत् का उपादान और निमित्त दोनों कारण हैं। बादरायण और शंकर में प्रधान भेद यह है कि सूत्रकार मायावाद नहीं मानते थे। उनका मत था कि ब्रह्म से प्रादुर्भूत होने पर भी जीव उससे पृथक् और वास्तविक बने रहते हैं। ब्रह्म से बनने वाला जगत् भी वास्तविक होता है। शंकर के मत में यह अवास्तविक और मिथ्या है।"

वेदान्त सूत्र पर अनेक आचार्यों ने अपनी-अपनी दृष्टि के अनुकूल व्याख्यायें लिखी हैं। इनमें जीव और ईश्वर के सम्बन्ध में ही अधिक मत-भेद है। शंकराचार्य (७८८-८२० ई०) जीव और ब्रह्म में कोई भेद नहीं मानते। उनका मूल सिद्धान्त है—ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापर:। ब्रह्म ही सत्य है। सत्य का आशय तीनों कालों में रहने वाली वस्तु है, संसार ऐसा न होने से मिथ्या है। उसकी व्यावहारिक सत्ता है, किन्तु पारमार्थिक सत्ता नहीं है। शंकराचार्य का दूसरा बड़ा सिद्धान्त यह था कि ब्रह्म के दो स्वरूप हैं—निर्गुण तथा सगुण। माया विशिष्ट ब्रह्म सगुण है, यही ईश्वर है। निर्गुण ब्रह्म माया के सम्बन्ध से रहित, सर्वश्रेष्ठ, अखण्ड, व्यापक और सच्चिदानन्द स्वरूप है। तीसरा सिद्धान्त ज्ञान के द्वारा मुक्ति था।

श्री शंकराचार्य के सिद्धान्त बाद के भक्ति-प्रेमी वैष्णव आचार्यों को

पसन्द नहीं आये। वे जीव और ब्रह्म में भेद मानते थे, उनके मत में ब्रह्म ही ईश्वर था, चेतन जीव तथा जड़ जगत् मिथ्या नहीं, सत्य थे। जीव अणु तथा संख्या में अनन्त हैं, भक्ति ही मोक्षदायिका है। इन्होंने अपने सिद्धान्तों के समर्थन के लिए अपनी दृष्टि से वेदान्त सूत्रों का भाष्य किया। इनमें रामानुज (११४० ई०) मध्व (१२३८) निम्बार्क (१२५० ई०) और वल्लभ (१५०० ई०) उल्लेखनीय हैं। रामानुज का मत विशिष्टाद्वैत कहलाता है। इसके अनुसार जीव तथा जगत् अखिल सद्‌गुणों के भण्डार ईश्वर के दो प्रकार या विशेषण हैं। अतः यह अद्वैत न होकर विशेषण वाला (विशिष्ट) अद्वैत है। मध्व जीव और ईश्वर को सर्वथा पृथक् मानते हैं, साथ ही वे ईश्वर को इस जगत् का निमित्त कारण ही मानते हैं, उपादान नहीं। अतः उनका मत द्वैतमत कहलाता है। आचार्य निम्बार्क जीव और ईश्वर को व्यवहारकाल में भिन्न मानते हैं और वैसे अभिन्न। अतः उनके मत को द्वैताद्वैत कहा जाता है। वल्लभाचार्य मायावाद को न मानकर केवल अद्वैत अर्थात् शुद्धाद्वैत मानते हैं।

भारतीय वाङ्मय में सबसे अधिक साहित्य वेदान्त पर लिखा गया है। अद्वैतवादी वेदान्त का प्रारम्भ गौड़पाद (७०० ई०) की माण्डूक्य कारिकाओं से होता है। नवीं शती के शुरू में शंकर ने प्रस्थानत्रयी (वेदान्त सूत्र, उपनिषद् और गीता) पर अद्वितीय भाष्य लिखा। शांकर भाष्य पर वाचस्पति (नवीं श०) ने भामती नाम की एक सुन्दर टीका लिखी। वेदान्त के अन्य ग्रन्थों में श्री हर्ष (१२ वीं श०) का खण्डन-खण्ड-खाद्य, चित्सुखाचार्य (१३ वीं) की तत्त्वदीपिका, विद्यारण्य स्वामी (१४ वीं श०) की पंचदशी, मधुसूदन सरस्वती (१६ वीं श०) की अद्वैतसिद्धि, अप्पय दीक्षित (१७ वीं श०) का सिद्धान्त लेशसंग्रह उल्लेखनीय हैं। वैष्णव आचार्यों में रामानुज ने ब्रह्म सूत्रों तथा गीता पर भाष्य लिखा। वेदान्तदेशिक (१४ वीं श०) ने श्री वैष्णव मत सम्बन्धी पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थों की रचना की। मध्व तथा वल्लभ ने अपने मत समर्थक पूर्णप्रज्ञ तथा अणुभाष्य लिखे। समूचे मध्य-युग में वेदान्त पर नये-नये भाष्य लिखने का क्रम जारी रहा।

(३) सांख्य

सांख्य के मूलभूत विचार काफी प्राचीन हैं और यह द्वैतवादी होने से वेदान्त का प्रबल प्रतिपक्षी रहा है। कठ, छान्दोग्य, श्वेताश्वतर उपनिषदों में इसके अनेक सिद्धान्त बीज रूप से मिलते हैं। सांख्य का मूल अर्थ है– सम्यक् ख्याति या यथार्थ ज्ञान। यह द्वैतवादी है, इसके अनुसार प्रकृति और पुरुष ही मूल तत्त्व है, इनके परस्पर सम्बन्ध से जगत् का आविर्भाव होता है। मूल प्रकृति से सृष्ट्युत्पत्ति की प्रक्रिया इसमें बड़े विस्तार से समझाई गई है। प्रकृति सत्व, रज, तम नामक तीन गुणों की साम्यावस्था है इनमें वैषम्य होने से सृष्टि का आविर्भाव होता है। तीन गुणों का विचार सांख्य की भारतीय दर्शन को सबसे बड़ी देन है।

सांख्य दर्शन के प्रणेता महर्षि कपिल माने जाते हैं। वे उपनिषत्कालीन हैं, किन्तु इनके नाम से प्रचलित सांख्य सूत्र बहुत ही अर्वाचीन है। इसका प्राचीन और प्रसिद्ध ग्रन्थ ईश्वर कृष्ण की सांख्यकारिका है। इसका समय बहुत विवाद ग्रस्त है, प्रायः इसे पहली श० ई० का माना जाता है। यह इतना प्रसिद्ध ग्रन्थ था कि छठी श० ई० में इसका चीनी में अनुवाद हुआ। इसकी व्याख्याओं में माठर वृत्ति (२ री श० ई०) गौडपाद भाष्य तथा वाचस्पति मिश्र (नवीं श०) की तत्त्व कौमुदी उल्लेखनीय हैं। १६ वीं श. में विज्ञान भिक्षु ने सांख्य सूत्रों पर सांख्य ,प्रवचन भाष्य लिखकर सांख्य और वेदान्त का सामंजस्य किया।

(४) योग

योग दर्शन सांख्य से सम्बद्ध है। योग का अर्थ है चित्तवृत्तियों का निरोध। योग दर्शन में इनकी विस्तार से विवेचना की गई है। योग के आठ अङ्ग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि-समाधि में द्रष्टा अपने स्वरूप अवस्थित होकर कैवल्य या मुक्ति प्राप्त करता है। योग से अनेक प्रकार की सिद्धियां प्राप्त होती हैं। योग दर्शन के विभूतिपाद में इनका विस्तार से वर्णन है। सांख्य से संबन्ध

होते हुए भी योग ने ईश्वर को माना है, अतः योग को सेश्वर सांख्य भी कहा जाता है। जो पुरुष सर्वाधिक ज्ञानी क्लेश, कर्म, विपाक (कर्म फल) से मुक्त है, वही ईश्वर है। योग समाधि और मन के संयम की विधियों पर अधिक बल देता है।

भारत में योग का बहुत अधिक महत्त्व होते हुए भी योग पर बहुत कम ग्रंथ लिखे गए। वर्तमान समय में उपलब्ध योग सूत्रों के रचयिता पतंजलि (२ री श० ई० पू०) माने जाते हैं। इस पर व्यास का प्रसिद्ध भाष्य तीसरी श० ई० में लिखा गया। नवीं श० में वाचस्पति मिश्र ने व्यास भाष्य पर एक टीका लिखी। व्यास भाष्य के अतिरिक्त योगसूत्रों पर अनेक टीकाएं बनीं, इनमें राजा भोज कृत राजमार्त्तण्ड या भोज वृत्ति विशेष रूप से प्रसिद्ध है।

(५) न्याय

भारतीय दर्शनों में साहित्य की दृष्टि से वेदान्त के बाद न्याय का स्थान सबसे ऊंचा है। ४ वीं श० ई० से न्याय पर भारत में निरन्तर विचार हो रहा है। न्याय के विकास की दो धाराएं रही हैं। पहली तो सूत्रकार गौतम से प्रादुर्भूत होती है, उसे प्रमाण, प्रमेय, संशय आदि सोलह पदार्थों के विवेचन पर बल देने से पदार्थ मीमांसात्मक अथवा प्राचीन न्याय की धारा कहते हैं और दूसरी प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द का प्रमाण का सूक्ष्म विवेचन करने से प्रमाण मीमांसात्मक या नव्य न्याय धारा कहलाती है। इसके प्रवर्त्तक गंगेश उपाध्याय (१२ वीं श०) थे।

न्याय दर्शन उद्देश्य प्रमाणादि षोडश पदार्थों का ज्ञान कराना है। मुक्ति ज्ञान से होती है; किन्तु शुद्ध ज्ञान प्राप्ति के क्या साधन हैं ? न्याय ने इनका विस्तार से प्रतिपादन किया है। भारतीय साहित्य को न्याय दर्शन की सबसे अमूल्य देन शास्त्रीय विवेचनात्मक पद्धति की है। नैयायिकों ने ज्ञान के साधन प्रमाणों का विशद विशद विवेचन किया तथा हेत्वाभासों (दूषित हेतुओं)का सूक्ष्म विवरण उपस्थित कर निर्दोष ढंग से

तर्क करने की पद्धति का निर्देश किया। किन्तु न्याय दर्शन का तत्त्वज्ञान उसकी तर्क-पद्धति-जैसा उत्कृष्ट नहीं है। उसमें जगत को वास्तविक तथा आत्मा, परमाणु, मन, आकाश, काल, दिव आदि अनेक पदार्थ नित्य माने हैं। उसकी दृष्टि बहुत्व संवलित यथार्थवाद की है। जगत् का समवायी कारण परमाणु तथा निमित्त कारण ईश्वर है। न्याय परमाणुवाद में विश्वासकरता है। ईश्वर की इच्छा होने पर परमाणुओं में गति उत्पन्न होती है। एक परमाणु दूसरे से मिलकर द्व्यणुक बनाता है, तीन द्व्यणुकों से त्र्यणुक और इस प्रकार सूक्ष्म से स्थूल सृष्टि की उत्पत्ति होती है। न्यायिक के अनुसार मुक्ति में सुख-दुःख का अन्त हो जाता है।

न्याय दर्शन की उत्पत्ति मीमांसा के विचार से हुई। वर्त्तमान न्याय सूत्रों के प्रणेता गौतम (छठी श० ई० पू०) माने जाते हैं। पहले यह बताया जा चुका है कि बौद्धों का उत्तर देने के लिए वात्स्यायन (पहली या दूसरी श० ई०) ने न्याय भाष्य लिखा, इनके बाद उद्योतकर (छठी श०) वाचस्पति मिश्र (नवीं शती) जयन्त भट्ट (नवीं श०) तथा उदयनाचार्य (१० वीं श०) ने वाचस्पति मिश्र (नवीं शती) जयन्त भट्ट (नवीं शती) 'न्यायवार्तिक' न्याय वार्तिक की 'तात्पर्य टीका' 'न्याय मंजरी' तथा न्याय कुसुमांजलि द्वारा इस कार्य को पूरा किया। १३ वीं श० में 'नव्य न्याय' के प्रवर्त्तक मिथिला के गंगेश उपाध्याय ने 'तत्त्व चिन्तामणि' की रचना की। इसके बाद पांडित्य की कसौटी उदयन तथा गंगेश के ग्रन्थों की व्याख्या ही रह गई। पहले दो सौ वर्ष तक मिथिला के पण्डित नव्य न्याय का विकास करते रहे, १५ वीं शती में बङ्गाल में नवद्वीप का विद्यापीठ स्थापित हुआ। और अगले दो सौ वर्ष तक यह 'नव्य न्याय' का प्रधान केन्द्र रहा। १६ वीं, १७ वीं शतियां नव्य न्याय के इतिहास का सुवर्ण युग हैं। इसी समय बङ्गाल के धुरन्धर नैयायिक रघुनाथ शिरोमणि (१६ वीं श०) मथुरानाथ, जगदीश (१७ वीं श०) और गदाधर भट्टाचार्य (१७ वीं श०) हुए। इनकी टीकाएं भारतीय पाण्डित्य, प्रखर प्रतिभा और सूक्ष्म विवेचना-शक्ति के उत्तम उदाहरण हैं। बाल की खाल निकालने में कोई दूसरा दार्शनिक नव्य नैयायिकों को मात नहीं दे सकता।

६ वैशेषिक

वैशेषिक के प्रधान सिद्धान्त न्याय मे मिलते हैं। जगत् के सम्बन्ध में उसका दृष्टिकोण बहुत्वमिश्रित वास्तववादी है। यह सात पदार्थ (द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव) और नौ द्रव्य (पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन) मानता है। उसकी विशेषता 'विशेष' नामक पदार्थ की कल्पना है, इसीलिए यह वैशेषिक कहलाता है। पृथ्वी या जल का एक परमाणु दूसरे परमाणु से जिस विशेषता के कारण विभिन्न है, वही विशेष है। संभवतः वैशेषिक ने ही सर्वप्रथम सृष्ट्युत्पत्ति की प्रक्रिया स्पष्ट करने के लिए परमाणुवाद के सिद्धान्त का विकास किया। न्याय ने इसे वैशेषिक से ग्रहण किया।

वैशेषिक दर्शन के सूत्रकार महर्षि कणाद हैं। इनका समय तीसरी श० ई० पू० समझा जाता है। वैशेषिक सिद्धान्तों का स्वतन्त्र रूप से निरूपण प्रशस्तपाद के 'पदार्थ धर्म संग्रह' में है। इसका समय दूसरी श० ई० है। प्रशस्तपाद के ग्रन्थ पर व्योमशिवाचार्य (८ वीं श०) उदयनाचार्य (१० वीं श०) श्रीधराचार्य (१० वीं श०) वल्लभाचार्य (१२ वीं श०) ने टीकाएं लिखीं। आरम्भ में न्याय वैशेषिक पृथक थे; किन्तु दशम शती के बाद दोनों लगभग एक हो गए।

भारतीय दर्शन की विशेषता

भारतीय दर्शन का प्रधान उद्देश्य दृश्यमान विविधता में एकता का अन्वेषण है। न्याय वैशेषिक, सांख्य योग, और वेदान्त ने इसी को ढूँढने का यत्न किया है। इनकी दृष्टि क्रमशः सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम होती गई है। दर्शन का चरम विकास अद्वैतवाद में उपलब्ध होता है जिसके अनुसार सृष्टि के सभी रूप एक ही ब्रह्म से विकसित हुए हैं, जगत् के दृश्यमान बहुत्व और नानात्व में आन्तरिक एकता है। भारतीय दर्शन की सबसे बड़ी खोज और देन यही है। आज यदि संसार अनेकता के भीतर तात्विक एकता के सिद्धान्त को भली भांति हृदयंगम करले तो अणुबमों तथा प्रलयङ्कर युद्धों के भीषण त्रास से शाश्वत परित्राण पा सकता है।

सातवां अध्याय

गुप्त युग का समाज, साहित्य और विज्ञान

गुप्त युग की विशेषताएं

गुप्त युग भारतीय इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण काल है और अपनी अनेक विशेषताओं के कारण इसे भारत का स्वर्ण युग कहा जाता है। इसकी पहली विशेषता चार सौ वर्ष के विदेशी शासन के बाद देश का स्वतंत्र होना, तथा एकछत्र शासन के नीचे संगठित होना था। १०० ई० के लगभग उत्तरी-भारत में संयुक्त प्रान्त तक और पश्चिमी भारत में उत्तरी महाराष्ट्र, काठियावाड़, गुजरात और अधिकांश राजपूताने में कुशाणों और शकों का शासन था। सांस्कृतिक दृष्टि से भारतीय रंग में रंगे जाने पर भी, जातीय दृष्टि से ये विदेशी थे। कुशाणों को संयुक्त-प्रान्त से मघ और नाग राजाओं ने खदेड़ा तथा पूर्वी पंजाब से यौधेयों और कुणिन्दों ने; तीसरी शती में सासानी साम्राज्य के उत्कर्ष से कुशाण शक्ति बिलकुल क्षीण हो गई। शकों की शक्ति का महाराष्ट्र में सातवाहनों ने और राजपूताना में मालवगण ने उच्छेद किया। तीसरी शती के अन्त तक समूचा भारत विदेशी दासता से मुक्त हो गया। किन्तु उस समय तक वह अनेक छोटे-छोटे राज्यों में बँटा था। गुप्तों ने चौथी, पांचवीं शती में (३६० ई० ४६० ई०) इस देश के बड़े भाग में एकछत्र शासन और शान्ति की स्थापना की। काफी समय तक हूणों के दाँत खट्टे करके भारत को रक्षा की। इस युग की दूसरी विशेषता अभूतपूर्व समृद्धि है। इन दिनों भारत का विदेशी व्यापार बहुत उन्नत था। इससे पहले सातवाहन युग में ही रोम को भारत से इतना माल भेजा जाता था कि उसका मूल्य चुकाने के लिए उसे कई करोड़ सोने के सिक्के भारत भेजने पड़ते थे, उस समय एक रोमन लेखक ने यह शिकायत की थी कि "भारत रोम से प्रतिवर्ष साढ़े पांच करोड़ का सोना खींच लेता है और यह

'कीमत हमें अपनी विलासिता और अपनी स्त्रियों की खातिर देनी पड़ती है'।" इस युग में व्यापार अपने चरम उत्कर्ष तक पहुँच गया और खुदाइयों से मिले सोने के सिक्कों से यह प्रतीत होता है कि अन्य देशों का सोना यह बहा चला आ रहा था। तीसरी विशेषता चीन, मध्य एशिया, जावा, सुमात्रा, कोचीन, चीन, अनाम और बोर्नियो तक भारतीय धर्म और संस्कृति का विश्व-व्यापी प्रसार है। यदि आज चीन, जावा और भारत में सांस्कृतिक एकता है तो इसका कारण गुप्त युग के कुमारजीव और गुणवर्मा सदृश प्रचारक हैं। चौथी विशेषता भारतीय प्रतिभा का सर्वतोमुखी विकास तथा अभूतपूर्व बौद्धिक उत्कर्ष है। इसी युग में संस्कृत साहित्य में कालिदास-जैसे महाकवि हुए, मृच्छकटिक और मुद्राराक्षस नाटक बने, पौराणिक साहित्य ने अपना बहुत कुछ वर्तमान रूप धारण किया। दर्शन में महायान के माध्यमिक और विज्ञानवादी सम्प्रदाय, तथा वसुबन्धु, असंग आर्यदेव आदि बौद्ध तथा आचार्य सिद्धसेन दिवाकर, समन्त भद्र जैसे जैन दार्शनिक उत्पन्न हुए और भारतीय दर्शन को इन्होंने अनेक सर्वथा नवीन और मौलिक विचार प्रदान किये। विज्ञान के क्षेत्र में दशांश गणना-पद्धति और दिल्ली की लोहे की कीली इसी युग की देन हैं। पांचवीं विशेषता ललित कलाओं की चरम सीमा तक उन्नति है। अजन्ता के जगत्प्रसिद्ध चित्र इसी युग में बने। इस काल की मूर्तियाँ अगले युगों के चित्रकारों के लिए आदर्श का काम करती रहीं। छठी विशेषता यह है कि इस युग ने हिन्दू धर्म को वर्तमान रूप प्रदान किया। गुप्त सम्राटों के प्रबल प्रोत्साहन से वैष्णव धर्म का उत्कर्ष हुआ। सर्वांगीण सांस्कृतिक समुन्नति की दृष्टि से भारतीय इतिहास का कोई अन्य युग इस युग की समता नहीं कर सकता।

गुप्त युग के धर्म, शासन-प्रणाली और कला का विवेचन पांचवें, ग्यारहवें और बारहवें अध्यायों में हुआ है। अतः यहाँ केवल तत्कालीन समाज, साहित्य और विज्ञान का विवेचन किया जायगा।

१ सामाजिक दशा

भारतीय समाज का मूल आधार वर्ण-व्यवस्था समझी जाती है; किन्तु गुप्त युग तक यह बहुत लचकीली थी। जात-पांत का विचार वर्ण-व्यवस्था परिपक्व नहीं हुआ था। खान-पान, विवाह और पेशे विषयक वर्तमान कठोर व्यवस्थाएं नहीं चालू हुई थीं। इस काल की स्मृतियों में केवल शूद्रों के साथ ही खान-पान का निषेध है; किन्तु इनमें भी अपने कृषक, नाई, ग्वाले और पारिवारिक मित्र को अपवाद माना गया है। शूद्र होने पर भी इनके साथ खान-पान में कोई दोष नहीं है। उस समय समाज में प्रायः सवर्ण विवाह होने लगे थे किन्तु असवर्ण विवाहों को भी वैध माना जाता था। अनुलोम (उच्च वर्ण के पुरुष के साथ निम्न-वर्ण की स्त्री का सम्बन्ध) और प्रतिलोम (निम्न वर्ण के वर के साथ उच्च-वर्ण की कन्या का सम्बन्ध) दोनों प्रकार के विवाह प्रचलित थे। वाकाटक राजा रुद्रसेन ने कट्टर ब्राह्मण होते हुए प्रभावती गुप्ता का विवाह वैश्यजातीय गुप्त कुल में किया। ब्राह्मण कदम्बों ने भी अपनी कन्याएं गुप्तों को दी थीं। विभिन्न वर्णों के अतिरिक्त विभिन्न जातियों में भी विवाह होता था। आन्ध्र के ब्राह्मण इक्ष्वाकु राजाओं ने उज्जयिनी के शक राज-परिवार की कन्या स्वीकार की थी।

गुप्त युग में पेशों की दृष्टि से भी वर्ण-व्यवस्था के नियम सर्वमान्य नहीं हुए थे। ब्राह्मण अध्ययन-अध्यापन आदि स्मृति-प्रतिपादित छः कर्मों के अतिरिक्त व्यापार, शिल्प और नौकरी के पेशे करते थे। वे क्षत्रियों का काम करने, स्रुवा छोड़कर तलवार पकड़ने में भी संकोच नहीं करते थे। वाकाटक और कदम्ब वंशों के संस्थापक विन्ध्यशक्ति और मयूर शर्मा ब्राह्मण थे। गुप्त-सम्राट् वैश्य थे। अनेक क्षत्रिय व्यापार और व्यवसाय करते थे। इस युग में शूद्रों का काम तीनों वर्णों की सेवा नहीं था। वे व्यापारी, शिल्पी और कृषक का काम कर सकते थे। उनमें अनेक सेना में ऊंचे पदों तक पहुंचते थे।

इस काल में यद्यपि स्मृतिकार सवर्ण विवाहों पर बल दे रहे थे; किन्तु

उनकी व्यवस्था सर्वमान्य नहीं हुई थी। इसीलिए इस समय हिन्दू समाज ने बाहर से आने वाली विदेशी जातियों को अपने में पचा लिया।

विदेशियों को हिन्दू बनाना

गुप्त युग से पहले मौर्य तथा सातवाहन युगों में भारतीय समाज ने यूनानी, शक, पह्लव और कुशाण अपने में विलीन कर लिये थे। १५० ई० तक पंजाब के कुशाण और पश्चिमी भारत के शक भारतीय बन चुके थे। तीसरी शताब्दी में आन्ध्र के इक्ष्वाकु राजा के पाणिग्रहण में दोष नहीं समझते थे। गुप्त युग में भी हिन्दू समाज की पाचनशक्ति बड़ी जबर्दस्त थी, वे एक पीढ़ी में ही विदेशियों को भारतीय बना लेते थे। हूण आक्रान्ता तोरमाण का बेटा मिहिरकुल पक्का शैव था। इसी समय जावा, सुमात्रा, बोर्नियो आदि टापुओं तथा इराक और सीरिया में हिन्दू धर्म फैला हुआ था। यह संभव है कि इन सब प्रदेशों में काफी विदेशियों को हिन्दू बनाया गया हो। इन सब उदाहरणों से स्पष्ट है कि इस समय तक वर्तमान काल का यह विचार दृढ़मूल नहीं हुआ कि हिन्दू समाज में प्रवेश केवल जन्म द्वारा हो सकता है। हिन्दू धर्म से जो भी प्रभावित हो, वह हिन्दू आचार-विचार और संस्कार ग्रहण करके एक ही पीढ़ी में शादी-ब्याह द्वारा हिन्दू समाज का अभिन्न अंग बन जाता था। कट्टर ब्राह्मण भी विदेशियों के साथ विवाह बुरा नहीं समझते थे। इस प्रकार हिन्दू समाज में दूसरी जातियों को अपने में विलीन करने की सामर्थ्य गुप्त युग तक प्रचुर मात्रा में विद्यमान थी। यह शक्ति मध्य युग में बिलकुल नष्ट हो गई।

अस्पृश्यता

किन्तु वर्तमान छूत-छात उस समय में थोड़ी-बहुत मात्रा में अवश्य थी। फाहियान के वर्णन से स्पष्ट है कि चाण्डाल मुख्य बस्ती से बाहर रहते थे और बस्ती में आने पर सड़क पर लकड़ी पीटते हुए चलते थे ताकि उसके शब्द से सब लोगों को उनकी उपस्थिति का ज्ञान हो सके और वे उनके सम्पर्क से दूषित होने से बचे रहें।

गुप्त युग में बाल-विवाहों का प्रचलन काफी हो गया था। इससे पहले युगों के मनु आदि स्मृतिकार उपयुक्त वर न मिलने पर कन्या

विवाह

के पिता को उसे अविवाहित रखने की अनुमति देते हैं, किन्तु इस युग की याज्ञवल्य और नारद-जैसी स्मृतियां ऋतु काल से पहले कन्या की शादी न करने वाले अभिभावक को नरकगामी बनाती हैं। उस समय विधवा-विवाह की प्रथा भी प्रचलित थी। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने संभवतः ३७५ ई० में ध्रुवदेवी से इसी प्रकार का विवाह किया था। कुछ अवस्थाओं में स्त्री अपना पहला पति छोड़कर दूसरे पुरुष से विवाह कर सकती थी। दूसरा विवाह न करने वाली विधवाएं प्रायः ब्रह्मचारिणी रहती थीं। सती प्रथा का व्यापक प्रचार और धार्मिक महत्व न था। इस युग में सती होने का केवल एक ही ऐतिहासिक प्रमाण मिलता है। भानुगुप्त के सेनापति गोपराज की मृत्यु के पश्चात् उसकी पत्नी चिता पर चढ़ी थी।

स्त्रियों की स्थिति

उच्च वर्गों में इस समय स्त्रियों की स्थिति बड़ी उन्नत थी। वे शासन-प्रबन्ध में प्रमुख भाग लेती थीं। कुछ प्रान्तों में, विशेषतः कन्नड़ प्रदेश में, वे प्रान्तीय शासक और गाँव के मुखिया का भी कार्य करती थीं। दक्षिण में स्त्रियों को पृथक् पर्दे में रखने की परिपाटी नहीं थी। वहां के राज-परिवारों की स्त्रियां अभिलेखों में न केवल संगीत और नृत्य में प्रवीण बताई गई हैं किन्तु वे सार्वजानिक रूप से इन कलाओं में अपने नैपुण्य का भी प्रदर्शन करती थीं। कुलीन स्त्रियां उच्च शिक्षा प्राप्त करती थीं।

किन्तु यह उन्नत स्थिति उच्चवर्ग की नारियों की ही थी। साधारण स्त्रियों की दशा गिर रही थी। बाल-विवाह प्रचलित होने से उनका उपनयन असंभव हो गया। याज्ञवल्क्य ने उन्हें उपनयन और वेदाध्ययन का अनधिकारी माना। वैदिक शिक्षा न होने पर भी स्त्रियों को कला और साहित्य की शिक्षा दी जाती रही। इस युग में शील भट्टारिका आदि अनेक स्त्री लेखिकाएं और कवयित्रियां हुईं। स्त्रियों के पुराने अर्धांगिनी और समानता के आदर्श में इस युग में परिवर्त्तन आने लगा। स्त्रियों पर पति की प्रभुता बढ़ने लगी। कालिदास ने लिखा है—"पति ही स्त्री का स्वामी है, वह जो चाहे कर सकता है।"

जीवन का आदर्श

गुप्त युग की एक बड़ी विशेषता यह है कि इस समय तक भारतीयों का सामाजिक और वैयक्तिक जीवन बड़ा सन्तुलित था। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष नामक चारों पुरुषार्थों का उचित उपभोग जीवन का आदर्श समझा जाता था। बाद में भारतीय जीवन में धर्म की प्रधानता हो गई। परलोक के लिए इहलोक की उपेक्षा की जाने लगी, अधिकांश समय व्रत तथा पूजा-पाठ को दिया जाने लगा, संन्यास को उच्च और काम को हेय दृष्टि से देखा जाने लगा, किन्तु गुप्त युग तक ऐसा नहीं था। अर्थ और काम की धर्म और मोक्ष के समान महत्ता थी। समाज चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति के लिए तुल्य रूप से यत्न करता था। गुप्त युग की चौमुखी उन्नति का मूल कारण यही है। इस काल में जहां धर्म और दर्शन में उन्नति हुई, वहां साहित्य, ललित एवं उपयोगी कलाओं और विज्ञानों का भी उत्कर्ष हुआ।

२ साहित्य

गुप्त काल में संस्कृत साहित्य का अभूतपूर्व उत्कर्ष हुआ। संस्कृत के परम अनुरागी गुप्त राजाओं की शीतल छत्र-छाया उसकी सर्वांगीण समुन्नति में सहायक सिद्ध हुई। इसके प्रचार का इतना उत्साह था कि राजशेखर के कथनानुसार इन्होंने अपने अन्तःपुर में भी संस्कृत के प्रयोग का आदेश दे रखा था। यह स्मरण रखना चाहिए कि केवल इस युग में ही संस्कृत राष्ट्र-भाषा बनी। इनसे पहले के सातवाहन और इक्ष्वाकु राजा कट्टर ब्राह्मण होते हुए भी प्राकृत के पोषक थे। जैन और बौद्ध भी पाली तथा प्राकृतों का व्यवहार करते थे। किन्तु संस्कृत के विशाल शब्दकोश, तथा सर्वविध अभि-व्यंजक सामर्थ्य के कारण वे इस ओर आकृष्ट हुए। बौद्धों ने पहली दूसरी श० से संस्कृत को अपना लिया। महायान सम्प्रदाय के आचार्यों ने अपनी अथक रचनाएं इसी भाषा में कीं। संस्कृत उस समय भारत के समूचे शिक्षित वर्ग की भाषा थी। गुप्तों को इस बात का गौरव प्राप्त है कि उन्होंने इसे राजभाषा बनाया। पहले जो स्थान प्राकृतों को मिला था, वह अब

संस्कृत ने पाया। सारे देश के दार्शनिकों, कवियों, शासकों की भाषा होने से संस्कृत भारत की राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन हुई। भारत ही नहीं बृहत्तर भारत में मलाया, जावा, सुमात्रा, बालि, बोर्नियो और चीन तक उसका प्रसार हुआ। केवल गुप्त युग में संस्कृत की यह स्थिति रही है। इससे पहले प्राकृतों का प्रचार था, छठी श० ई० से दक्षिण में द्रविड भाषाएं राजकीय लेखों में इसका स्थान ले लेती है। संस्कृत साहित्य की अनेक श्रेष्ठ कृतियां इसी काल में लिखी गईं।

संस्कृत के कवि और नाटककार

संस्कृत साहित्य के अनेक प्रसिद्ध कवि इस युग में हुए। महाकवि कालिदास इसी काल के माने जाते हैं। रघुवंश, कुमार-संभव, मेघदूत नामक काव्य और मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशी तथा अभिज्ञान शाकुन्तल नामक नाटक उनकी अमर कृतियां हैं और इनमें भारतीय आदर्श जिस पूर्णता से प्रगट हुए हैं, वैसे शायद आज तक किसी अन्य रचना में नहीं हुए। वे संस्कृत के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। शूद्रक का मृच्छकटिक, विशाखदत्त का मुद्राराक्षस, भारवि का किरातार्जुनीय भर्तृहरि के नीति, शृंगार और वैराग्य शतक इसी काल की कृति हैं। समुद्रगुप्त की दिग्विजय का वर्णन हरिषेण ने अपनी प्रांजल और प्रसाद गुणयुक्त संस्कृत में किया है। संस्कृत कथा-साहित्य का एक अमर रत्न विष्णुशर्मा का पंचतन्त्र इसी युग की देन है, संसार की पचास से अधिक भाषाओं में इसके दो सौ के लगभग अनुवाद हुए हैं।

शास्त्रीय साहित्य

काव्य साहित्य के अतिरिक्त इस युग में व्याकरण आदि शास्त्रों से सम्बन्ध रखने वाला साहित्य विकसित हुआ। हिन्दुओं में पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि के ग्रन्थों का आदर था, किन्तु बौद्धों में चन्द्रगोमी नामक बङ्गाली बौद्ध भिक्षु द्वारा विरचित चन्द्र व्याकरण बड़ा लोकप्रिय हुआ। इसका आधार पाणिनि की अष्टाध्यायी है, किन्तु वैदिक स्वर-प्रक्रिया और व्याकरण छोड़ दिया गया है। इसका समय छठी श० का पूर्वार्ध है। अमरकोश एक बौद्ध अमरसिंह की कृति है। छन्द शास्त्र का विवेचन इस समय श्रुतबोध

तथा वराह मिहिर की वृद्ध संहिता तथा अग्नि पुराण में हुआ। चित्रकला का प्रतिपादन विष्णु धर्मोत्तर पुराण में किया गया। कामन्दकीय नीतिसार और वात्स्यायन का काम शास्त्र भी इसी युग की रचना है।

पुराण भारत में वैदिक युग से चले आ रहे थे। उनका एक प्रधान अंग प्राचीन वंशों का वर्णन था। गुप्त युग के प्रारम्भ में इनका नवीन संस्करण हुआ, इसमें ३५० ई० तक की घटनाएं जोड़ दी गई। ब्रह्मा, विष्णु, महेश के माहात्म्य का वर्णन किया गया, किन्तु व्रतों और अनुष्ठानों को महत्त्व देने वाला भाग अभी तक इनमें नहीं जुड़ा था।

धार्मिक साहित्य

याज्ञवल्क्य, नारद, कात्यायन, पराशर और बृहस्पति की स्मृतियां इसी युग में बनीं। इनमें याज्ञवल्क्य बड़ी सुव्यवस्थित और क्रमबद्ध स्मृति है। इसमें आचार, व्यवहार (दीवानी कानून) और प्रायश्चित्तों का तीन भागों में पृथक् वर्णन है। इस समय के दीवानी कानून के विकास की सूचना नारद और कात्यायन से मिलती है।

गुप्त काल में यहां भारतीय दर्शनों पर भाष्यों और प्रामाणिक ग्रन्थों का निर्माण हुआ। ईश्वर कृष्ण ने सांख्य दर्शन के सबसे सुन्दर और प्रामाणिक ग्रन्थ 'सांख्य-कारिका' का प्रणयन किया। न्यायभाष्य के लेखक वात्स्यायन और इस भाष्य पर न्यायवार्तिक नामक विद्वत्तापूर्ण टीका लिखने वाले उद्योतकर इसी काल की विभूति हैं। वैशेषिक का प्रसिद्ध ग्रन्थ प्रशस्तपाद कृत पदार्थ संग्रह मीमांसा के शाबर तथा योग दर्शन के व्यास भाष्य इसी काल में बने। बौद्ध दर्शन के अधिकांश श्रेष्ठ आचार्य गुप्तयुग में हुए। विज्ञानवाद के संस्थापक मैत्रेय, इस सम्प्रदाय के प्रवर्धक आचार्य वसुबन्धु माध्यमिक न्याय के जन्मदाता दिङ्नाग को उत्पन्न करने का श्रेय इसी युग को है। महायान के अन्य गुप्तकालीन आचार्यों में स्थिरमति, शंकर स्वामी, धर्मपाल, स्थविर बुद्धपालित आर्यदेव (२००-२५०), भावविवेक, चन्द्रकीर्त्ति, वैभासिक सम्प्रदाय के संघभद्र स्थविरवाद सम्प्रदाय के बुद्धघोष, बुद्धदत्त, धर्म्मपाल

दार्शनिक साहित्य

उल्लेखनीय हैं। इनके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का पिछले अध्याय में निर्देश किया जा चुका है।

जैन साहित्य के विकास की दृष्टि से गुप्त काल असाधारण महत्त्व रखता है। इस युग में सर्व प्रथम जैन-धर्म के ग्रन्थों (आगमों) को ४५३ ई० में वल्लभी में लिपिबद्ध किया गया, यह कार्य देवार्धगण के सभापतित्व में हुई जैन महासभा ने किया। इसके अतिरिक्त इस काल की दो अन्य बड़ी घटनाएं जैन न्याय का स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में विकास और जैनेन्द्र व्याकरण की रचना है। जैन न्याय के संस्थापक आचार्य सिद्धसेन दिवाकर (५ वीं शती का उत्तरार्ध, छठी, श० का पूर्वार्ध) थे। 'न्यायावतार' की रचना कर उन्होंने जैन न्याय को जन्म दिया। इनके अन्य ग्रन्थ 'सम्मति तर्क सूत्र' तथा तत्त्वार्थ टीका हैं। ये केवल नीरस विषय पर लिखने वाले शुष्क दार्शनिक ही नहीं थे, किन्तु 'कल्याण मन्दिर' आदि अनेक सरस स्तोत्रों के निर्माता हैं। 'जैनेन्द्र व्याकरण' के प्रणेता 'पूज्यपाद' देवनन्दि थे। जिस प्रकार चन्द्रगोमी ने बौद्धों के संस्कृत अध्ययन के लिए चान्द्र व्याकरण बनाया, वैसे ही इन्होंने जैन धर्मावलम्बियों के लिए जैनेन्द्र व्याकरण की रचना की। यह पाणिनि व्याकरण का ही संक्षिप्त संस्करण है। इसके छोटे और बड़े दो रूप हैं, छोटे में लगभग ३००० सूत्र हैं और बड़े में ३७६०। गुप्त युग के अन्य जैन आचार्यों जिन भद्रगणि, सिद्धसेन गणि और समन्तभद्र उल्लेखनीय हैं। समन्तभद्र अपने समय (५ वीं श०) के प्रकाण्ड जैन दार्शनिक थे। उन्होंने 'युनुद्ध्यशासन' में जैन दर्शन के सिद्धातों की विवेचना की है। 'स्याद्वाद' की प्रसिद्ध विचार धारा का जन्म इसी काल में हुआ।

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि गुप्त युग न केवल हिन्दू धर्म और साहित्य की उन्नति का काल था, अपितु बौद्ध और जैन संस्कृत वाङ्मय का भी चरम उत्कर्ष इस काल में हुआ। यह तीनों धर्मों के साहित्य का समान रूप से स्वर्ण युग है।

३ वैज्ञानिक उन्नति

गुप्त युग में भारत ने वैज्ञानिक क्षेत्र में असाधारण प्रगति और अनेक

नवीन आविष्कार किये। प्राचीन काल में इससे पहले या इसके बाद किसी अन्य युग में उपयोगी शिल्पों तथा विज्ञानों का इतना उत्कर्ष नहीं हुआ। इसीलिए भारत उस समय वैज्ञानिक दृष्टि से संसार का नेता और अग्रगण्य देश बना। प्रायः ह कहा जाता है कि भारतीय सदा आध्यात्मिक तत्त्व-चिन्तन में ही डूबे रहते थे; किन्तु गुप्त युग में प्रायः सभी भौतिक विज्ञानों का उच्चतम विकास इस धारणा का खण्डन करता है।

गणित

अंकगणित के क्षेत्र में गुप्त युग की सबसे बड़ी खोज और देन दशगुणोत्तर अंक लेखन-पद्धति थी। चौथी शती ई० में भारत ने इसका आविष्कार किया। इसमें पहले नौ अंकों और शून्य द्वारा सब संख्यायें प्रकट की जाती हैं, नौ अंक समाप्त होने पर एक के आगे शून्य बढ़ाकर दस बना लिया जाता है दाईं ओर शून्य जोड़कर दहाई, सैंकड़ा, हजार आदि संख्याएं प्रकट की जाती हैं। अंकों का मान उनकी स्थिति पर होता है। अब हमारे लिए यह पद्धति इतनी स्वाभाविक हो गई है कि हम यह कल्पना नहीं कर सकते कि हमारे पूर्वजों को इस प्रणाली के आविष्कार से पहले १११ लिखने के लिए कितना झंझट करना पड़ता था। उन दिनों नौ अंकों के अतिरिक्त, दस, बीस, तीस चालीस, पचास, सौ, हजार आदि के लिए पृथक् चिह्न थे। उपर्युक्त संख्या लिखने के लिए उन्हें एक, दस और सौ के अंकों को जोड़कर लिखना पड़ता था, ठीक वैसे ही जैसे घड़ियों पर रोमन अंकों में छः या ग्यारह के लिए क्रमशः पांच और एक के सूचक वी ( ) तथा आई ( ) और दस तथा एक के चिह्न एक्स ( ) तथा ( ) जोड़ने पड़ते हैं। भारतीय आविष्कार से पहले विभिन्न संख्याओं के सूचक चिन्ह जोड़ कर बनाया जाता है। यह पद्धति बहुत ही जटिल थी। योरोप में १२ वीं शती तक इसी का प्रयोग होता था। भारत से दशगुणोत्तर अंक लेखन अरबों ने सीखा और उन्होंने इसे योरोप वालों को सिखाया। योरोपियन इसीलिए इन्हें अरबी अंक कहते हैं और स्वयं अरब वाले भारत (हिन्द) से ग्रहण करने के कारण इन्हें 'हिन्दसा' का नाम देते हैं। इब्न वशिया (नवीं श०) अलमसूदी (१० वीं श०) अलबेरूनी (११ वीं श०) इस अंक लेखन की

खोज का श्रेय भारतीयों को देते हैं। यह अब तक ठीक तरह ज्ञात नहीं हुआ कि भारत में इसका आविष्कार किसने, कब और कैसे किया ? किन्तु पांचवीं श० आर्यभट (४९९ ई०) के ग्रन्थों में इसका स्पष्ट उल्लेख है, अतः उससे कम-से-कम एक शती पहले इसका आविष्कार हो चुका होगा। इससे गणित की गणनाओं में बड़ी सुविधा हुई, अतः इसे सब गणितज्ञों ने ग्रहण किया, आर्यभट ने वर्गमूल और घनमूल निकालने की पद्धति इसी विधि के आधार पर दी है। साधारण जनता में इसका प्रयोग प्रचलित होने में काफी समय लगा। ६९५ ई० के संखेद अभिलेख में सर्व प्रथम इसका व्यवहार किया गया है।

गुप्त युग के गणित पर प्रकाश डालने वाली केवल दो रचनाएं हैं—बख्शाली पोथी और आर्यभट का आर्यभटीयम्। पेशावर शहर के पास बख्शाली गाँव में जमीन खोदते हुए एक किसान को १८८१ ई० में पहली पोथी मिली थी, यह बड़ी खण्डित दशा में है, दूसरी पुस्तक प्रसिद्ध ज्योतिषी आर्यभट की ४९९ ई० में पाटलिपुत्र में लिखी कृति है। इनमें न केवल भिन्न, वर्गमूल, घनमूल आदि प्रारम्भिक नियमों का वर्णन है किन्तु साधारण संख्याओं वर्गों और घनों की अंक गणितीय श्रेणी धात क्रिया, मूल क्रिया आदि जटिल विषयों का भी विवेचन है। ज्यामिति के क्षेत्र में वृत्त और त्रिभुजों की महत्त्व-पूर्ण विशेषताओं का संकेत होने से यह स्पष्ट है कि भारतीय यूक्लिड की ज्यामिति की पहली चार पुस्तकों के अधिकांश साध्यों का ज्ञान रखते थे। आर्यभट के ग्रन्थ में प्रलम्बात्मक ज्यामिति के प्रश्नों का विवेचन है तथा पाई का (॥) मान भी उस समय तक निकाले गए अन्य मानों से अधिक शुद्ध है। बीज गणित में चार अज्ञात राशियों के समकालिक समीकरणों तथा एकधातिक अनिर्धारित गुणकों का हल ढूंढ लिया गया था।

सब विद्वान् इस बात को स्वीकार करते हैं कि भारतीय इस युग में गणित की तीन में दो शाखाओं अंकगणित और बीजगणित में अपने समसामयिक यूनानियों से आगे बढ़े हुए थे।

गुप्त युग का सबसे बड़ा ज्योतिषी आर्यभट ४७६ ई० में पाटलिपुत्र में

ज्योतिष

उत्पन्न हुआ, २३ वर्ष की आयु में इसने अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ 'आर्यभटीयम्' लिखा। वह भारत के महान् वैज्ञानिकों में से है। उसने सिकन्दरिया के यूनानी ज्योतिषियों के सिद्धान्तों का भी गहरा अध्ययन किया था। वह यह ज्ञात करने वाला पहला भारतीय था कि पृथ्वी अपने अक्ष के चारों ओर घूमती है। उसने सर्व प्रथम ज्योतिष में जीवा का उपयोग ज्ञात किया, ग्रहों तथा ग्रहणों संबन्धी अनेक गणनाएं कीं। उसने जो वर्षमान निकाला, वह यूनानी ज्योतिषी टालमी द्वारा निकाले काल से अधिक शुद्ध है। यही एक भारतीय ज्योतिष की उत्कृष्टता का पर्याप्त एवं पुष्ट प्रमाण है। इस काल का दूसरा ज्योतिषी वराहमिहिर छठी श० के उत्तरार्ध में हुआ। उसने अपने 'पंच सिद्धान्तिका' में तीसरी चौथी शतियों में भारत में प्रचलित विभिन्न सिद्धान्तों का परिचय दिया है। इस समय भारत पर यूनानी ज्योतिष का भी प्रभाव पड़ा, संस्कृत ने केन्द्र, हारिज, द्रेकाण आदि शब्द यूनानी भाषा से ग्रहण किये, ज्योतिष के प्राचीन पांच सिद्धान्तों में एक रोमक (रोमदेशोय) भी है। भारतीय यूनानी ज्योतिषियों की बड़ी प्रतिष्ठा करते थे किन्तु यह सब होते हुए यूनान का प्रभाव अत्यल्प और नगण्य था। भारतीय स्वतन्त्रतापूर्वक गणनाओं द्वारा जिन परिणामों पर पहुँचे थे, वे यूनानियों के परिणामों से अधिक शुद्ध थे।

आयुर्वेद

चरक और सुश्रुत दूसरी श० ई० तक बन चुके थे, इस युग में छठी श० ई० में इन दोनों संहिताओं का सार वाग्भट ने अष्टांग संग्रह में दिया। इस युग का दूसरा प्रसिद्ध ग्रन्थ 'नवनीतकम्'है। यह १८९० ई० पूर्वी तुर्किस्तान में कूचा से मिला था। इसमें भेल, चरक, सुश्रुत संहिताओं के उपयोगी नुस्खों और योगों का संग्रह है। जो बौद्ध प्रचारक मध्य एशिया में प्रचार करने जाते थे, वे संभवतः इस ग्रन्थ का प्रयोग करते थे। इसमें लहसुन के गुणों का वर्णन तथा सर्व विष का प्रभाव दूर करने के मंत्र है। आयुर्वेद में प्रधान रूप से चिकित्सा के लिए वानस्पतिक ओषधियों का प्रयोग होता था किन्तु पारे तथा अन्य धातुओं के योगों का प्रयोग प्रचलित हो रहा था। पशु-चिकित्सा पर भी इस युग के पिछले भाग में

पालकाप्य का 'हस्त्यायुर्वेद' लिखा गया। इसके १६० अध्यायों में हाथियों की प्रधान बीमारियों, उनके लक्षण तथा उनका औषध एवं शल्योपचार दिया हुआ है।

रसायन और धातुशास्त्र

दूसरी श० ई० में आचार्य नागार्जुन ने न केवल माध्यमिक सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्तों को जन्म दिया किन्तु रसायन और धातुशास्त्र का भी गहरा अध्ययन करके इन शास्त्रों की उन्नति का श्री गणेश किया। वे लोहशास्त्र के प्रणेता माने जाते हैं। इस युग में उनके शिष्यों ने इसकी खोज जारी रखी होगी। हमें उनका विस्तृत ज्ञान नहीं, किन्तु इस युग के लोहशास्त्र की उन्नति का ज्वलन्त प्रमाण कुतुब मीनार के पास की लोहे की कीली है। २४ फी० ऊंची और ६॥ टन भारी इस लाट ने पाश्चात्य विद्वानों को आश्चर्य में डाला हुआ है। पश्चिम में लोहे के इतने बड़े स्तम्भों की ढलाई पिछली शती से ही होने लगी है। जंगरहित लोहा इस सदी की खोज है किन्तु यह कीली १५०० वर्ष की वर्षाएं झेलने के बाद भी वैसी ही खड़ी हुई है। इसे किस प्रकार बनाया गया, यह रहस्यमयी गुत्थी आज तक नहीं सुलझ सकी। छठी श० के अन्त में नालन्दा में ८० फुट ऊंची बुद्ध की ताम्र प्रतिमा थी, इस काल की ७॥ फुट ऊंची बुद्ध मूर्त्ति बरमिंघम में है। ये मूर्त्तियां भी धातुशास्त्र की उन्नति सूचित करती हैं।

शिल्प तथा अन्य विज्ञान

शिल्प शास्त्र का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'मानसार' इसी युग की रचना मानी जाती है। वराहमिहिर की 'बृहत्संहिता' से अन्य अनेक विज्ञानों पर प्रकाश पड़ता है। यह ग्रन्थ एक प्रकार का विश्वकोश है और वराहमिहिर प्रायः सब विज्ञानों में प्रवेश रखने वाले असाधारण विद्वान् थे। वे न केवल धातुशास्त्र रत्न विद्या का उल्लेख करते हैं, किन्तु वनस्पति-शास्त्र, भवन-निर्माण एवं स्थापत्य और ऋतुविज्ञान का भी वर्णन करते हैं। यदि वराहमिहिर विविध विज्ञानों के अध्ययन के लिए सम्प्रदाय स्थापित कर जाते और उनकी शिष्य-परम्परा गुरु की भांति वैज्ञानिक शोध में तत्पर रहती तो भारत मध्य एवं वर्त्तमान

काल में भी विज्ञान की उन्नति में बहुत सहायक सिद्ध होता।

गुप्त युग में भारत की जो सर्वांगीण सांस्कृतिक समुन्नति हुई उसके प्रेरक कारण क्या थे। इस काल में भारतीय प्रतिभा का सर्वतोमुखी विकास क्यों हुआ? इसका पहला कारण गुप्त सम्राटों का प्रबल विद्यानुराग और विद्वानों का संरक्षण था। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की सभा में 'नवरत्न' विद्यमान थे, समुद्रगुप्त की कलाप्रियता उसके सिक्कों से स्पष्ट है, नालन्दा-विश्वविद्यालय की स्थापना का श्रेय कुमारगुप्त (४१४-४५४) को है। दूसरा कारण इस काल की शान्ति और समृद्धि थी। साहित्य और कलाओं की उन्नति इन्हीं अवस्थाओं में होती है 'शस्त्रेण रक्षिते राष्ट्रे शास्त्र चिन्ता प्रवर्त्तते'। तीसरा कारण विदेशों से संबन्ध और संपर्क था। चीन और रोमन साम्राज्य से भारत के सांस्कृतिक और व्यापारिक सम्बन्ध थे। इतिहास में प्रायः यह देखा गया कि दो विभिन्न संस्कृतियों का सम्पर्क या संघर्ष बौद्धिक एवं कलात्मक क्रियाशीलता को प्रोत्साहित करता है। हम ऊपर देख चुके हैं कि इस युग में हिन्दू और बौद्ध दार्शनिकों के विचार-विमर्शात्मक आघात-प्रत्याघात से उच्चकोटि का दार्शनिक साहित्य पैदा हुआ। यही दशा संस्कृतियों के संघर्ष में होती है। चौथा कारण भारतीयों के दृष्टिकोण की विशालता, आत्माभिमान का अभाव, ज्ञान का असाधारण अनुराग और नम्रता थी। वे प्रत्येक जाति से ज्ञान और सचाई लेने को उत्सुक रहते थे वराहमिहिर ने लिखा था 'यवन (यूनानी) म्लेछ हैं, पर उनमें (ज्योतिष) शास्त्र का ज्ञान है, इस कारण वे ऋषियों की तरह पूजे जाते हैं।' आर्यभट ने म्लेच्छ यूनानियों की ज्योतिष का अध्ययन किया था। पांचवां कारण स्वतन्त्रता पूर्वक ज्ञान और विज्ञान के अन्वेषण की प्रवृत्ति थी। बौद्धों ने किसी शास्त्र से बंधे बिना दर्शन के क्षेत्र में ऊंची-से-ऊंची उड़ानें लीं। आर्यभट ने यद्यपि अपने से पूर्ववर्त्ती भारतीय और यूनानी दार्शनिकों के ग्रन्थ पढ़े, किन्तु उसने उनका प्रमाण नहीं माना, उनका अन्धानुसरण नहीं किया उसका कहना था—"ज्योतिष के सच्चे और झूठे सिद्धान्तों के समुद्र में मैंने गहरी डुबकी लगाई है, अपनी बुद्धि की नौका से मैं सत्य-ज्ञान के बहुमूल्य मोती निकाल लाया हूँ।"

गुप्त युगीन उन्नति के कारण

आठवां अध्याय

बृहत्तर भारत

बृहत्तर भारत का स्वरूप और क्षेत्र

प्राचीन काल में भारतीय संस्कृति भारत की सीमाओं को पार कर जिस विशाल प्रदेश में फैली, उसे बृहत्तर भारत कहते हैं। इसमें साइबेरिया से सिंहल (श्री लंका) और ईरान तथा अफगानिस्तान से प्रशान्त महासागर के बोर्नियो और बालि टापुओं तक का विशाल भूखण्ड है। पुराने जमाने में महत्त्वाकांक्षी भारतीय राजा अपनी विशाल सेनाओं द्वारा भीषण रक्तपात करके चारों दिशाओं के भूपतियों को परास्त कर दिग्विजय किया करते थे; किन्तु भारतीय संस्कृति ने रक्त की एक भी बूंद बहाये बिना भारत के साहसी आवासकों, भिक्षुओं, धर्मदूतों और व्यापारियों द्वारा एक विलक्षण दिग्विजय की। सबसे पहले दक्षिण में लंका को भारतीय संस्कृति के रंग में रंगा गया। पूर्व दिशा में बर्मा, स्याम, चम्पा (अनाम), कम्बोज (कम्बोडिया), मलाया, जावा, सुमात्रा, बालि, बोर्नियो तक के भूखण्ड भारतीय आवासकों ने बसाये, यहां अनेक शक्तिशाली हिन्दू राज्य और साम्राज्य स्थापित हुए, यहां के मूल निवासियों ने भारतीय संस्कृति का पाठ पढा। प्राचीन काल में दक्षिण पूर्वी एशिया का यह भूभाग भारत का ही अंग समझा जाता था। उस समय यूनानी इसे 'गंगापार का हिन्द' कहते थे, आजकल यह 'परला हिन्द' कहलाता है। उत्तर दिशा में सम्पूर्ण मध्य एशिया और अफगानिस्तान में—जहां आजकल प्रधान रूप से इस्लाम की तूती बोलती है—भगवान् बुद्ध की उपासना होती थी। मध्य एशिया से भारतीय सभ्यता के इतने अधिक अवशेष मिले हैं कि भारत के उत्तर में बसे इस प्रदेश को 'उपरले हिन्द' का नाम दिया जा सकता है। पश्चिम में ईरान को भारतीय आर्यों के सजातीय पारसियों ने आबाद किया, पश्चिमी देशों से व्यापारिक सम्बन्ध होने

के कारण मिस्री, यूनानी और अरब संस्कृतियों पर भारत ने पर्याप्त प्रभाव छोड़ा।

सांस्कृतिक प्रसार के प्रेरक कारण और साधन

सांस्कृतिक प्रसार के दो प्रधान प्रेरक कारण थे। (१) आर्थिक—वित्तैषणा और व्यापार मनुष्यों को दूर-दूर के देशों में जाने और भीषण संकट उठाने के लिए प्रेरणा देता था। हिन्द-महासागर में भारत की केन्द्रीय स्थिति होने से, वह पुरानी दुनिया के सभ्य देशों के समुद्री रास्तों के ठीक बीचों-बीच पड़ता था। यहां के निवासी पश्चिम में सिकन्दरिया और पूर्व में चीन के समुद्र तक व्यापार के लिए जाते थे। उन दिनों यह समझा जाता था कि बरमा, मलाया, जावा, सुमात्रा में सोने की खानें हैं और इस प्रदेश को सुवर्ण भूमि और सुवर्णद्वीप कहा जाता था। अन्य भी जहां कहीं सोने की या सम्पत्ति की आशा होती, भारतीय व्यापारी वहां जाते थे। इनका जिन वनेचर और असभ्य जातियों से सम्पर्क होता, उन पर इनकी संस्कृति का स्वाभाविक रूप से गहरा असर पड़ता। (२) दूसरा कारण लोक-कल्याण की कामना और धर्म-प्रचार की भावना थी। इससे अनुप्राणित हो ऋषि-मुनि और बौद्ध भिक्षु विदेशों की जंगली जातियों में जाते और भीषण बाधाओं के बावजूद उन्हें सभ्य और उन्नत बनाते। अशोक द्वारा प्रचालित धर्म-विजय की नीति से संघटित रूप से भिक्षुओं को दूसरे देशों में बौद्ध मत का प्रचार करने के लिए भेजा जाने लगा। इस प्रकार सांस्कृतिक प्रसार के तीन मुख्य साधन व्यापारी, उपनिवेशक और धर्मदूत थे। व्यापारी जहां जाते, वहां अज्ञात रूपेण उनके साथ भारत का सांस्कृतिक प्रभाव भी पहुँचता था। उपनिवेशन का आशय दूसरे देशों में भारतीयों का स्थायी रूप से बस जाना था। यह कार्य या तो कौण्डिन्य और अगस्त्य-जैसे ऋषि-मुनि विदेशों में अपने आश्रम और तपोवन स्थापित करके करते या क्षत्रिय राज-कुमार हिन्दू राज्यों की नींव डालकर। सुवर्ण द्वीप में इस प्रकार के अनेक भारतीय राज्य स्थापित हुए थे। व्यापारी विदेशों में भारतीय संस्कृति का बीज डालते और हिन्दू राज्य इसे वहां सुदृढ़ करते थे। किन्तु चीन मंगोलिया-

जैसे देशों ने धर्मदूतों और प्रचारकों के अनथक अध्यवसाय और भगीरथ प्रयत्न से बौद्ध धर्म ग्रहण किया।

सांस्कृतिक प्रसार का क्रम

भारत की सीमाओं से बाहर भारतीय संस्कृति सर्व प्रथम श्रीलंका में फैली, दक्षिण दिशा में बृहत्तर भारत की यही सीमा थी क्योंकि 'इसके बाद वह समुद्र प्रारम्भ होता है जिसका भूमण्डल की समाप्ति के साथ भी अन्त नहीं होता।' उपरले हिन्द में तीसरी श० ई० पू० से भारतीयों ने मध्य एशिया में उपनिवेश बसाने शुरू किये, पहली श० ई० में भारतीय संस्कृति चीन पहुँची, वहां से कोरिया और छठी श० ई० में कोरिया से जापान। सातवीं शती में इसने तिब्बत में प्रवेश किया और तिब्बती धर्म-दूतों ने इसे १३ वीं श० में मंगोलों तक पहुँचाया। इनसे यह मंगोलिया, मंचूरिया और साइबेरिया तक फैल गई। 'परले हिन्द' में ईसा की पहली शतियों में हिन्द चीन, मलाया प्रायद्वीप, जावा, सुमात्रा आदि टापुओं में हिन्दू राज्य स्थापित हुए, और भारतीय संस्कृति का प्रसार हुआ। ये राज्य लगभग डेढ़ हजार वर्ष तक बने रहे १६ वीं श० में इस्लाम ने इनका अन्त किया और इनकी समाप्ति के साथ यहां से हिन्दू संस्कृति का भी लोप हो गया। पश्चिम दिशा में भारत का दक्षिण, उत्तर और पूर्वी दिशाओं का-सा गहरा प्रभाव नहीं पड़ा, किन्तु लघु एशिया, ईरान, ईसाइयत, इस्लाम पर थोड़ा सा असर पड़ा। इन सब का अत्यन्त संक्षेप में यथाक्रम वर्णन किया जायगा।

श्रीलंका

भारतीय अनुश्रुति के अनुसार श्रीलंका में सर्वप्रथम भारतीय संस्कृति का संदेश ले जाने वाले श्री रामचन्द्र थे, किन्तु सिंहली इतिहास यह मानते हैं कि छठी श० ई० पू० में काठियावाड़ के राजकुमार विजय के नेतृत्व में भारतीयों ने इस टापू का उपनिवेशन आरम्भ किया। तीसरी श० ई० पू० के मध्य में सम्राट् अशोक ने लंका में बौद्धधर्म के प्रचार के लिए अपने पुत्र महेन्द्र को भेजा। लंका का राजा देवानाम्प्रिय तिस्स (२४७—२०७ ई० पू०) उसका शिष्य बना,

रानी अतुला भी भिक्षु बनना चाहती थी। अतः तिस्स ने अशोक के पास दूत भेजकर यह प्रार्थना की कि वह स्त्रियों को भिक्षुणी बनाने के लिए अपनी पुत्री संघमित्रा को तथा बोधि वृक्ष की एक शाखा लंका भेजे। अशोक द्वारा भिजवाई बोधिवृक्ष की शाखा अनुराधापुर के एक विहार में रोप दी गई, उस से उगा पेड़ आज भी विद्यमान है और संसार के प्राचीनतम वृक्षों में से गिना जाता है। इसके साथ ही महेन्द्र और संघमित्रा द्वारा लंका में लगाई गई बौद्धधर्म की शाखा आज बोधिवृक्ष की भांति विशाल बन गई है।

तीसरी श० ई० पू० से लंका में बौद्धधर्म का तेजी से प्रसार होने लगा। राजाओं ने उसे पूरा संरक्षण प्रदान किया। उस समय से यह उस उपदेश का राष्ट्रीय धर्म है। उसे इस बात का श्रेय है कि उसने बौद्धधर्म की ज्योति को पिछले २२०० वर्षों में प्रतिकूल परिस्थितियों के प्रबल झंझावत में भी अनवच्छिन्न रूप से प्रदीप्त रखा है। महात्मा बुद्ध की जन्मभूमि भारत में उनके धर्म का लोप हो गया, अतः जब अन्य देशों को इसका आलोक पाने की आवश्यकता हुई तो लंका ही उनका गुरु बना। यह स्मरण रखना चाहिए कि प्रचीनकाल में संस्कृति का मूल आधार धर्म ही था, वर्णमाला, भाषा, साहित्य, कला, शिल्प सब उसी के साथ मनुष्य को सुसंस्कृत और सभ्य बनाने वाली कलाएं स्वतः पहुंच जाती थीं। बौद्धधर्म ने लंका को ब्राह्मी लिपि तथा पालि भाषा प्रदान की, वहां वास्तु, चित्र, मूर्ति कलाओं का श्रीगणेश विकास और परिपाक किया, परस्पर संघर्ष करने वाली विविध जातियों में सांस्कृतिक एकता उत्पन्न कर उन्हें एक सूत्र में पिरोया। लंका में धर्म, साहित्य और कला का कोई क्षेत्र नहीं छोड़ा, जहां भारत ने अपना प्रभाव स्पष्ट रूप से अंकित न किया हो।

उपरला हिन्द

मध्य-एशिया

तीसरी श० ई० पू० में अशोक के समय से भारतीयों ने मध्य एशिया (चीनी, तुर्किस्तान या तिंकियांग) में भारतीय बस्तियां बसाना शुरू कर दिया था। फाहियान के यात्रा-विवरण तथा इस प्रदेश की आधुनिक खुदाइयों से यह प्रतीत होता

है कि ईसा की पहली शतियों में भारतीय यहां फैल रहे थे और पांचवीं शती तक समूचा मध्य एशिया भारतीय बन चुका था। फाहियान के शब्दों में लोबनोर झील के पश्चिम की सब जातियों ने भारतीय धर्म और भाषा को ग्रहण कर लिया था। चीनी तुर्किस्तान का अधिकांश भाग मरुस्थल है, केवल दक्षिण और उत्तर में नदियों के किनारे कुछ शाद्वल प्रदेशों में बस्तियां बसी हुई हैं। दक्षिण में काशगर और यारकन्द तथा खोतन उत्तर में कूचा, कराशहर और तुरफान प्रधान बस्तियां थीं। इनमें खोतन तथा कूचा ने चीन तक भारतीय संस्कृति के प्रसार में बड़ा महत्त्वपूर्ण भाग लिया, दक्षिण में खरोष्ठी लिपि और प्राकृत का प्रचार था; उत्तर में ब्राह्मी लिपि और संस्कृत का।

तीसरी श० ई० तक खोतन बौद्ध धर्म का प्रसिद्ध केन्द्र बन चुका था। खोतन में तथा निया, चर्चन आदि अन्य दक्षिणी बस्तियों मे उत्तर-पश्चिमी भारत से इतने अधिक भारतीय आ बसे थे कि यहां की राजभाषा प्राकृत और राजलिपि खरोष्ठी हो गई, चीन की सीमा तक इसका प्रयोग होता था। इस प्रदेश से मिले ८०० के लगभग लेख छप चुके हैं और ये यहां पर भारतीय संस्कृति के गहरे प्रभाव को सूचित करते हैं। यहां से मिले पत्रों में न केवल भीम, आनन्दसेन, बुद्धघोष आदि भारतीय नाम हैं किन्तु लेखहारक, दूत, चर, दिविर (लेखक) आदि भारतीय सरकारी पद और संज्ञाएं भी मिलती हैं। राजा को महाराज, देवपुत्र, प्रियदर्शन, देवमनुष्य से पूजित के विशेषण दिये गए हैं। राजाज्ञाएं प्रायः इस वाक्य से प्रारम्भ होती हैं— महारायः लिहति (महाराजः लिखति)। मूर्त्ति और चित्रकला के सब नमूने भारतीय आदर्श पर हैं।

उत्तरी बस्तियों में कूचा प्रधान थी। इसे बौद्धधर्म का केन्द्र बनाने का बहुत बड़ा श्रेय कुमारजीव नामक बौद्ध भिक्षु को है। यह एक भारतीय राज्य के मंत्री कुमारायण का बेटा था और माता ने इसे काश्मीर के महान् बौद्ध आचार्यों से शिक्षा दिलवाई थी। ३८३ ई० में चीनियों ने कूचा पर आक्रमण किया, वे कुमारजीव को पकड़कर ले गए, चीन के राजा ने इसका

बड़ा सम्मान किया, इसे संस्कृत ग्रन्थों का चीनी अनुवाद करने का कार्य सौंपा। ४१२ ई० में अपनी मृत्यु तक ये ६८ ग्रन्थों का भाषान्तर कर चुके थे। कूचा तथा अन्य उत्तरी बस्तियों से महायान सम्प्रदाय के बौद्ध धर्म-ग्रन्थों के अतिरिक्त प्रसिद्ध बौद्ध आचार्य अश्वघोष के दो नाटकों के भी कुछ अंश मिले हैं। कूचा आदि बस्तियों के राजा बौद्धधर्म के भक्त थे, वे हरिपुष्प, सुवर्णपुष्प आदि भारतीय नाम रखते थे। चौथी श० ई० में कूचा में ही बौद्ध मन्दिरों की संख्या दस हजार के लगभग थी।

चीन

चीन जनसंख्या की दृष्टि से दुनिया का पहला और क्षेत्रफल की दृष्टि से दूसरा देश है। भारत ने इतनी अधिक जनसंख्या और इतने विस्तृत भूखण्ड को अपनी संस्कृति के रंग में रंगा, यह वास्तव में उसके लिए बड़े अभिमान की बात है। चीन में बौद्ध धर्म का संदेश ले जाने का श्रेय कश्यप मातंग और धर्मरत्न नामक बौद्ध भिक्षुओं को दिया जाता है। सम्राट् मिंगती (५७—७६ ई०) ने इनके लिए राजधानी के पो-मा-सी नामक विहार बनवाया। इन धर्मदूतों ने यहां रहते हुए बौद्धधर्म ग्रन्थो के चीनी अनुवादों से इस महादेश की सांस्कृतिक विजय प्रारम्भ की। २१४ ई० तक बौद्ध भिक्षुओं द्वारा ३५० पोथियों का अनुवाद हो चुका था। १२०० वर्षों तक भारतीय विद्वान् अपार कष्ट झेलते हुए चीन जाकर संस्कृत ग्रन्थों का चीनी भाषान्तर करते रहे। जापानी विद्वान नानजियो के मिंग वंशीय त्रिपिटक की प्रसिद्ध सूची में चीनी में अनूदित १६६२ संस्कृत ग्रन्थों का वर्णन है। इस सूची के छपने के बाद बीसियों अन्य नये ग्रन्थ मिले हैं। सुखावती व्यूह, वज्रच्छेदिका आदि बीसियों ऐसे ग्रन्थ हैं जो भारत में लुप्त हो चुके हैं, इनका उद्धार चीनी अनुवादों से हो रहा है। अश्वघोष, नागार्जुन आदि प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिकों की जीवनियों का ज्ञान भी हमें चीनी साहित्य से हुआ है।

२६५ ई० तक चीन में बौद्ध धर्म का प्रसार शनैः-शनैः हुआ, तीसरी से छठी शताब्दी ई० तक यह वहां बड़ी तेजी से फैला। छठी शताब्दी ई० के प्रारम्भ में चीन के अशोक वू-ती (५०२-५४९ ई०) ने बौद्ध धर्म को प्रबल

राज संरक्षण दिया। कुछ बातों में वह मौर्य सम्राट् से भी आगे निकल गया। उसने अपने राज्य में न केवल प्राणि-वध बन्द कराया; किन्तु कपड़ों पर जानवरों के चित्रों की कढाई भी राजाज्ञा द्वारा निषिद्ध ठहराई; क्योंकि कपड़ों की कटाई होने पर उनकी हत्या की संभावना थी! ऐसे कट्टर बौद्ध सम्राटों के प्रबल संरक्षण का यह फल हुआ कि छठी शताब्दी में चीन में बौद्ध-मन्दिरों की संख्या ३० हजार हो गई और २० लाख व्यक्ति बौद्ध पुरोहित बने। एक चीनी ऐतिहासिक के शब्दों में उस समय तक प्रत्येक घर बौद्ध बन चुका था। इतने अधिक व्यक्ति भिक्षु बनते थे कि मजदूरों के अभाव में खेती का काम उपेक्षित हो रहा था। तांगवंश का समय (६१८-९०७ ई०) चीन में बौद्ध धर्म का स्वर्ण युग था। तांगवंशी सम्राटों की इस धर्म के प्रति भक्ति पराकाष्ठा तक पहुंची हुई थी। इसी वंश के समय में युआन च्वांग भारत आया और यहां से ६५७ पुस्तकें ले गया, उससे पहले फाहियान आदि तथा बाद में इत्सिंग प्रभृति सैंकड़ों श्रद्धालु चीनी भारत की तीर्थ-यात्रा करने आये। ६६४-९७६ के बीच में इनकी संख्या २०० थी।

१३ वीं शती में मंगोल सम्राटों ने बौद्ध धर्म स्वीकार किया। मंगोलों द्वारा इसका प्रसार मंगोलिया, मंचूरिया और साइबेरिया में हुआ।

कोरिया तथा जापान

बौद्ध धर्म चीन से कोरिया पहुंचा, पांचवीं शती तक सारा कोरिया बुद्ध का उपासक बन चुका था। छठी [illegible] के एक राजा ने जापानी [illegible] के लिए उसे क[illegible] (५२२ ई०) इनमें बौद्ध धर्म के ग्रन्थ तथा मूर्त्तियां भी थीं। इसके साथ ही एक पत्र में बौद्ध धर्म स्वीकार करने का अनुरोध था। शुरू में जापान में इसका कुछ विरोध हुआ; किन्तु शीघ्र ही इसे राज-संरक्षण मिलने लगा। सम्राट् शोमू (७२४-७५६ ई०) ने अपार धन-राशि का व्यय कर बुद्ध की एक बहुत बड़ी कांस्य प्रतिमा बनवाई। यह दुनिया की विशालतम प्रतिमा है, इसकी ऊंचाई ५३½ फीट है। समूचे मध्यकाल में बौद्ध धर्म को राजाओं का समर्थन मिलता रहा।

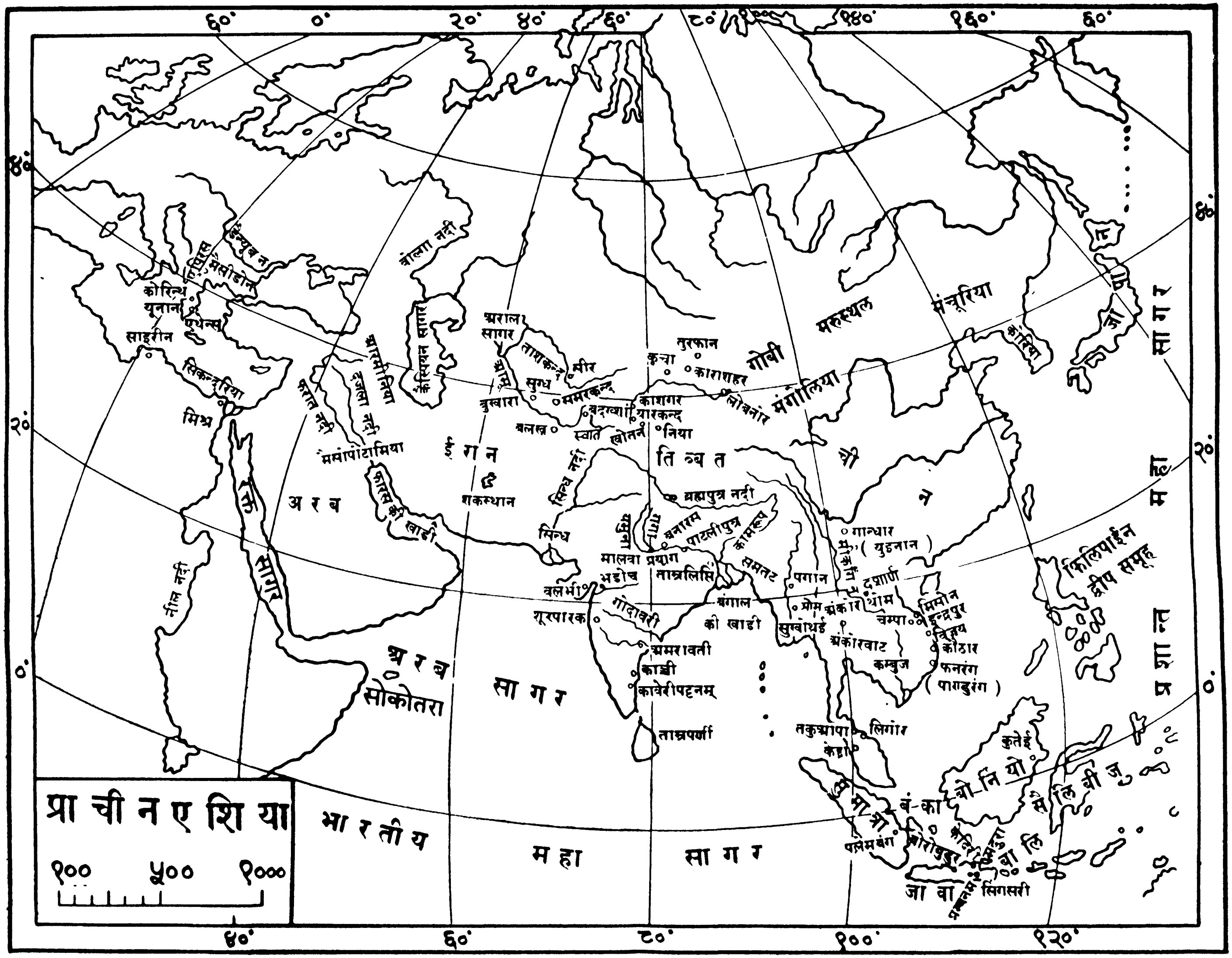
प्राचीन एशिया
१०० ५०० १०००
यूनान
कोरिन्थ
मसीडोन
साइरीन
सिकन्दरिया
मिश्र
नील नदी
अरब
मसोपोटामिया
फारस की खाड़ी
ईरान
शकस्थान
अराल सागर
ताशकन्द
मीर
सुग्ध
समरकन्द
बुखारा
बलख
स्वात
खोतन
नियाँ
कूचा
तुरफान
काराशहर
गोबी
मरुस्थल
मंगोलिया
मंचूरिया
लोबनार
काशगर
यारकन्द
तिब्बत
चीन
ब्रह्मपुत्र नदी
सिन्ध
मालवा
प्रयाग
भड़ोच
पाटलीपुत्र
कामरूप
ताम्रलिप्ति
समतट
बलभी
शूरपारक
गोदावरी
बंगाल की खाड़ी
अमरावती
काञ्ची
कावेरीपट्टनम्
ताम्रपर्णी
अरब सागर
सोकोतरा
गान्धार
(युन्नान)
पगान
दशार्ण
प्रोम
सुवर्णभूमि
अंकोरवाट
थाम
चम्पा
कम्बुज
इन्द्रपुर
कौठार
पाण्डुरंग
फिलिपाइन द्वीप समूह
तकुआपा
लिगोर
केडा
कुतेई
बोर्नियो
सेलिबीज
जावा
सिंगसरी
पलेमबंग
भारतीय महासागर
प्रशान्त महासागर
जापान
कोरिया
८०°
१००°
१२०°
६०°
४०°
२०°
०°

१८६७ ई० तक जापान की अधिकांश उन्नति का श्रेय बौद्ध धर्म और भारतीय संस्कृति को था।

तिब्बत

सातवीं शती में स्रोंगचन गम्पो ने छोटी-छोटी रियासतें जीतकर शक्तिशाली तिब्बत राष्ट्र का निर्माण किया। तिब्बत में बौद्ध धर्म के प्रवेश कराने का श्रेय इसी राजा को है। इसने चीन तथा नैपाल के राजाओं की कन्याओं से विवाह किया। दोनों राजकुमारियां बौद्ध थीं और इन विवाहों का वास्तविक परिणाम तिब्बत और बौद्धधर्म का पाणिग्रहण था। तिब्बत को वर्णमाला की आवश्यकता थी, वह थोन संभोट नामक तिब्बती विद्वान् को कश्मीर भेजकर प्राप्त की गई, इसके बाद भारतीय ग्रन्थों के अनुवाद से वहां आर्यावर्तीय संस्कृति का आलोक फैलने लगा। आठवीं शती से तिब्बती राजाओं ने भारतीय विद्वानों को अपने देश में बुलाना शुरू किया। बौद्ध धर्म के कट्टर भक्त खिस्रोङ् (७४३-७८६ ई०) ने नालन्दा के आचार्य शान्त रक्षित को निमन्त्रित किया (७४७ ई०)। आचार्य की आयु उस समय ७५ वर्ष की थी। इस अवस्था में उन्होंने धर्म-प्रचार के उत्साह से १६ हजार फीट ऊंचे दर्रे और दुर्गम घाटियां पार कीं। उदन्तपुरी (बिहार शरीफ) के अनुकरण पर तिब्बत में समूये नामक पहला बिहार बनवाने वाले यही थे, उन्होंने सर्वप्रथम कुछ तिब्बतियों को भिक्षु बनाया तथा बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद किया। इसी समय काश्मीर के आचार्य पद्मसंभव ने भारतीय तन्त्रवाद द्वारा तिब्बत में बौद्ध धर्म को लोकप्रिय बनाया। १०२८ में आचार्य दीपंकर श्रीज्ञान तिब्बत गए, इन्होंने वज्रयान का प्रचार किया। मध्यकाल में तिब्बत में राजाओं की शक्ति क्षीण हो गई और उनका स्थान विहारों ने ले लिया। १४०० ई० से तिब्बत में लामावाद का उत्कर्ष हुआ।

तिब्बत को असभ्य और बर्बर दशा से निकालकर सभ्यता का पाठ पढाने वाला भारत ही था।

परला हिन्द

परले हिन्द अथवा दक्षिण पूर्वी एशिया में भारत ने न केवल अपना

सांस्कृतिक प्रसार किया, किन्तु अनेक शक्तिशाली राज्यों और साम्राज्यों की भी स्थापना की। यहां पहले इस प्रदेश के हिन्दू उपनिवेशों और बस्तियों का उल्लेख किया जायगा और बाद में सांस्कृतिक प्रभाव का।

हिन्द चीन के राज्य

फ्रांसिसी हिन्द चीन (वीननाम) में भारतीयों के दो शक्तिशाली राज्य मीकांग नदी के मुहाने पर वर्त्तमान कम्बोडिया प्रान्त तथा अन्नम में स्थापित हुए। कम्बोडिया प्रान्त में पहले दूसरी से सातवीं शती तक फूनान नामक हिन्दू राज्य प्रबल रहा और बाद में कम्बुज का उत्कर्ष हुआ। अनाम प्रान्त के हिन्दू राज्य का प्राचीन नाम चम्पा था। इसे समाप्त हुए अभी कुल सवा सौ वर्ष हुए हैं। ये दोनों राज्य डेढ़ हजार वर्ष से भी अधिक काल तक टिके रहे।

फूनान

चीनी ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि फूनान में पहले जंगली जातियां रहती थीं, स्त्री पुरुष नंगे घूमते थे। उन्हें सभ्यता का पाठ पढ़ाने वाला हुए न-तीन या कौण्डिन्य नामक भारतीय ब्राह्मण था। इसने वहां की सोमा नामक नागी (नागों को पूजने वाली आग्नेय जाति की कन्या) से विवाह किया। और अपना राज्य स्थापित किया। १०० वर्ष तक इसके वंशज गद्दी पर बैठते रहे। इसके बाद अन्तिम राजा का सेनापति फन-ये-मन राजा बना (२०० ई०)। इसने शक्तिशाली नौसेना द्वारा अनेक पड़ौसी राज्य जीते, स्याम, लओस और मलाया प्रायद्वीप के कुछ भागों पर प्रभुता स्थापित कर इस प्रदेश में पहला भारतीय साम्राज्य स्थापित किया। चौथी श० ई० के अन्त में या पांचवीं शताब्दी के प्रारम्भ में कौण्डिन्य नाम का दूसरा ब्राह्मण भारत से आया और प्रजा ने इसे राजा चुना। इसके एक वंशज जयवर्मा ने ४८४ ई० में नागसेन नामक परिव्राजक को राजदूत बनाकर चीन भेजा। उस समय फूनान में शैव धर्म की प्रधानता थी और बौद्ध धर्म का भी थोड़ा बहुत प्रचार था। छठी शताब्दी के पूर्वार्ध में कम्बुज के आक्रमणों से फूनान का अन्त हो गया।

कम्बुज राज्य का मूल स्थान कम्बोडिया के उत्तरपूर्व में था। यह पहले

कम्बुज

यूनान के आधीन था, छठी शताब्दी के प्रारम्भ में इसे श्रुतवर्मा ने स्वाधीन किया। स्वतंत्र होने के बाद यह शक्तिशाली बना, किन्तु कम्बुज के ६७४ ई० से ८०२ ई० तक के इतिहास पर अभी तक अन्धकार का पर्दा पड़ा हुआ है। इसके बाद कम्बुज का स्वर्णयुग शुरु हुआ। इन्द्रवर्मा (८७७-८८९ ई०) का यह दावा था कि 'चम्पा प्रायद्वीप और चीन के शासक उसकी आज्ञाओं का पालन करते हैं।' अगला राजा यशोवर्मा (८८९-९०८ ई०) कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। राजकवियों के शब्दों में वह 'द्वितीय मनु' परशुराम से भी अधिक उदार, अर्जुन भीम जैसा वीर, सुश्रुत-सा विद्वान्, शिल्प, भाषा, लिपि और नृत्य-कला में पारंगत था। यह यशोधरपुर (अंगकोरथोम) का संस्थापक था। इसने भारतीय तपोवनों और गुरुकुलों के ढंग पर कम्बुज राज्य में आश्रमों की स्थापना की थी। इनका अध्यक्ष कुलपति कहलाता था। इनका मुख्य कार्य अध्ययन-अध्यापन तथा ज्ञान की ज्योति को सदैव प्रज्वलित रखना था। कम्बुज में ये आश्रम हिन्दू संस्कृति के प्रधान गढ़ थे।

११ वीं शती से कम्बुज का अभूतपूर्व उत्कर्ष हुआ। जब भारत में महमूद गज़नवी और शहाबुद्दीन गौरी के आक्रमणों से हिन्दू राजा विध्वस्त हो रहे थे, उस समय कम्बुज का साम्राज्य बङ्गाल की खाड़ी से चीन सागर तक विस्तीर्ण हो रहा था। जिस समय उत्तर भारत में मुस्लिम आक्रान्ताओं द्वारा मन्दिरों का विनाश हो रहा था, उस समय कम्बुज में अङ्कोर के विश्व-विख्यात मन्दिर बन रहे थे। सूर्यवर्मा द्वितीय (११४३-४९) ने अङ्कोर-वत का तथा जयवर्मा सप्तम (११८१-१२०० ई०) ने अङ्कोर थोम का निर्माण कराया। इसके बाद कम्बुज का ह्रास होने लगा, पहले वह स्याम से पददलित हुआ और १९ वीं शती में फ्रांस के आधीन हुआ।

चम्पा

वीतनाम (फ्रांसिसी हिन्द चीन) में दूसरा हिन्दू राज्य चम्पा था। यह पिछली शती में १८२२ ई० तक बना रहा। १८०० वर्ष तक आर्यप्राण चम्पा निवासी अपनी स्वतन्त्रता के लिए चीनियों, अनामियों मंगोलों तथा कम्बुजवासियों से जूझते रहे। इसका पहला ऐतिहासिक राजा श्रीकार माना जाता है। इसका राज्य-काल दूसरी शती

ई० का अन्तिम भाग है। इसके आरम्भिक राजाओं में धर्ममहाराज श्री भद्रवर्मा (३८०-४१३ ई०) और गंगाराज (४१३-४१५ ई०) हैं। पहला राजा शिव का परम भक्त तथा 'चतुर्वेदज्ञाता' था; उसने भद्रेश्वर स्वामी के नाम से मिसोन में शिव का मन्दिर बनवाया। दूसरे राजा के समय आन्तरिक झगड़े काफी बढ गए और वह राज-पाट छोड़कर अपना अन्तिम जीवन गंगा के तट पर बिताने के लिए भारत चला आया। भद्रवर्मा का चारों वेदों का ज्ञाता होना तथा गंगाराज की तीर्थ-यात्रा चौथी पांचवीं श० में चम्पा पर गहरे भारतीय प्रभाव को सूचित करते हैं। दसवीं शती तक चम्पा पर क्रमशः गंगाराज के वंशजों तथा पाण्डुरंग (७५८-८६०) और भृगुवंश (८७०-९७२ ई०) के राजाओं ने शासन किया। ये सब हिन्दू धर्म के कट्टर भक्त थे, नये-नये मन्दिरों की स्थापना कर, उन्हे खूब दान देते थे। चम्पा में भारतीय साहित्य का गम्भीर अध्ययन होता था। इन्द्रवर्मा तृतीय (९११-९७२ ई०) को एक अभिलेख में षट् दर्शन, बौद्ध दर्शन, काशिकावृत्ति सहित पाणिनीय व्याकरण, आख्यान तथा शैवों के उत्तरकल्प का प्रकाण्ड पण्डित बताया गया है। दसवीं शती से चम्पा पर उत्तर से अनामियों के आक्रमण शुरु हुए तथा इसका ह्रास होने लगा। अगले आठ सौ वर्ष तक चमा अपनी स्वाधीनता के लिए लड़ते रहे। १८२२ ई० में जब अनामी आक्रमणों का देर तक प्रतिरोध असंभव हो गया तो अन्तिम चमराजा स्वदेश छोडकर कम्बुज चला गया और इस प्रकार मातृभूमि भारत से सैकड़ों मील दूर, भारत से कुछ भी सहायता न पाते हुए डेढ हजार वर्ष तक प्रतिकूल परिस्थितियों और भीषण आक्रमणों में स्वतन्त्रता की पुण्य-पताका को सदा ऊंचा रखने वाले गौरवपूर्ण हिन्दू राज्य का अन्त हो गया।

मलाया द्वीप समूह (सुवर्णद्वीप)

छठी श० ई० पू० से भारतीय व्यापारी इस प्रदेश में आने लगे थे, पहली श० ई० से हमें भारतीय ग्रन्थों तथा विदेशी यात्रियों के विवरणों में इस बात के निश्चित संकेत मिलते हैं कि कलिंग तट के दन्तपुर आदि बन्दरगाहों से जाने वाले भारतीय सुवर्णद्वीप का आवासन करने लगे थे। शनैः-शनैः इन्होंने मलाय, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, बालि मे हिन्दू राज्य

स्थापित किये। हजार बरस तक इनकी सत्ता बनी रही। इस सहस्राब्दी में दो ऐसे अवसर भी आये जब सारा सुवर्ण द्वीप एक शासन-सूत्र में संगठित हुआ—पहली बार शैलेन्द्रवंश के आधीन और दूसरी बिल्वतिक्त (मजपहित) साम्राज्य के रूप में। १५ वीं, १६ वीं शती में इस्लाम ने यहां हिन्दू राज्यों का अन्त तथा भारतीय संस्कृति की समाप्ति की।

मलाया प्रायद्वीप में पहली श० ई० में लिगोर में एक हिन्दूराज्य स्थापित हुआ, ईसा की पहली शतियों में हमें कलशपुर (उत्तरी मलाया या दक्षिणी बर्मा) कला (केडाह) कन-तोली (कडार सापेरक) आदि मलाया के कई हिन्दू राज्यों का चीनी ग्रन्थों में वर्णन मिलता है; किन्तु इनका शृंखलाबद्ध इतिहास ज्ञात नहीं है। आठवीं शती में यह प्रदेश शैलेन्द्रों के विस्तृत साम्राज्य का अंग बना। ये संभवतः भारत के कलिंग प्रान्त से आये थे, पहले इन्होंने दक्षिणी बर्मा और उत्तरी मलाया जीता, फिर मलाया से सारे सुवर्ण द्वीप में अपनी प्रभुता विस्तीर्ण की। इनका उत्कर्ष ७७५ ई० से शुरू हुआ, १२ वीं शती तक वे इस प्रदेश की प्रधान शक्ति थे। अरब यात्रियों ने इनके साम्राज्य की विशालता और वैभव के गीत गाये हैं। मसऊदी (९४३ ई०) के शब्दों में 'यहां का महाराजा असीम साम्राज्य पर शासन करता है।······अधिकतम शीघ्रगामी जहाज़ उसके वशवर्ती द्वीपों की परिक्रमा दो वर्ष में भी पूरी नहीं कर सकते।' इब्न खुर्दाद्बेह (८४०—४८ ई०) के कथनानुसार राजा की दैनिक आय २०० मन सोना थी। ११ वीं श० ई० शैलेन्द्रों का दक्षिण भारत के चोलों के साथ संघर्ष हुआ। इससे इनकी शक्ति क्षीण हो गई। १४ वीं शती में उत्तर से स्यामियों तथा दक्षिण पूर्व से जावा वालों ने हमले कर इस साम्राज्य का अन्त कर दिया। जिन शैलेन्द्रों की विजय-वैजयन्ती सुवर्णद्वीप के सैकड़ों टापुओं पर फहराती थी, जिनके चरणों में जावा, सुमात्रा, मलाया के राजाओं के मुकुट लोटते थे, उनका शासन मलाया के छोटे-से प्रदेश में ही रह गया। इनके अन्तिम अवशेष कडार (पेरक) के राजा ने १४७४ ई० में इस्लाम स्वीकार कर लिया।

जावा

इस द्वीप की स्थानीय दन्त-कथाएं इसके उपनिवेशन का श्रेय पाराशर, व्यास, पाण्डु आदि भारतीयों को देती हैं। चीन इतिहासों के अनुसार यहां दूसरी श० ई० में भारतीय राज्य स्थापित हो चुका था, १३२ ई० में जावा के राजा देववर्मा ने एक दूतमण्डल चीन भेजा। छठी श० ई० में पश्चिमी जावा में शासन करने वाले राजा पूर्णवर्मा के चार संस्कृत अभिलेख मिले हैं। इनसे प्रतीत होता है कि जावा उस समय तक भारतीय संस्कृति को पूर्णरूप से अपना चुका था। जावा में पूर्णवर्मा के अतिरिक्त अन्य अनेक छोटे हिन्दू राज्य भी थे। आठवीं शती में शैलेन्द्रों का उत्कर्ष होने पर, ये सब उसके आधीन हो गए, किन्तु ११ वीं शती में उनकी शक्ति क्षीण होने पर जावा में पहले कडिरी (११०४-१२२२) और फिर सिंहसरी (१२२२-१२६२ ई०) का राज्य प्रबल हुआ। १४ वीं श० में बिल्वतिक्त साम्राज्य ने शैलेन्द्रों की भांति समूचे सुवर्णद्वीप पर शासन किया किन्तु १५ वीं श० में इस्लाम के प्रसार से इसका अपकर्ष हुआ, १५२२ ई० में जावा का राजा स्वधर्म की रक्षा के लिए बालि चला गया।

बालि

बालि द्वीप इस दृष्टि से विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि सुवर्णद्वीप के अन्य भागों में तो इस्लाम द्वारा भारतीय संस्कृति का अन्त हो चुका है किन्तु बालि में यह आज भी जीवित रूप में है। इस टापू में भारतीयों के आने तथा राज्य स्थापित करने का शृंखला बद्ध इतिहास नहीं मिलता। छठी, सातवीं श० में यहां कौण्डिन्य नामक का क्षत्रिय राजा राज्य करते थे और बौद्धों के मूल सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय की प्रधानता थी। दशवीं श० में उग्रसेन, केशरी आदि भारतीय नामधारी राजाओं ने शासन किया। जावा के साथ लगा होने से यह प्रायः जावा के आधीन रहा। जब जावा के राजा अपने देश की मुस्लिम आक्रमणों से रक्षा न कर सके। तो वे बालि चले आये और यहां हिन्दू धर्म की परम्परा आज तक यथापूर्व बनी हुई है।

बकुलपुर (बोर्नियो) के सुदूरवर्ती टापू को हिन्दू आवासक चौथी श०

बोर्नियो

ई० तक बसा चुके थे। इस द्वीप के कुतेई नामक स्थान से उपलब्ध चार अभिलेखों से यह ज्ञात हुआ है कि इस समय पूर्वी बोर्नियो में मूलवर्मा नामक भारतीय राजा शासन करता था। वह हिन्दू संस्कृति का परम भक्त था। उसने 'बहुसुवर्णक' नामक यज्ञ करके ब्राह्मणों को बीस हजार गौएं तथा अन्य बहुत दान दिया था। १९२५ ई० में मध्य तथा पूर्वी बोर्नियो के पुरातत्वीय अनुसन्धान से महादेव, नन्दी, कार्तिकेय, गणेश, अगस्त्य, ब्रह्मा तथा स्कन्द की मूर्त्तियां मिली हैं। बोर्नियो के निकटवर्त्ती सेलीबीज टापू में बुद्ध की सुविशाल पित्तल प्रतिमा पाई गई है। ये सब अवशेष इन द्वीपों में भारतीय संस्कृति के गहरे और व्यापक प्रभाव को सूचित करते हैं।

सांस्कृतिक प्रभाव

जब भारतीयों ने दक्षिणपूर्वी एशिया में प्रवेश कर अपने उपनिवेश और राज्य स्थापित किये, उस समय यह भूखण्ड बर्बर जातियों द्वारा आवासित था। यहां के निवासी जंगली, असभ्य और बड़े खूंखार थे। हिन्दू आवासकों ने इन्हें अपने धर्म, वर्णमाला, भाषा, साहित्य, सामाजिक रीति-रिवाज, आचार-विचार, नैतिक व राजनैतिक आदर्श, मूर्त्ति, वस्तु आदि कलाओं की शिक्षा देकर सभ्य बनाया। जीवन का शायद ही कोई पहलू ऐसा बचा हो, जो उनके प्रभाव से अछूता रह पाया हो।

सुवर्ण द्वीप के आवासन का श्रेय हिन्दू राजकुमारों और ब्राह्मणों को है, अतः यहां शैव और वैष्णव धर्मों की प्रधानता रही। बोर्नियो से मिली हिन्दू-देवताओं की प्रतिमाओं का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। जावा से शिव, विष्णु, लक्ष्मी, गरुड की सैकड़ों मूर्त्तियां मिली हैं। प्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ क्राफोर्ड ने जावा के सम्बन्ध में लिखा था कि पुराणों का शायद ही कोई ऐसा देवता हो, जिसकी प्रतिमा जावा में न पाई गई हो। इस समय भी बालि के शिल्पी इन्द्र, विष्णु, कृष्ण की मूर्त्तियां बनाते हैं। यहां के निवासी भारतीय विधि से दुर्गा तथा शिव की पूजा करते हैं। कर्मकाण्ड और पूजा पद्धति बिलकुल हिन्दू है इसमें जल-पात्र, माला, कुशा, तिल, घृत, मधु, अक्षत, धूप, दीप, घण्टी

और मंत्रों का प्रयोग होता है जातकर्म, नामकरण, विवाह, अन्त्येष्टि आदि हिन्दू संस्कारों का प्रचार है। वर्ण-व्यवस्था, सवर्ण विवाह तथा सती प्रथा की पद्धति प्रचलित है। वर्तमान समय में बालि में दिखाई देने वाला यह हिन्दू प्रभाव प्राचीन काल में समूचे सुवर्णद्वीप में विस्तीर्ण था।

इस प्रभाव की पुष्टि साहित्य और कला से भी होती है। सुवर्णद्वीप सर्वत्र ब्राह्मी वर्णमाला और संस्कृत भाषा का प्रसार था। चम्पा से ७० तथा कम्बुज से ३०० के लगभग संस्कृत के शिलालेख मिले हैं। ये संस्कृत काव्यों की शैली का अनुसरण करते हुए, निर्दोष, ललित, प्रौढ़ तथा प्रांजल भाषा में लिखे हुए हैं। इससे ज्ञात होता है कि इनके लेखकों का संस्कृत, भाषा व्याकरण पुराणों, काव्यों से प्रगाढ़ परिचय था। मन्दिरों में प्रतिदिन रामायण, महाभारत और पुराणों के अखण्ड पाठ तथा कथाएं होती थीं। धार्मिक साहित्य के साथ-साथ लौकिक साहित्य का भी अनुशीलन होता था। कम्बुज के राजा यशोवर्मा ने पातंजल महाभाष्य पर टीका लिखी थी।

भारतीय धर्म और साहित्य के साथ सुवर्णद्वीप में भारतीय कला का भी प्रसार हुआ। कम्बुज की मूर्त्तिकला गुप्तयुगीन कला से प्रादुर्भूत हुई थी। किन्तु शनैः-शनैः अभ्यास के शिल्पी इस कला में इतने प्रवीण हो गए कि उन्होंने 'पाषाणों में अमरकाव्यों' की रचना कर डाली। कम्बोडिया तथा जावा के मन्दिरों में रामायण, महाभारत और हरिवंश पुराण के दृश्यों को मूर्त्तिकारों ने अपनी छेनियों से पत्थरों पर बड़ी सफाई और सफलता के साथ खोदा है। वास्तुकला का उच्चतम विकास अंगकोर तथा बरबुडुर के अद्वितीय मन्दिरों में मिलता है। इस प्रकार के देवालय न भारत में पाये जाते हैं और न किसी दूसरे देश में। वे विश्व की अद्भुत वस्तुओं में गिने जाते हैं तथा इन प्रदेशों में भारतीय संस्कृति के अमर स्मारक हैं।

पश्चिमी जगत् में भारतीय संस्कृति का दक्षिणपूर्वी एशिया जैसा अधिक प्रभाव नहीं पड़ा। संभवतः अशोक द्वारा पश्चिमी एशिया भेजे बौद्ध प्रचारकों ने जंगलों में जाकर तपस्या करने वाले वैराग्य और समाधि पर बल देने वाले ब्रह्मचर्य व्रत के,

पश्चिमी जगत्

पालक ऐसनीज और थेराप्यूट सम्प्रदायों पर प्रभाव डाला। सिकन्दरिया में होने वाली हर्मीवाद, अभिज्ञानवाद और नव प्लेटोवाद नामक विचार-धाराओं ने भारतीय दर्शनों से कुछ बातें ग्रहण कीं। दूसरी श० ई० पू० में कृष्ण के उपासक भारतीयों ने फरात नदी के उपरले हिस्से में हिन्दू-मन्दिर स्थापित किये। चौथी श० ई० में ईसाई प्रचारकों ने इनका विध्वंस किया। इस्लाम के सूफीवाद पर बौद्धधर्म और वेदान्त का प्रभाव है। अब्बासी खलीफाओं के प्रोत्साहन से बगदाद में आयुर्वेद, गणित, ज्योतिष आदि विविध विज्ञानों के संस्कृत ग्रन्थों का अंग्रेजी अनुवाद हुआ, अरबों ने भारत की दशगुणोभट अंक-लेखन-पद्धति के साथ इन विज्ञानों को योरोप पहुंचाया। शल्य-कर्म की बहुत-सी बातों के लिए पश्चिमी जगत् भारत का ऋणी है।

उपसंहार

बृहत्तर भारत हमारे प्राचीन इतिहास की सबसे सुनहली कृतियों में से है। डेढ़ हजार वर्ष तक भारतीय विश्व के एक बड़े भाग की जंगली जातियों के बीच मे बसकर उन्हें सभ्यता और संस्कृति का पाठ पढ़ाते रहे। संसार में हजारों निर्दोष व्यक्तियों का खून बहाकर दिग्विजय करने वाले तथा विशाल साम्राज्य बनाने वाले सिकन्दर, सीजर, समुद्रगुप्त, चंगेजखां, तैमूर और नैपोलियन-जैसे विजेताओं की कमी नहीं। किन्तु विश्व के इतिहास में भारत की सांस्कृतिक विजय से अधिक शान्तिपूर्ण, स्थायी, व्यापक और हितकर कोई दूसरी विजय नहीं हुई। "भारत ने उस समय आध्यात्मिक और सांस्कृतिक साम्राज्य स्थापित किये थे जब कि सारा संसार बर्बरतापूर्ण कृत्यों में डूबा हुआ था। यद्यपि आज के साम्राज्य उनसे कहीं अधिक विस्तृत हैं पर उच्चता की दृष्टि से वे इनसे कहीं बढ़-चढ़कर थे; क्योंकि वे वर्त्तमान साम्राज्यों की भांति तोपों, वायुयानों और विषैली गैसों द्वारा स्थापित न होकर सत्य और श्रद्धा के आधार पर खड़े हुए थे।"

नवां अध्याय

राजपूत युग* (मध्य काल) की संस्कृति

अवनति का आरम्भ

गुप्त युग भारतीय इतिहास की सर्वाङ्गीण सांस्कृतिक समुन्नति का स्वर्ण-युग था; किन्तु राजपूत युग अथवा मध्यकाल (५४०—१५०६) में सर्वतोमुखी अवनति शुरू हो जाती है। हमारे जातीय जीवन के सभी क्षेत्रों में प्रगतिशीलता, नवीनता, मौलिकता और दृष्टिकोण की विशालता समाप्त हो जाती है, इनके स्थान पर मन्दता, प्रतिगामिता, शिथिलता और संकीर्णता की प्रवृत्तियां प्रबल होने लगती हैं। प्राकृतिक नियम के अनुसार दो हजार वर्ष तक निरन्तर प्रगति करने के बाद, हमारा राष्ट्र थकान और बुढापे का अनुभव करता है। शनैः-शनैः यौवन की क्रियाशीलता, उत्साह, साहस और पराक्रम लुप्त हो जाते हैं, वृद्धावस्था की कट्टरता, धर्म-प्रेम, रूढि-प्रियता और अनुदारता के गुण प्रबल होते हैं। धार्मिक क्षेत्र में धर्म का कर्मकाण्ड बढ़ना और परलोकवाद की प्रधानता मध्य युग की मुख्य विशेषता थी। गुप्त युग तक भारतीय जीवन में 'अर्थ' और 'काम' तथा 'धर्म और मोक्ष' में सन्तुलन था। अन्धविश्वासों की प्रधानता नहीं थी, सामान्य हिन्दू का दैनिक जीवन व्रत, उपवास, पूजा-पाठ के नियमों से जटिल नहीं बना था। तिथि, वार, नक्षत्र, ग्रहणों की बहुत कम महत्ता थी, जीवन को क्षणिक और नश्वर मानकर उससे उपेक्षा नहीं की जाती थी। ६०० ई० के बाद के लेखों में प्रायः सांसारिक ऐश्वर्य और समृद्धि की निःसारता पर बहुत बल दिया गया है किन्तु गुप्त युग तक

---

* १. पुराने ऐतिहासिक ६००-१२०० ई० तक के युग को राजपूत युग कहते थे; किन्तु स्व० श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा की खोजों से यह बात भली-भांति सिद्ध हो चुकी है कि राजपूत शब्द बहुत बाद का है, अतः इस काल को राजपूत युग की बजाय मध्य काल कहना चाहिए।

ऐसी बात नहीं थी। राजनीतिक क्षेत्र में पहले युगों में भारतीय यूनानियों, शकों, कुशाणों तथा हूणों को पराभूत करते रहते थे किन्तु इस युग के अन्त में विदेशी आक्रान्ताओं को हराने की बात तो दूर रही, उत्तर भारत पर उन की प्रभुता स्थापित हो जाती है। सामाजिक क्षेत्र में भी यही अवनति दिखाई देती है, पहले युगों में विदेशी जातियों को पचाने तथा आत्मसात करने वाला हिन्दू-समाज इस समय तक अपना पाचन-सामर्थ्य खो बैठता है, तुर्क और मंगोल उसका अंग नहीं बन पाते। बौद्धिक क्षेत्र में अन्वेषण और मौलिकता की प्रवृत्ति समाप्त हो जाती है, दार्शनिक अपना सारा पाण्डित्य पुराने ग्रन्थों की टीकाओं में तथा बाल की खाल निकालने में व्यय करते हैं। साहित्यिक क्षेत्र में पुरानी प्रसाद-गुण-सम्पन्न कालिदास आदि महाकवियों की रचना का स्थान माघ और श्रीहर्ष की अलंकार-प्रधान काव्य-शैली ले लेती है। इस प्रकार सांस्कृतिक जीवन के सभी पहलुओं में नवीनता और प्रगतिशीलता का स्थान क्षीणता और ह्रास ले लेते हैं।

किन्तु यह क्षीणता सहसा ही नहीं प्रारम्भ हो गई, जवानी व बुढ़ापे का परिवर्त्तन कई बरसों में होता है, हमारे राष्ट्र को इसमें कई शतियां लगीं। पूरे हजार बरस बाद ह्रास की प्रवृत्तियां प्रधान हुईं। किन्तु इस सहस्राब्दी के पूर्वार्ध में संस्कृति के प्रत्येक क्षेत्र में उत्कृष्ट कृतियों का निर्माण हुआ। मध्यकाल की कला में गुप्त युग की नवीनता नहीं किन्तु लालित्य और भव्यता की दृष्टि से वे अनुपम हैं, शंकर का अद्वैतवाद भी इसी युग की देन है। यहां मध्यकालीन समाज, साहित्य और वैज्ञानिक उन्नति पर ही विशेष प्रकाश डाला जायगा, (संस्कृति के अन्य अंगों, धर्म, शासन तथा कला का वर्णन पांचवें, ग्यारहवें तथा बारहवें अध्यायों में हुआ है) इसके साथ ही प्रत्येक क्षेत्र में सांस्कृतिक ह्रास के कारणों की भी विवेचना की जायगी।

(१) सामाजिक दशा

मध्यकाल के सामाजिक जीवन की सबसे बड़ी विशेषता प्राचीन वर्ण-व्यवस्था का वर्त्तमान जात-पांत का रूप ग्रहण करना था। नदी का

प्रवाह बन्द हो जाने से जैसे छोटे छोटे जोहड़ बन जाते हैं, वैसे ही भारतीय समाज में प्रगति बन्द होने से विभिन्न जातें बन गई। सामाजिक ऊंच-नीच के जितने दरजे थे, उन्होंने अपने कुल गिन लिये, इनमें शादी-ब्याह का दायरा हमेशा के लिए सीमित कर लिया गया। इस प्रकार जातों के बन जाने से हिन्दू-समाज की पुरानी पाचन शक्ति और सात्म्यी करण की प्रवृत्ति लगभग समाप्त होगई। जैसे पहले उसमें विदेशी जातियां आकर मिलती रही थीं अब वैसा संभव न रहा। मध्ययुग में दो ऐसे बड़े उदाहरण हैं जिनमे हिन्दुओं ने विदेशियों को अपने में मिलाया। ११७८ ई० में शहाबुद्दीन गौरी को हराने के बाद गुजरातियों ने उसकी फौज का बड़ा अंश कैद कर लिया, कैदियों को हिन्दू बनाकर अपनी जातों में मिला लिया। तेरहवीं सदी में मंगोल वंशीय अहोम आये, वे धीरे-धीरे हिन्दू समाज में घुल-मिल गए। यह सब पुराने पाचन सामर्थ्य से हुआ किन्तु साधारण रूप से हिन्दू-समाज जाति के बन्धन कड़े कर उसमें नये तत्त्वों का प्रवेश रोक रहा था। ये बन्धन प्रधान रूप से खान-पान, पेशे और विवाह के थे। पहले दो बन्धनों में अभी तक काफी लचकीलापन था और तीसरा बन्धन १२ वीं शती से सुदृढ़ होने लगा। आजकल अपनी जाति और बिरादरी में खान-पान होता है किन्तु व्यास स्मृति के अनुसार नाई, दास, ग्वाले वंश परम्परागत मित्र के शूद्र होने पर भी इनके साथ खाने में कोई दोष न था। पेशे की आजादी भी इस समय तक काफी बनी हुई थी। स्मृतियों में ब्राह्मणों को कृषि करने तथा विशिष्ट अवसरों पर ब्राह्मण, वैश्य को शस्त्र ग्रहण करने का भी अधिकार दिया गया है। क्षत्रिय केवल तलवार ही नहीं चलाते थे, किन्तु लेखनी द्वारा महत्त्वपूर्ण नवीन रचनाएं भी प्रस्तुत करते थे। चौहान राजा विग्रह राज का 'हरकेलि नाटक' शिलाओं पर खुदा हुआ आज भी उपलब्ध है, राजा भोज की विद्वत्ता जगत्प्रसिद्ध है, पूर्वीय चालुक्य राजा विनयादित्य गणित का बड़ा प्रकाण्ड पण्डित था, इसीलिए उसे गुणक कहते थे। वैश्य भी इस समय कृषि कार्य छोड़ अन्य काम करते थे। उनके राज-कार्य करने, राज-मन्त्री होने, सेनापति बनने और युद्धों में

छड़ने के अनेक उदाहरण मिलते हैं। वैश्यों ने दस्तकारी, कारीगरी आदि के प्रायः सभी कार्य छोड़ दिये। हाथ के सब काम शूद्रों के पास चले गए।

जाति-भेद का सबसे जबर्दस्त बन्धन अपनी ही जाति में विवाह का नियम—इस युग में शनैः-शनैः कठोर हुआ। प्रारम्भ में सवर्ण विवाह श्रेष्ठ होने पर अन्य वर्णों से विवाह का नियम प्रचलित था। पहले यह बताया जा चुका है कि ब्राह्मण के लिए क्षत्रिय वैश्य-कन्याओं के विहित होते हुए भी शूद्र-कन्या से पाणिग्रहण निषिद्ध समझा जाता था किन्तु फिर भी समाज में इसका प्रचलन था। ७ वीं शती में महाकवि बाण ने शूद्र स्त्री से उत्पन्न हुए ब्राह्मण के पुत्र अपने भाई पारशव का उल्लेख किया है। इस समय के अभिलेखों में अनेक प्रतिलोम (उच्च वर्ण के पुरुष का हीन वर्ण की स्त्री के साथ संबन्ध हुआ) विवाहों का वर्णन मिलता है। ब्राह्मण-कवि राजशेखर ने चौहान-कन्या अवन्ति सुन्दरी से विवाह किया था। १२ वीं श० तक ऐसे विवाह बहुत होते थे। १३ वीं शती से निबन्धकारों ने असवर्ण विवाह को कलिवर्ज्य (कलियुग में निषिद्ध) कहकर उसकी निन्दा करनी शुरू की। स्मृतिचन्द्रिका (१२००-१२२५) ने इसमें पहल की, हेमाद्रि (१२६०-७०) ने भी इनका विरोध किया। बाद में रघुनन्दन, व कमलाकर ने भी इसे कलिकाल में निषिद्ध ठहराया और यह व्यवस्था हिन्दू-समाज में सर्वमान्य होगई।

किन्तु यह बात ध्यान देने योग्य है कि बाद में हिन्दू विवाह में वर्ण ही नहीं किन्तु उपजाति की समानता भी आवश्यकता समझी जाने लगी। शास्त्रों में इसका कहीं उल्लेख नहीं। इनमें प्रधान रूप से वर्णों तथा कुछ संकर जातियों का वर्णन है किन्तु ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य की अवान्तर जातियों का कहीं संकेत नहीं। ६०० ई० से १००० ई० तक ब्राह्मण विभिन्न जातियों में नहीं बंटे थे, उनमें शाखा और गोत्र का ही भेद था। ११ वीं श० से इनमें प्रदेश तथा पेशे के आधार पर भेद किये जाने लगे। द्विवेदी, चतुर्वेदी, पाठक, उपाध्याय आदि पेशों के तथा माथुर, गौड़, सारस्वत, औदीच्य आदि प्रादेशिक भेदों को सूचित करने वाली ब्राह्मण उपजातियां बनने लगीं। इनका अनुकरण क्षत्रियों और वैश्यों ने भी किया। उपजातियां बनाने और उनके अन्दर शादी

करने का नियम संक्रामक रोग की तरह समाज के सब वर्गों में फैल गया। उत्तर भारत के भंगियों में ही इस समय १३५६ उपजातियां ऐसी हैं जो आपस में विवाह नहीं करतीं। हिन्दू समाज ३००० उपजातियों में बँट गया। इस प्रसंग में जात-पांत गुण दोष की विवेचना उचित जान पड़ती है।

वर्ण व्यवस्था का उद्देश्य तथा गुण

प्राचीन काल की लिखी वर्ण-व्यवस्था उसके आधुनिक रूप जात-पांति से सर्वथा भिन्न थी। यह समाज के विभिन्न वर्गों में सामंजस्य और समन्वय स्थापित करने का सुन्दर उपाय था। प्राचीन भारतीय समाज में उच्च आध्यात्मिक तत्त्व-चिन्ताओं में तल्लीन रहने वाले ब्राह्मणों से लेकर नितान्त असभ्य, जंगली जातियों तक सभी प्रकार की विभिन्न संस्कृतियों वाले वर्ग थे। भारतीय दर्शन में विचारकों ने जिस प्रकार अद्वैतवाद द्वारा बहुत्व में एकत्व ढूंढा था, उसी प्रकार उन्होंने समाज के नाना वर्गों में एकता का तत्त्व ढूंढने के लिए वर्ण व्यवस्था की कल्पना की। समाज के छोटे बड़े सभी वर्ग एक ही विराट् पुरुष के विभिन्न अंग माने गये, ब्राह्मण उसके मुख थे, क्षत्रिय भुजाएं, वैश्य जंघाएं तथा शूद्र पैर। यह विभाग कार्यपरक था जन्ममूलक नहीं। यह भी समझ लेना चाहिए कि यह शास्त्रकारों की एक आदर्श कल्पना ही थी, वास्तविक स्थिति नहीं। किन्तु इस कल्पना द्वारा उन्होंने प्राचीन भारत के पृथक् आचार-विचार विभिन्न पूजा-पद्धति, धर्म-कर्म, तथा नस्ल वाले विविध वर्गों को एक विशाल समाज का अङ्ग बनाकर उनमें गहरी सांस्कृतिक एकता का बीजारोपण किया, उनमें एकानुभूति की भावना उत्पन्न कर उन्हें एक सूत्र में पिरोया। प्राचीन आर्यों के सामने विविध जातियों का प्रश्न हल करने के तीन उपाय थे। पहला तो यह कि इन्हें विकास के लिए बिलकुल स्वतंत्र छोड़ दिया जाता। इसमें भारत की सांस्कृतिक एकता न बनने पाती। योरोपीय राष्ट्रों की भांति यहां भी जातीय विद्वेष से कलुषित रक्त-रंजित भीषण गृह-युद्ध होते रहते। योरोप में धर्म और संस्कृति की समानता होने से योरोपियन एकता का आधार विद्यमान है फिर भी वह योद्धा राष्ट्रों का समूह-मात्र है। भारत की विभिन्न जातियों में एकता

लाने का दूसरा उपाय शक्ति का प्रयोग, दमन और विरोधी तत्त्वों का उच्छेद था। भारतीय विचारक स्वभावतः सहिष्णु थे; उन्हें यह हिंसक उपाय पसन्द नहीं था। अतः उन्होंने ऐसा तीसरा उपाय ढूंढा, जिसमें प्रत्येक वर्ण और व्यक्ति को पूरी वैयक्तिक स्वतन्त्रता देते हुए उसे विराट् समाज का अङ्ग माना गया। शुरू में वर्ण-व्यवस्था का संगठन बहुत ही लचकीला था, सब अपने को एक ही समाज का अंश मानते थे, अतः उनमें उग्र वर्ग संघर्ष नहीं हुए। भला एक ही शरीर के अंग हाथ पैर और पेट आपस में कैसे लड़ सकते थे? इसमें कोई संदेह नहीं कि "अपने सर्वोत्कृष्ट रूप में वर्ण-व्यवस्था एक विशाल देश में निवास करने वाले तथा विभिन्न विचार, विश्वास और नस्ल रखने वाले विविध वर्गों को एक सूत्र में पिरोने का सफलतम प्रयत्न था।"

जात-पात की हानियाँ

किन्तु जब वर्ण-व्यवस्था ने कर्म मूलक के स्थान पर जन्म-मूलक रूप धारण किया, उसमें पुराना लचकीलापन न रहा तो वह अन्ततोगत्वा देश के लिए वरदान की अपेक्षा अभिशाप अधिक सिद्ध हुई। प्रारम्भ में यह अवश्य कुछ लाभप्रद थी। मध्यकाल में इसका प्रधान कार्य हिन्दू धर्म और समाज की रक्षा था। मुस्लिम आक्रमणों में इसने जबर्दस्त ढाल का काम किया। भारत से अतिरिक्ति, मिश्र, ईराक, ईरान आदि जिन देशों में इस्लाम गया, उसने सर्वत्र पुरानी जातियों और संस्कृतियों को आत्मसात् कर उन्हें हजरत मुहम्मद का अनुयायी बना डाला; किन्तु भारत में उसे ऐसी सफलता नहीं मिली। इसका प्रधान कारण जाति-भेद की कठोर व्यवस्था थी। जाति-भेद का यह उज्ज्वलतम पहलू है कि उसने हिन्दू जाति को नष्ट होने से बचा लिया।

किन्तु इसके साथ ही हमें जात-पांत द्वारा होने वाले दुष्परिणामों और हानियों से भी अपनी दृष्टि ओझल नहीं करनी चाहिए।

जात-पात के दुष्परिणाम

इसका पहला दुष्परिणाम हिन्दू जाति को निर्बल तथा राष्ट्रीय एकता को असंभव बना देना है। इसने हिन्दू-समाज को ३ हजार हिस्सों में बांटकर बिलकुल दुर्बल बना दिया है, यह जातीय एकता और संगठन के मार्ग में जबर्दस्त बाधा है। संयुक्तप्रान्त का

एक ब्राह्मण अपने गांव के किसान या चमार की अपेक्षा बिहार या बङ्गाल के द्विज से अधिक एकात्म और सहानुभूति रखता है। बिरादरियां और जातें प्रायः अपने क्षुद्र संगठनों से ऊपर नहीं उठ सकतीं। दूसरी हानि देश की अपार प्रतिभा का उपयोगी होना तथा कला कौशल का ह्रास है। जन्म-मूलक वर्ण-व्यवस्था में निचली जातियों के ऊपर उठने का कोई अवसर नहीं रहता, वे उठने का प्रयत्न ही नही करतीं। न जाने, इससे देश की कितनी प्रतिभा धूल में मिलती रही हैं। दूसरे देशों में एक किसान का लड़का गारफील्ड अमरीका के राष्ट्रपति पद पर पहुंच सकता, अपनी तूलिका द्वारा रैफल और माइकेल एञ्जलो की भांति उच्चतम सम्मान पा सकता है, "निम्नतम शिल्पी अपनी प्रतिभा और अध्यवसाय के बल पर वाट या स्टीवन्सन बन सकता है, किन्तु भारत में वह रूढि की लौह श्रृंखलाओं से बन्धा हुआ है।" इसीलिए गुप्त युग के बाद शिल्पियों ने कोई नया आविष्कार या कल्पना नहीं की, केवल पुरानी लीक पीटते रहे। हाथ के कामों को जब से नीची जातियों का पेशा माना जाने लगा, हस्त-कौशल की अवनति होने लगी। तीसरा दुष्परिणाम बृहत्तर भारत में सांस्कृतिक प्रसार के गौरव पूर्ण कार्य का अन्त था। जात-पात ने विदेश तथा समुद्र यात्रा को पाप बता डाला। जिनके पूर्वजों ने विशाल महासागर पार करके दक्षिणपूर्वी एशिया की जंगली जातियों के बीच बैठ और उनसे वैवाहिक संबन्ध कर भारत का सांस्कृतिक प्रसार किया था, वही अब अपने घर से निकलने में डरने लगे। चौथा दुष्परिणाम दृष्टिकोण की संकीर्णता और मिथ्याभिमान था। मध्य युग में प्रत्येक जाति अपने को सर्वोच्च समझती थी; उसकी दृष्टि सदैव अपने हित-साधन की ही होती थी। अन्य जातियों को वह तिरस्कार और घृणा की दृष्टि से देखती थी। ११ वीं शती में अलबेरुनी ने हिन्दुओं की संकीर्ण मनोवृत्ति का एक सुन्दर चित्र खींचते हुए लिखा था—"हिन्दुओं की सारी कट्टरता का शिकार विदेशी जातियां होती हैं। वे उन्हें म्लेच्छ और अपवित्र कहते हैं। उनके साथ किसी प्रकार का विवाह या उठने-बैठने, खाने-पीने का कोई सम्बन्ध नहीं रखते, वे समझते हैं कि इससे वे भ्रष्ट हो जायंगे।" हिन्दुओं की इस संकीर्ण मनोवृत्ति

का यह परिणाम हुआ कि अन्य देशों से उनका सम्बन्ध विच्छेद होगया, वे दूसरे देशों के वैज्ञानिक तथा रण-कला सम्बन्धी आविष्कारों और प्रगति से अपरिचित रहने लगे और मध्य युग में वे मुस्लिम आक्रमणों का सफल प्रतिरोध नहीं कर सके। संकोर्णता ने न केवल उनके बौद्धिक विकास में बाधा डाली किन्तु उनमें महत्त्वाकांक्षा और उत्साह बिलकुल समाप्त कर दिया। पहले वे शत्रुओं से पराभूत होने पर भी उन्हें अपने देश के बाहर धकेल देते थे, अब उनके बार बार हमला करने पर भी उन्होंने उनके देश पर आक्रमण नहीं किया। कुमारगुप्त वंक्षु (आमू) के तीर पर हूणों से लड़ा था किन्तु पृथ्वीराज के लिए मुहम्मद गौरी की राजधानी गोर पर आक्रमण करना अचिन्तनीय कल्पना थी। अपने देश से बाहर कदम रखते ही म्लेच्छों के सम्पर्क से जाति और धर्म भ्रष्ट होने का डर था। जाति-भेद का छठा दुष्परिणाम अस्पृश्यता थी। उच्च जातियों ने जात्यभिमान के कारण उनका घोर उत्पीड़न किया, उन्हें मानवीय अधिकारों से वंचित रखा, उनके साथ भीषण दुर्व्यवहार किया। इससे उन्होंने अपनी जाति को ही नुकसान पहुंचाया। जात-पांत का सातवां दुष्परिणाम अपनों को पराया बनाना तथा अपनी जाति को क्षीण करना था। जिससे एक बार कोई भूल हो गई, वह हिन्दू समाज से सदा के लिए बहिष्कृत कर दिया गया। विधर्मी प्रचारकों ने इसका पूरा लाभ उठाया, उच्च वर्णों से पीड़ित दलित जातियों को मुसलमान और ईसाई बनाया। पहले इस देश में १०० प्रतिशत हिन्दू थे, बीसवीं शती में वे ६५ प्रतिशत ही रह गए। हम आत्म सन्तोष के लिए भले ही यह दावा करें कि भारत में हिन्दुओं की बहुसंख्या है किन्तु यह बिलकुल थोथी और गलत गर्वोक्ति है। "वास्तव में हिन्दू समाज आपस में लड़ते हुए अल्पसंख्यक समुदायों का कोई तीन हजार जातियों और उपजातियों का जो सब भोजन और विवाह के विषय में एक दूसरे को अस्पृश्य समझती हैं एक प्रतिक्षण विशीर्यमाण ढेर है। वर्त्तमान रूप में जातिभेद के रहते हुए भारत में सच्ची राष्ट्रीय एकता समानता और प्रजातन्त्र की भावना नहीं उत्पन्न हो सकती।"

स्त्रियों की स्थिति

गुप्त युग की भांति मध्य काल में भी उच्च कुलों की स्त्रियों की स्थिति संतोषजनक थी कि साधारण रूप से उनकी दशा निरन्तर अवनत हो रही थी। कुलीन परिवारों की स्त्रियां वेदाध्ययन से वंचित होने पर भी लौकिक साहित्य और दर्शन का अच्छा अभ्यास करती थीं। हर्ष की बहन राज्यश्री को बौद्ध सिद्धान्तों की शिक्षा देने के लिए दिवाकर मित्र नामक पंडित नियुक्त किया गया था। मंडन मिश्र की प्रकाण्ड विदुषी पत्नी ने दार्शनिक शिरोमणि श्री शंकराचार्य को भी निरुत्तर कर दिया था। प्रसिद्ध कवि राजशेखर की पत्नी अवन्ति सुन्दरी भी प्रसिद्ध पंडिता थी। उसने प्राकृत कविता में प्रयुक्त होने वाले देशी शब्दों का कोश बनाया, इसमें प्रत्येक शब्द के प्रयोग के उसने स्वरचित उदाहरण दिये हैं। उस समय सरस्वती के क्षेत्र में नर-नारी की योग्यता तुल्य मानी जाती थी। राजशेखर के शब्दों में—"पुरुषों की तरह स्त्रियां भी कवि होती हैं। संस्कार तो आत्मा में होता है, वह स्त्री या पुरुष के भेद की अपेक्षा नहीं करता। राजाओं और मंत्रियों की पुत्रियां, वेश्याएं कौतुकियों की स्त्रियां, शास्त्रों में निष्णात बुद्धि वाली और कवयित्री देखी जाती हैं।" इस समय की स्त्री संस्कृत कवियों में कुछ के नाम ये हैं—इन्दुलेखा, मारुला, मोरिका, विज्जिका, शीला, सुभद्रा, पद्मश्री, मदालसा और लक्ष्मी। स्त्रियों को गणित जैसे क्लिष्ट विषयों की भी शिक्षा दी जाती थी। भास्कराचार्य (१२ वीं शती का अन्तिम भाग) ने अपनी पुत्री लीलावती को गणित का अध्ययन कराने के लिए लीलावती ग्रन्थ लिखा। स्त्रियों को ललित कलाओं की शिक्षा तो विशेष रूप से दी जाती थी। राज्यश्री को संगीत, नृत्य सिखाने का प्रबन्ध किया गया था। हर्ष लिखित रत्नावली में रानी का वर्त्तिका (वश) से रंगीन चित्र बनाने का वर्णन है, इसी नाटक में रानी को नृत्य, गीत, वाद्यादि के विषय में परामर्श देने वाली बताया गया है।

ललित कलाओं के अतिरिक्त कुछ स्त्रियों ने इस समय शासन-प्रबन्ध तथा रण-कला-जैसे पुरुषोचित कार्यों में भी अपनी पटुता प्रदर्शित की। दक्षिण के पश्चिमी सोलंकी विक्रमादित्य की बहन अक्कादेवी वीर प्रकृति की और राज-

कार्य में प्रवीण थी, वह चार प्रदेशों की शासिका थी, एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसने गोकागे (गोकाक जि० बेलगांव) के किले पर घेरा डाला था। स्त्रियों में पर्दा प्रथा का व्यापक प्रचार नहीं था।

समाज में विधवाओं का विवाह शनैः-शनैः बन्द हो रहा था। अलबेरुनी ने लिखा है कि एक स्त्री दूसरी बार विवाह नहीं कर सकती। विधवाएं उस समय या तो तपस्विनी का सा जीवन व्यतीत करती थीं या सती हो जाती थीं। गुप्त युग में सती होने की केवल एक ही ऐतिहासिक घटना मिलती है किन्तु इस युग में इसके अनेक उदाहरण हैं। हर्ष की माता यशोवती ने चिता-रोहण किया था, हर्ष की बहन राज्यश्री भी अग्नि में कूदने के लिए तय्यार थी किन्तु उसे भाई ने रोक लिया। इस काल के अन्तिम भाग में सती-प्रथा का प्रसार अधिक तेजी से होने लगी।

साधारण स्त्रियों की पराधीनता और परवशता इस काल में निरन्तर बढ़ती चली गई, दाम्पत्य अधिकारों में विषमता आने लगी और नारी का दर्जा गिरता गया। बाल-विवाह का प्रचलन और स्त्रियों को वेदाध्ययन का अधिकार न होने से शूद्रों के समान समझा जाना इस दुरवस्था के प्रधान कारण थे। इसी समय यह सिद्धान्त सर्वमान्य हुआ कि स्त्री सदैव परतन्त्र रहनी चाहिए, उसे दुःशील और कामवृत्त पति की भी सेवा करनी चाहिए, सायंकाल में पति-पत्नी को तीन बार से अधिक हाथ या खपच्ची से नहीं पीट सकता। किन्तु यह धारणा प्रबल हुई—"ढोल, गंवार, शूद्र, पशु, नारी; ये सब ताड़न के अधिकारी।"

(२) साहित्य

इस समय संस्कृत साहित्य के लगभग सभी अंगों की उन्नति हुई। अनेक प्रसिद्ध दार्शनिकों, कवियों, लेखकों ने इस काल को अलंकृत किया किन्तु दार्शनिकों में धर्मकीर्त्ति, शान्तरक्षित और शंकर के बाद पहले की-सी मौलिकता और ताजगी समाप्त हो जाती है। नये विचार के स्थान पर बाल की खाल निकालने की प्रवृत्ति प्रबल होती है, कविता में सहज सौन्दर्य की बजाय

अलंकारों की कृत्रिम शैली प्रधान हो जाती है कानून के क्षेत्र में नई स्मृतियों का निर्माण बन्द हो जाता है, इस काल में पहले तो स्मृतियों के भाष्य होते हैं और अन्त में पुराने धर्म-ग्रन्थों के आधार पर निबन्ध ग्रन्थ बनने लगते हैं। इस काल की एक प्रधान विशेषता प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य का अभ्युत्थान और विकास है।

संस्कृत साहित्य

काव्य

मध्य काल में संस्कृत साहित्य के प्रायः सभी अंगों काव्य, नाटक, चम्पू (गद्यपद्यात्मक काव्य), अलंकार शास्त्र, व्याकरण, कोष, दर्शन आदि का विकास हुआ। इस समय के काव्यों में भट्टि का रावण वध (छठी श० का उत्तरार्ध), माघ (लगभग ६७५ ई०) का शिशुपालवध तथा श्रीहर्ष का नैषधीय चरित (१२ वीं श० का उत्तरार्ध) उल्लेखनीय हैं। इन सबने प्रायः भारवि द्वारा प्रवर्त्तित पद्धति का अनुसरण कर काव्य को रसमय बनाने की अपेक्षा उसे अधिक-से अधिक अलंकारों से विभूषित करने का यत्न किया है। अलंकृत शैली का चरम विकास श्रीहर्ष के काव्य में है, उसके एक-एक श्लोक में अनेक अलंकार हैं तथा कई श्लोकों में अनेकार्थक शब्दों का इतना अधिक प्रयोग हुआ है कि एक ही पद्य के कई अर्थ किये जा सकते हैं। इनके कथानक प्रायः रामायण, महाभारत की कथाओं से लिये गए हैं। इस समय कुछ कवियों ने अपने आश्रयदाताओं के चरित्र को रोचक, काव्यमयी भाषाओं में लिखकर उन्हें अमर करने का प्रयत्न किया तथा संस्कृत में ऐतिहासिक काव्यों की परम्परा डाली। इनमें पद्मगुप्त परिमल (११ ग्रं० का० १००५ ई०) का नव-साहसांक चरित (राजा भोज के पिता सिन्धुराज का चरित्र) और बिल्हण का विक्रमांकदेव चरित (चालुक्यवंशी विक्रमादित्य षष्ठ १०७६-११२७ ई० का वर्णन) जयानक का पृथ्वीराज विजय और हेमचन्द्र का कुमारपाल-चरित प्रसिद्ध है। किन्तु सबसे प्रसिद्ध ऐतिहासिक काव्य कल्हण-रचित राज-तरंगिणी है। इसकी रचना कश्मीरी राजा जयसिंह (११२७-११४६ ई०) के समय में हुई, इसमें १२ वीं शती तक के काश्मीरी इतिहास का बड़ा सरस वर्णन है।

मध्यकाल के प्रसिद्ध संस्कृत नाटक हर्ष की रत्नावली, प्रियदर्शिका और नागानन्द, भट्टनारायण का वेणीसंहार, भवभूति (८ वीं श० का पूर्वार्द्ध०) के उत्तर रामचरित, महावीर-चरित और मालती-माधव, मुरारि का अनर्घ राघव, राजशेखर (नवीं श० का उत्तरार्ध), के बाल रामायण, बाल भारत, कर्पूर मञ्जरी हैं। इनमें भवभूति की कृति उत्तररामचरित सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है।

नाटक

संस्कृत के मुक्तक और गेयकाव्यों की अधिकांश प्रसिद्ध रचनाएं इसी युग की हैं। सात बार संन्यास और गृहस्थ के बीच में डोलने वाले भर्तृहरि के शृंगार और वैराग्य शतकों में दोनों भावों का सुन्दर चित्रण है और नीति-शतक में नीति विषयक तत्त्वों का उदात्त वर्णन। शृंगार रस का सर्वश्रेष्ठ मुक्तक अमरुक-शतक है। इसका एक-एक पद्य संस्कृत साहित्य का चमकीला हीरा है। ११वीं शती में महाकवि जयदेव ने कोमल कान्त पदावली में 'गीत-गोविन्द' की रचना की।

संस्कृत में पद्य की अपेक्षा गद्य बहुत कम लिखा गया। सबसे बड़े गद्य-लेखक वासवादत्ता के प्रणेता सुबन्धु, कादम्बरी और हर्ष-चरित के रचयिता बाण (७वीं शती) और दशकुमार-चरित के लेखक दण्डी (सातवीं शती का उत्तरार्ध) हैं। दण्डी पद-लालित्य तथा बाणभट्ट वर्णन-कौशल की दृष्टि से अनुपम हैं। गद्य-पद्य-मिश्रित रचना चम्पू कहलाती है। चम्पुओं में त्रिविक्रम भट्ट (दसवीं शती का आरम्भ) का नलचम्पू सर्वश्रेष्ठ है।

गद्य

मध्ययुग में अलंकार शास्त्र के विकास द्वारा काव्य के विभिन्न अंगों-रस, ध्वनि, गुण, दोष और अलंकारों का सूक्ष्म विवेचन किया गया। इसके पहले आचार्य भामह छठी शती के मध्य में हुए, इन्होंने इस के मौलिक सिद्धान्तों का काव्यालंकार में सुस्पष्ट प्रतिपादन किया। इनके बाद दण्डी, वामन (८वीं शती का अन्तिम भाग), आनन्दवर्धन (नवीं शती) अभिनव गुप्त, मम्मट आदि विद्वानों ने इस शास्त्र को प्रौढ़ता तक पहुँचाया।

इस युग में कथा-साहित्य भी काफी लिखा गया। पहली या दूसरी श०

ई० में गुणाढ्य ने बृहत्कथा लिखी थी। यह लुप्त हो चुकी है, इसके आधार पर ११वीं शती में क्षेमेन्द्र ने बृहत्कथा मंजरी तथा सोमदेव ने कथा सरित्सागर लिखा। पिछला ग्रन्थ बहुत बड़ा है और आकार में महाभारत का चतुर्थांश है। इस प्रकार के अन्य ग्रन्थ बेताल पंचविंशति, सिंहासन द्वात्रिंशिका और शुक सप्तति हैं।

धर्मशास्त्र के क्षेत्र में इस काल में नई स्मृतियों का निर्माण बन्द हो गया, पुरानी स्मृतियों पर टीकाएं और भाष्य लिखे गए। मनुस्मृति की पहली और प्रसिद्ध टीकाएं मेधा तिथि (नवीं श०) और गोविन्दराज (ग्यारहवीं श०) ने लिखी। विज्ञानेश्वर की याज्ञवल्क्य स्मृति मे प्रसिद्ध मिताक्षरा व्याख्या भी ११वीं शती की रचना है। वर्त्तमान हिन्दू कानून का यह प्रधान आधार है। १२वीं शती से पुराने धर्मशास्त्रों के आधार पर निबन्धग्रन्थ लिखे जाने लगे। इस प्रकार का पहला ग्रन्थ कनौज के राजा गोविन्दचन्द्र (१११४-४५) के मंत्री लक्ष्मीधर कृत 'कृत्यकल्पतरु' था।

इस काल के दार्शनिक साहित्य का परिचय पहले दिया जा चुका है। व्याकरण में जयादित्य और वामन ने ६६२ ई० के लगभग पाणिनीय सूत्रों पर काशिकावृत्ति के नाम से भाष्य लिखा। भर्तृहरि ने वाक्यप्रदीप, महाभाष्य दीपिका और महाभाष्य त्रिपदी नामक ग्रन्थों की रचना की। पाणिनि से भिन्न अन्य व्याकरणों मे इस काल मे शर्व वर्मा का 'कातन्त्र' बड़ा लोकप्रिय था। बृहत्तर भारत में मध्य एशिया से बालि तक इसकी पुरानी पोथियां मिली हैं। जैन आचार्य हेमचन्द्र ने अपनी तथा अपने आश्रय-दाता नरेश सिद्धराज की स्मृति सुरक्षित रखने की दृष्टि से 'सिद्धहेम' नामक प्रसिद्ध व्याकरण का निर्माण किया। संस्कृत कोषों में अमरकोष इतना लोकप्रिय हुआ कि इस पर ५० के लगभग टीकाएं लिखी गईं। इनमें १०५० ई० के लगभग होने वाले क्षीरस्वामी की टीका अत्यन्त प्रसिद्ध है। पुरुषोत्तमदेव ने अमरकोष के परिशिष्ट रूप में 'त्रिकाण्ड शेष' की रचना की, हारावली में नये कठिन शब्दों का अर्थ दिया। अन्य कोषों में हेमचन्द्र का अभिधान चिन्तामणि, अनेकार्थ संग्रह, यादव का वैजयन्ती, हलायुध का अभिधान

रत्नमाला उल्लेखनीय हैं। राजनीति शास्त्र में इस काल की प्रसिद्ध रचना शुक्रनीति है। कामशास्त्र में वात्स्यायन के कामसूत्र पर टीकाएं लिखी गईं, इस विषय के स्वतन्त्र ग्रन्थ कोक पंडित का कोकशास्त्र और बौद्ध पद्मश्री का नागर सर्वस्व है। संगीत का प्रसिद्ध ग्रन्थ शार्ङ्गदेवकृत (१३वीं श०) संगीतरत्नाकर है। ज्ञान तथा कला की संभवतः कोई शाखा ऐसी नहीं थी, जिस पर संस्कृत में ग्रन्थ न लिखे गए हों। यहां तक कि चोरी की कला पर भी साहित्य था। दुर्भाग्यवश, प्राचीन साहित्य का बहुत बड़ा हिस्सा लुप्त हो चुका है।

प्राकृत साहित्य

संस्कृत वाङ्मय की भांति इस काल में प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य की भी बड़ी उन्नति हुई। प्राकृतों का विकास-काल पहली से छठी श० ई० तथा अपभ्रंशों का उन्नतियुग ६००-१००० ई० समझा जाता है। वैदिक भाषा के जन-साधारण में में प्रचलित रूप के अवान्तर भेदों की दृष्टि से, पहले प्राकृतों का जन्म हुआ और बाद में अधिक अन्तर बढ़ने पर अपभ्रंशों का। यही अपभ्रंश आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं—हिन्दी, मराठी, गुजराती, बङ्गला आदि का पूर्व रूप हैं। प्रधान प्राकृत मागधी, शौरशेनी, महाराष्ट्रीय और पैशाची हैं। इनमें साहित्यिक दृष्टि से महाराष्ट्री सर्वश्रेष्ठ है। इसी में सातवाहन राजा हाल की गाथा सप्तशती है। जैनों ने इनका बहुत विकास किया मागधी और शौरसेनी के मिश्रण अर्धमागधी में उनके प्राचीन आगम ग्रन्थ हैं। सातवीं शती से अपभ्रंशों का प्रयोग प्रारम्भ हुआ। पुरानी हिन्दी इसी से निकली है। इसमें दोहा-प्रधान छन्द है। इस भाषा का सबसे प्रसिद्ध और बृहत् ग्रन्थ दसवीं श० ई० में धनपाल द्वारा लिखा 'भविसयत्तकहा' है। प्राकृत साहित्य का विकास होने पर इनके अनेक प्रामाणिक व्याकरण और कोश लिखे गए।

दक्षिणी भाषाएं

दक्षिण की प्रधानता भाषाओं—तामिल, तेलगू और कन्नड़ में इस युग से काफी साहित्य बनने लगा था। तामिल का साहित्य तो ईसा की पहली श० से बनने लगा था। इसके प्राचीनतम ग्रन्थ 'नालदियार' के कुछ अंश ही मिलते हैं। तिरुवल्लुवरकृत 'कुरल' तामिल वेद माना जाता है, इसमें धर्म, अर्थ, काम के

सम्बन्ध में उपयोगी उपदेश हैं। तामिल के सबसे प्राचीन व्याकरण 'तोल-कप्पियम्' का कर्त्ता अगस्त्य ऋषि का शिष्य बताया जाता है। इसमें अनेक ऐतिहासिक ग्रन्थ भी हैं। मध्ययुग में इसकी प्रसिद्धतम रचना कम्बन कृत 'रामायणम्' थी। तेलगु में पूर्वी सोलंकी राजा राजराज ने ननियभट्ट से महाभारत का अनुवाद कराया। इन सब भाषाओं पर संस्कृत का गहरा प्रभाव है।

(३) वैज्ञानिक उन्नति

इस समय ज्योतिष, आयुर्वेद आदि सभी विद्वानों का साहित्य विकसित हुआ; किन्तु उसमें नवीन अनुसन्धान और मौलिकता का ह्रास हो गया। इस काल के प्रधान ज्योतिषी ब्रह्मगुप्त और भास्कराचार्य थे। ब्रह्मगुप्त ने ६२८ ई० के आसपास 'ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त' और खंडखाद्य ग्रन्थों में प्रायः प्राचीन आचार्यों के सिद्धान्तों का समर्थन किया। भास्कराचार्य (जन्मकाल-१११४ ई०) ने 'सिद्धान्त शिरोमणि' के पहले दो भागों—लीलावती तथा बीजगणित में गणित विषयक तथा ग्रहगणिताध्याय और गोलाध्याय में ज्योतिष सम्बन्धी नियमों का प्रतिपादन किया। इसमें उसने पृथ्वी के गोल होने तथा उसकी आकर्षण शक्ति के सिद्धांतों की बड़ी सुन्दर व्याख्या की है। इसी काल में भारतीय ज्योतिषियों को खलीफा हारू रशीद और अल्मामून ने बगदाद में बुलाया, उनके ग्रन्थों का अरबी अनुवाद कराया। अरबों द्वारा भारतीय ज्योतिष का ज्ञान योरोप पहुंचा। गणित के सभी क्षेत्रों में भास्कराचार्य ने अपने पूर्व निर्दिष्ट ग्रन्थ में पुराने आचार्यों के सिद्धान्त दिये हैं। त्रिकोणमिति का इस समय अच्छा विकास हुआ था। भारतीयों ने ज्या और उत्क्रम ज्या की सारणियां बना ली थीं। पश्चिम में न्यूटन (१६४२-१७२७) ने पांच शती बाद जिस गुरुत्वाकर्षण नियम का और चलन गणित का आविष्कार किया, भास्कराचार्य पांच शती पहले भारत में उनकी खोजकर चुके थे। इनकी राशियों की गणना यूनानी ज्योतिषी आर्किमीडिस से अधिक शुद्ध

है, ग्रह की क्षणिक गति के हिसाब में उन्होंने एक सैकण्ड के ३३७५ वें भाग की त्रुटि का भी उल्लेख किया है।

आयुर्वेद

मध्य काल में, आयुर्वेद के कई प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखे गए। वाग्भट्ट ने ८०० ई० के लगभग अष्टांगहृदय और माधवकर ने माधव निदान लिखे। माधव निदान में रोगों के निदान-अर्थात् उत्पत्ति-कारणों पर विस्तार से विचार है। १०६० ई० में बङ्गाल के चक्रपाणिदत्त ने चरक, सुश्रुत पर टीकाओं के अतिरिक्त चिकित्सा-सार-संग्रह की रचना की। १२०० ई० के लगभग शाङ्गधरसंहिता लिखी गई, इसमें अफ़ीम, पारा आदि ओषधियों के वर्णन के अतिरिक्त नाड़ी-विज्ञान के भी निदान दिये गए हैं। वनस्पति-शास्त्र के कोशों में शब्द-प्रदीप और निघण्टु प्रसिद्ध हैं। हमारे यहां शरीर और शल्यविद्या काफी उन्नत थी। प्राचीन भारतीय कृत्रिम दांतों के बनाने, लगाने तथा कृत्रिम नाक को बनाकर जोड़ने की कला भी जानते थे, मोतिया बिन्द को आपरेशन से दूर करते थे। पथरी, अन्त्रवृद्धि (हर्निया), भगंदर, नाड़ीव्रण एवं अर्श को ठीक कर देते थे। स्त्रियों के रोगों के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म आपरेशन, शल्यक्रिया द्वारा गर्भ-निमोचन की विधि भी उन्हें सुपरिचित थी। खलीफा अलमन्सूर ने आठवीं शती में भारत के कई वैद्यक ग्रन्थों का अरबी अनुवाद कराया था। हारूं रशीद ने अनेक भारतीय वैद्य बगदाद बुलाये। अरबों द्वारा भारतीय आयुर्वेद योरोप पहुंचा।

चिकित्सालय विश्व में सर्वप्रथम संभवतः भारत में ही बने। योरोप में दसवीं श० में पहले औषधालय की स्थापना हुई; किन्तु भारत में इनका सर्व-प्रथम उल्लेख श० ई० पू० के अशोक के अभिलेखों में है, पांचवीं श० में फाहियान तथा सातवीं श० में युआन-च्वांग ने क्रमशः पाटलिपुत्र, और तक्ष-शिला, मथुरा आदि की पुण्यशालाओं का उल्लेख किया है जहां निर्धनों तथा विधवाओं को भोजन और वस्त्र के अतिरिक्त मुफ्त औषधि भी दी जाती थी।

पशु-चिकित्सा भी कम उन्नत नहीं थी। हाथियों और घोड़ों की समर की दृष्टि से बड़ी महत्ता थी। अतः इन पर संस्कृत साहित्य में बहुत ग्रन्थ

बने। इनमें निम्न उल्लेखनीय हैं—पालकाप्य की गज-चिकित्सा, गजायुर्वेद गजदर्पण, गज परीक्षा, गज लक्षण जयदत्त कृत अश्व-चिकित्सा, नकुल का शालिहोत्र शास्त्र, अश्वतन्त्र गणरचित अश्वायुर्वेद, अश्वलक्षण, हयलीलावती। इनमें अधिकांश लुप्त हो चुके हैं, दूसरे ग्रन्थों में उद्धृत वाक्यों से ही इनका ज्ञान होता है। पशु-विज्ञान को तथा कृमिशास्त्र का प्राचीन ग्रन्थों में सूक्ष्मवर्णन है। जैन पंडित हंसदेव के 'मृगय क्षिशास्त्र' में सिंह आदि पशुओं तथा सारस, उल्लू, तोता आदि पक्षियों का विस्तृत विवरण है।

इस समय विभिन्न उपयोगी शिल्पों—वास्तु, मूर्ति, कृषि, रत्न परीक्षा, धातु विज्ञान पर बहुत पुस्तकें हैं। भूमि यापन के सम्बन्ध में क्षेत्रगणित शास्त्र उपलब्ध होता है। और 'नौ निर्माण' पर नौ शास्त्र आदि ग्रन्थ मिलते हैं। इस प्रकार के साहित्य में मयशिल्प राजा भोजकृत समरांगण सूत्रधार और मुक्ति कल्पतरु विशेष तथा उल्लेखनीय हैं।

वैज्ञानिक अवनति के कारण

किन्तु हमारे पूर्वजों की यह उन्नति देर तक नहीं जारी रही, मध्यकाल में हमारा सांस्कृतिक अधःपतन हो गया। इसके दो प्रधान कारण थे। पहला कारण धार्मिक प्रभाव की अत्यधिक वृद्धि थी। पहले यह कहा जा चुका है कि गुप्त युग तक भारतीय जीवन में एक ओर धर्म तथा मोक्ष तथा दूसरी ओर काम और अर्थ में संतुलन और सामंजस्य था। मध्य काल से धर्म का पलड़ा भारी होने लगा। इसका पहला परिणाम तो यह हुआ कि हमने सांसारिक विषयों की अपेक्षा धार्मिक विषयों को अधिक महत्त्व देना शुरू किया, लौकिक एवं वैज्ञानिक विषयों का अध्ययन उपेक्षित होने से उनकी प्रगति अवरुद्ध होने लगी। धर्म की अत्यधिक प्रभुता का दूसरा परिणाम यह हुआ कि धर्म-ग्रन्थों को परम प्रमाण माना जाने लगा। इससे स्वतन्त्र चिन्तन तथा अन्वेषण की प्रवृत्ति समाप्त हो गई। वैज्ञानिक विषयों में भी पुराण प्रमाण माने जाने लगे। जनता उनमें अन्ध-विश्वास और श्रद्धा रखती थी। भारतीय वैज्ञानिकों ने लोकप्रियता प्राप्त करने के लिए इन सिद्धान्तों को गलत होते हुए भी स्वीकार किया और इससे स्वाधीन तर्क और अनुसन्धान समाप्त हो गए।

एक उदाहरण से यह बात भली भांति स्पष्ट हो जायगी। पुराणों के वर्णनानुसार सूर्य और चन्द्र ग्रहण का कारण राहु और केतु हैं। ज्योतिषी यह मानते हैं कि पृथ्वी की छाया पड़ने से ये ग्रहण होते हैं। पुराने भारतीय ज्योतिषियों को यह अच्छी तरह ज्ञात था कि इनका वास्तविक कारण छाया है, राहु द्वारा ग्रसा जाना नहीं। किन्तु वे अपने को इस लोक-प्रचलित पुराणानुमोदित धार्मिक धारणा का खण्डन करने में असमर्थ पाते थे। यदि इतना ही होता तो भी गनीमत थी; किन्तु कुछ ज्योतिषियों ने लोकप्रियता प्राप्त करने के लिए खुल्लम-खुल्ला यह कहना शुरू किया कि शास्त्रों में कही बात झूठी नहीं हो सकती। अतः वैज्ञानिकों की पृथ्वी की छाया वाली बात गलत है। ब्रह्मगुप्त ने ब्रह्म सिद्धान्त में उन व्यक्तियों की भर्त्सना की है जो ग्रहण का कारण राहु को नहीं मानते। उसकी मुख्य युक्ति यह है कि वेद और स्मृति की बात कैसे मिथ्या हो सकती है। योरोप में जब तक बाइबल को वैज्ञानिक विषयों में प्रामाणिक माना जाता रहा, विज्ञान की उन्नति नहीं हो सकी। भारत में जिस समय से शास्त्र प्रामाण्य का प्राधान्य हुआ, स्वतन्त्र वैज्ञानिक अनुसन्धान बन्द हो गया। इसने न केवल विज्ञान किन्तु अन्य सभी क्षेत्रों में घातक प्रभाव डाला। पुराने ग्रन्थ और आचार्य पूज्य समझे गए, सारी प्रतिभा और विद्वत्ता उनकी रचनाओं के भाष्यों और वृत्तियों में व्यय की जाने लगी। ८०० ई० के लगभग काश्मीरी दार्शनिक जयन्त भट्ट ने इस युग की भावना का परिचय देते हुए ठीक ही लिखा था—'हममें नई वस्तु की कल्पना करने की शक्ति कहां है। सांस्कृतिक ह्रास का दूसरा बड़ा कारण संकीर्ण मनोवृत्ति का प्रबल होना था। पुराने जमाने में भारतीय के दूसरे देशों से उपयोगी कलाएं और विज्ञान ग्रहण करने में कोई संकोच नहीं करते थे। भारतीय कला और ज्योतिष यूनानी प्रभाव से समृद्ध हुई थी। पिछले अध्याय में इस विषय में वराहमिहिर का एक वाक्य उद्धृत किया जा चुका है कि यद्यपि यूनानी म्लेच्छ हैं किन्तु ज्योतिषी होने के कारण आदरणीय हैं। अलबेरूनी के समय तक भारतीयों में संकीर्ण मनोवृत्ति तथा मिथ्याभिमान बहुत बढ़ चुके थे। वे समझते थे कि उन-जैसा कोई

देश नहीं, उन-जैसी कोई जाति नहीं, उनके अतिरिक्त किसी जाति को विज्ञान का कुछ भी ज्ञान नहीं है। 'उनका अभिमान इतना अधिक है कि यदि आप उनसे खुरासान या फारस के किसी विज्ञान या विद्वान का उल्लेख करेंगे तो वे आपको अज्ञानी और झूठा दोनों समझेंगे।' अलबेरूनी इसका प्रधान कारण भारतीयों का दूसरी जातियों से न मिलना-जुलना और विदेश-यात्रा न करना समझता है। पानी का प्रवाह रुकने पर उसमें सड़ांद पैदा हो जाती है, भारतीय विचार में भी जब प्रगतिशीलता न रही तो विकार आना शुरू हुआ २००० वर्ष क्रियाशीलता के बाद स्वाभाविक थकान, शास्त्र-परायणता और संकीर्णता से उसमें ह्रास आने लगा और हमारा सांस्कृतिक अपकर्ष प्रारम्भ हुआ।

इसी समय भारत में इस्लाम का प्रवेश हुआ, उसके उसके सम्पर्क और संघर्ष से उसमें जो परिवर्तन हुए, उनका अगले अध्याय में वर्णन होगा।

दसवां अध्याय

इस्लाम और हिंदू धर्म का सम्पर्क तथा उसके प्रभाव

सातवीं शती ई० में अरब प्रायद्वीप में एक नये धर्म और नई शक्ति का अभ्युत्थान हुआ। उस समय तक अरब की मरुभूमि नाना देवी-देवताओं के उपासक, सामाजिक कुरीतियों में डूबे हुए, सदा परस्पर लड़ने झगड़ने वाले जंगली अरबों और व्यापारियों का देश था। हजरत मुहम्मद (५७०-६३२ ई०) ने उसमें एक निराकार ईश्वर (अल्लाह) की पूजा का प्रचार किया, बालिका-वध, द्यूत, मदिरा-सेवन आदि बुराइयों तथा हानिकर रूढ़ियों का खण्डन किया। उनके उपदेशों ने अरबों में नवजीवन का संचार किया। शीघ्र ही समूचा अरब उनके नेतृत्व में संगठित हो गया। ७५० ई० तक पूर्व में मध्य एशिया की पामीर पर्वत-माला, और सिन्ध से पश्चिम में पिरेनीज पर्वत-माला (फ्रांस) और स्पेन तक के विशाल भूखण्ड में इस्लाम की विजय वैजयन्ती फहराने लगी।

इस्लाम का उदय

भारत में इस्लाम का प्रचार

इस्लाम की विश्वव्यापी लहर शीघ्र ही सीमान्तों से भारत में प्रवेश करने लगी। इस देश में इसका प्रचार दो ढङ्ग से हुआ, शान्तिपूर्वक और शक्ति-पूर्वक। प्रथम तरीके से प्रचार करने वाले अरब व्यापारी, मुस्लिम फकीर और दरवेश थे। दूसरे के माध्यम थे—अरब, तुर्की और मुगल आक्रान्ता। प्रायः यह समझा जाता है कि इस्लाम तलवार के जोर से फैला किन्तु यह बात सर्वांश में सत्य नहीं है। भारत में सर्वप्रथम इसका प्रसार शान्ति-पूर्वक ही हुआ। अरबों और भारतीयों का सम्बन्ध हजरत मुहम्मद के जन्म से पहले कई सदियों से चला आता था। वे नाविकों तथा व्यापारियों के रूप में भारत के पूर्वी तथा पश्चिमी तटों के बन्दरगाहों

शान्ति-पूर्वक प्रवेश

पर आते थे। विशेषतः पश्चिमी तट पर चौल, कल्याण और सुपारा तथा मलाबार में इनकी अनेक बस्तियां थी। इस्लाम के प्रचार के बाद ये कट्टर मुसलमान होकर भारत आने लगे। इनमें से अनेक अरब व्यापारी भारत में ही बस जाते थे, भारतीय स्त्रियों से शादी कर लेते थे। इन्हीं की सन्तान कोंकण की नटिया और मलाबार की मोपला जातियां हैं। उस समय के पश्चिमी तट के हिन्दू शासकों की विशेषतः सौराष्ट्र के बलभी वंश और कालीकट के ज़मोरिनों की नीति इन व्यापारियों को अपने राज्य में पूरा प्रोत्साहन देने की थी, क्योंकि इनसे उनके राज्यों को बड़ी आय थी। बलभी के राजाओं ने इन्हें अपने राज्य में न केवल मस्जिदें बनाने की ही अनुमति न दी अपितु स्वयं भी इनके लिए मस्जिदें बनवाईं। मलाबार के राजाओं ने इन्हें अपने राज्य में बड़ी रियायतें और ऊंचे पद दिये। एक राजा ने तो यहाँ तक आज्ञा दे दी कि हर हिन्दू मुल्लाह के घर कम-से-कम एक लड़के को बचपन से ही मुसलमानों की तरह शिक्षा दी जाय। इन कारणों से दक्षिण में इस्लाम का प्रचार तेजी से होने लगा।

शान्ति-पूर्वक धर्म-प्रचार में सबसे अधिक महत्त्व और सफलता मुस्लिम फकीरों तथा दरवेशों को मिली। ११वीं शती से इनका कार्य शुरू हुआ। इन फकीरों की पीठ पर कोई राजनीतिक शक्ति न थी। इन्होंने अपने उपदेशों तथा चमत्कारों से ही हिन्दू जनता को मुस्लिम बनाया। ११वीं शती में शेख इस्माइल और अब्दुल्ला यमनी भारत आये, १२वीं शती के प्रारम्भ में नूर सतागर ईरानी ने गुजरात की नीच जातियों को मुसलमान बनाया। तेरहवीं शती के प्रसिद्ध फकीर जलालुद्दीन बुखारी, सैयद अहमद कबीर, ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती थे। इनकी शिष्य-परम्परा फरीदुद्दीन, निजामुद्दीन औलिया (१३वीं-१४वीं शती), ख्वाजा कुतुबुद्दीन, शेख अलाउद्दीन अली, अहमद साबिर पिरानकलियर वाले प्रसिद्ध हैं। इन्हें हिन्दुओं की संकीर्ण जाति-प्रथा के कारण बहिष्कृत और पद-दलित व्यक्तियों और नीच जातियों को मुसलमान बनाने में काफ़ी सफलता मिली।

बलपूर्वक इस्लाम प्रचार का कार्य मुस्लिम आक्रान्ताओं ने किया। पहला

आक्रमण ७१२ ई० में मुहम्मद बिन कासिम ने सिन्ध पर बलपूर्वक प्रचार किया। इसके तीन सौ वर्ष बाद ग्यारहवीं शती में मुहम्मद गजनवी ने १७ बार हमले किये। इसके दो सौ वर्ष बाद शहाबुद्दीन गौरी ने पृथ्वीराज को हराया (११९२ ई०)। शहाबुद्दीन के सेनापति कुतुबुद्दीन ने दिल्ली में मुस्लिम शासन की स्थायी नींव डाली (१२०६ ई०)। १५२६ ई० तक दिल्ली पर तुर्कों और अफ़गान सुल्तानों का शासन रहा और इसके बाद दो सौ वर्ष तक मुगलों का। इस काल में फीरोज़ शाह तुग़लक (१३५१-८८ ई०), सिकन्दर लोदी (१४८८-१५१७ ई०), काश्मीर के सिकन्दर (१३९४-१४१६ ई०) तथा औरंगजेब (१६५६-१७०७ ई०) आदि बादशाहों ने इस्लाम के प्रचार के लिए राजशक्ति का पर्याप्त प्रयोग किया।

किन्तु सुदीर्घ काल तक मुस्लिम शासन शक्ति-प्रयोग तथा शान्ति-पूर्वक प्रचार से भी इस्लाम को उल्लेखनीय सफलता नहीं मिली।

एक अभूतपूर्व घटना

हिन्दू-धर्म और इस्लाम के सम्पर्क से दोनों के इतिहास में एक नवीन तथा अभूतपूर्व घटना हुई। इस्लाम से पहले भारत पर यवन, शक, हूण आदि अनेक जातियों के आक्रमण हुए थे। हिन्दू-धर्म और हिन्दू-समाज ने इन जातियों को आत्मसात् कर लिया था। किन्तु मुसलमान ही ऐसी पहली आक्रान्ता जाति थी जो हिन्दू जाति का अंग न बन सकी। दूसरी ओर इस्लाम भारत में आने से पूर्व जिन देशों में गया था वहां उसे विलक्षण सफलता मिली थी। उन देशों की समूची जनता को उसने अपने रंग में रंग लिया। ईरान की पारसी, मिश्र की यूनानी सभ्यताओं का स्थान अरब संस्कृति, अरबी भाषा और इस्लाम ने ग्रहण कर लिया। किन्तु भारत में इस्लाम कई सदियों तक प्रभाव डालने के बाद भी बहुत थोड़े भाग को ही हज़रत मुहम्मद का अनुयायी बना सका। हिन्दू-धर्म और इस्लाम दोनों के एक दूसरे को अपने रंग में न रंग सकने से दो प्रधान कारण थे—(१) इस्लाम का कट्टर एकेश्वरवाद (२) हिन्दू-धर्म की पाचन शक्ति की क्षीणता।

इस्लाम का एकेश्वरवाद

भारत में आने वाले मुस्लिम विजेता एक बात में अपने पूर्ववर्त्ती सभी आक्रान्ताओं से भिन्न थे। शक, कुशाण और हूण आदि जातियों का अपना कोई विशिष्ट धर्म नहीं था। किन्तु मुसलमान न केवल एक कट्टर एकेश्वरवादी धर्म अपने साथ लेकर आये, अपितु उनमें अपने धर्म को फैलाने की लगन और जोश भी था। बुतपरस्ती से जहां उन्हें घृणा थी, वहां वे बुतशिकन होने में गर्व भी अनुभव करते थे। हिन्दू समाज को इसमें कोई आपत्ति न थी कि उनके तैंतीस करोड़ देवों में अल्लाह को भी शामिल कर लिया जाय, उन्होंने अल्लोपनिषद् की भी रचना कर डाली; किन्तु मुसलमानों का अल्लाह लाशरीक था और शिरकत (अल्लाह के साथ अन्य देवताओं को सम्मिलित करना) इस्लाम की नजर में सबसे बड़ा कुफ्र। अतः इस्लाम के अनुयायी हिन्दू धर्म में विलीन होने को तैयार न थे।

यदि यह किसी तरह सम्भव भी होता तो भी हिन्दू धर्म इस्लाम को न पचा पाता। उसमें प्राचीन काल में दूसरों को निगलने, हजम करने, अपने रक्त, मांस, मज्जा में मिश्रित करने तथा अपना अंग बना लेने की जो विलक्षण शक्ति थी वह मुसलमानों के आगमन काल तक बहुत मन्द हो चुकी थी। जाति-भेद की कठोरता से हमारी जाति की यह पुरानी विशेषता लुप्त प्रायः हो रही थी। इसका परिणाम यह हुआ कि जिन राजवंशों के पूर्वज पहले एक पीढ़ी में ही बाहरी जातियों को अपना अंग बना लेते थे, वे अब म्लेच्छों के स्पर्श मात्र से घबराने लगे। विदेश-यात्रा से उनका धर्म नष्ट होने लगा। जब उच्च वर्ग हिन्दू जाति के निम्न वर्गों से भी अलग रहने लगे तब वे विधर्मी मुसलमानों को किस तरह अपने में मिला सकते थे ?

फिर भी हिन्दू धर्म और इस्लाम का जो सम्पर्क हुआ उसका बड़ा महत्त्व है। इस प्रकार की दो विरोधी संस्कृतियों का सम्पर्क न केवल भारतीय ही, अपितु विश्व-इतिहास की भी एक विलक्षण घटना थी। सर जान मार्शल ने ठीक ही लिखा है कि "मानव जाति के इतिहास में ऐसा दृश्य कभी नहीं देखा गया जब इतनी विशाल, इतनी सुविकसित और साथ ही मौलिक रूप से

इतनी विभिन्न सभ्यताओं का सम्मिलन और सम्मिश्रण हुआ हो। इन संस्कृतियों और धर्मों के विस्तृत विभेद उनके सम्पर्क के इतिहास को विशेष शिक्षाप्रद बनाते हैं।"

सम्मिलन की प्रवृत्ति

यद्यपि दोनों धर्म एक दूसरे के कट्टर विरोधी थे, दोनों में उग्र राजनीतिक संघर्ष और भयंकर युद्ध हुए; लेकिन इसके बावजूद हम जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में दोनों को एक दूसरे के पास आते हुए, मिलने के लिए आगे बढ़ते हुए पाते हैं। साधारण जीवन के सभी पहलुओं में सम्मिलन, सम्मिश्रण, सहयोग, सामीप्य, पारस्परिक प्रेम, सामञ्जस्य और समन्वय की मंगल-कारिणी प्रवृत्तियों के दर्शन होते हैं। इस्लाम का सूफीवाद वेदान्त से प्रेरणा प्राप्त करता है, तो हिन्दू धर्म के सुधार-आन्दोलन इस्लाम की समानता और भ्रातृत्व की भावना से प्रभावित होते हैं। सर्व साधारण जनता में ऐसे पन्थों की पूजा शुरू होती है जिनमें हिन्दू-मुस्लिम का भेद नहीं रहता। एक ओर अलबेरुनी आदि विद्वान् संस्कृत पढ़ते हैं, तो दूसरी ओर राय भानामल-जैसे हिन्दू फ़ारसी में मुस्लिम साहित्य की परम्पराओं पर प्रकाश डालते हैं। अमीर खुसरो और रसखान आदि हिन्दी में कविताएं लिखते हैं, हिन्दू फ़ारसी में। दो सभ्यताओं के सम्पर्क से वास्तु, चित्र, संगीत कलाओं में नई शैलियों का आविर्भाव हुआ, जिनके मूल तत्त्व तो भारतीय थे किन्तु बाह्य आकार ईरानी। मुगल बादशाहों ने हिन्दुओं के तुलादान आदि रिवाज ग्रहण किये, हिन्दू सरदारों ने फारसी भाषा, मुस्लिम रहन-सहन, पोशाक और पहनावा अंगीकार किया। राजनीतिक क्षेत्र में दोनों एक दूसरे के घोर विरोधी थे। किन्तु, मुस्लिम शासन हिन्दुओं के सहयोग के बिना नहीं चल सकता था, इसलिए इस समूचे युग में मुस्लिम शासक हिन्दुओं को ऊंचे पदों पर भी रखते थे। गोलकुण्डा के सुलतानों का शासन हिन्दू मन्त्रियों पर निर्भर था, बङ्गाल में हुसेनशाह (१४९३-१५१९ ई०) ने रूप, सनातन और पुरन्दर आदि हिन्दू अफसर नियुक्त किये। मालवे के शासक अलाउद्दीन शाह द्वितीय ने पहले अपना मंत्री वसन्त राम को बनाया और पीछे इस पद पर मेदिनी

राय को नियुक्त किया। बीजापुर के यूसुफ आदिलशाह के राज्य में अनेक हिन्दू उच्च पदों पर थे। इब्राहीम आदिलशाह हिन्दुओं को संरक्षण देने से 'जगद्गुरु' कहलाता था। राजनैतिक तथा सामाजिक जीवन में दोनों धर्मों के सम्पर्क से निम्न परिणाम उत्पन्न हुए। धार्मिक क्षेत्र में इस्लाम ने हिन्दू धर्म पर दो असर डाले। (क) अपने धर्म की रक्षा के लिए हिन्दुओं ने जात-पांत के बन्धनों को दृढ़ बनाया (ख) समानता के तत्त्व पर बल देने वाले जाति-भेद विरोधी सुधार आन्दोलन उत्पन्न हुए। इस्लाम पर हिन्दू धर्म का यह प्रभाव पड़ा कि उसमें कुछ कोमलता और सरसता आई। उसके स्वरूप में भी काफी परिवर्त्तन हुआ। किन्तु इस सम्पर्क का सबसे मुख्य धार्मिक प्रभाव यह था कि इससे कुछ ऐसे सम्प्रदायों का जन्म हुआ जो हिन्दू और मुस्लिम धर्मों के अन्तर को मिटाने वाले थे।

वास्तु कला में दोनों की सभ्यताओं का प्रभाव लिये नई कला-शैलियों का विकास हुआ। विचित्र और सङ्गीत कला की उन्नति हुई। भारत ने मुसलमानों से बागबानी, कागज बनाना आदि कितनी ही कलाएं सीखीं।

कला

(३) साहित्यिक समृद्धि और वैज्ञानिक उन्नति।

(४) राजनीतिक एकता।

(५) साधारण जीवन पर प्रभाव—वेश-भूषा तथा खान-पान में परिवर्त्तन कट्टरपन में वृद्धि।

धार्मिक प्रभाव

(क) मुसलमानों की कट्टरता के कारण हिन्दू उन्हें अपने समाज का अंग नहीं बना सकते थे, लेकिन मुसलमान कट्टर होने के साथ-साथ अपने धर्म के प्रबल प्रचारक थे। यह भय था कि वे सब हिन्दुओं को इस्लाम का अनुयायी न बना डालें। इसके प्रतिकार का उपाय कट्टरता ही सोचा गया। लोहा लोहे को काटता है, इस्लाम की कट्टरता का निराकरण हिन्दुओं की कट्टरता से ही हो सकता था। इस समय के धर्मशास्त्रकारों ने जाति-भेद के नियमों को

कठोर बनाकर हिन्दू-धर्म को इतना सुदृढ़ दुर्ग बनाने का प्रयास किया जिसका इस्लाम भेदन न कर सके। इस प्रकार के लेखकों में पाराशर-स्मृति के टीकाकार माधव, मदन पारिजात के रचयिता विश्वेश्वर, बङ्गाल के रघुनन्दन तथा मनुस्मृति के प्रसिद्ध टीकाकार कुल्लूकभट्ट नीलकण्ठ, कमलाकर भट्ट और हेमाद्रि मुख्य हैं। हेमाद्रि ने अपने 'चतुर्वर्ग चिन्तामणि' में साल-भर में करने के लिए २००० अनुष्ठानों की व्यवस्था की इस प्रकार अनुष्ठानों से नियन्त्रित हिन्दू-समाज पर इस्लाम का प्रभाव पड़ने की सम्भावना कम थी।

(ख) हिन्दूधर्म के सुधार आन्दोलनः—किन्तु धर्मशास्त्रियों की व्यवस्थाएं हिन्दू धर्म की पूरी रक्षा नहीं कर सकती थीं। समाज की नीची जातियां तथा अछूत उच्च वर्गों के द्वारा पददलित और उत्पीड़ित थे। इस्लाम समानता और भ्रातृ-भाव पर जोर देता था। उत्तरी अफ्रीका और पश्चिमी एशिया में उसके शीघ्र प्रसार का एक कारण यह भी था कि उन देशों के पददलित वर्गों को अपने त्राण का एक-मात्र उपाय इस्लाम ही प्रतीत हुआ। भारत में भी इस्लाम अत्यधिक लोकप्रिय हो जाता यदि ठीक इसी समय समानता और भक्ति तत्त्व पर बल देने वाले आन्दोलन न होते। जाति-भेद विषमता की जड़ थी, उस पर सन्तों ने भक्ति के सिद्धान्त द्वारा प्रबल कुठाराघात किया। यह भक्ति सबको पवित्र करने वाली थी, इसने नीचों को भी ऊंचा उठा दिया। हिन्दू-समाज में भले ही भेद भाव हो, लेकिन भगवान् के दरबार में सब भक्त समान हैं। यहां तो 'जात-पांत पूछे नहिं कोई, हरि को भजै सो हरि का होई।' इन सन्तों ने सब धर्मों की समता, ईश्वर की एकता पर बल दिया, बाह्याडम्बर और कर्म-काण्ड की निन्दा की। जन्म के स्थान पर कर्म को महत्त्व दिया और धर्म के ठेकेदार पण्डितों, पुरोहितों और मुल्लाओं की निंदा की, मुक्ति का एक-मात्र साधन भक्ति को माना।

मध्य युग में पहले दक्षिण भारत और फिर उत्तर भारत में सुधार-आन्दोलन प्रारम्भ हुए। दक्षिण के सुधार-आन्दोलनों के नेता शंकराचार्य (लगभग ७८८—८२० ई०), रामानुज (लगभग ११०० ई०) और बसवेश्वर थे, तथा उत्तरी भारत में इसके प्रवर्तक थे रामानन्द। पहले यह बताया जा

चुका है कि भारत में इस्लाम का शान्तिपूर्वक प्रवेश दक्षिण भारत में हुआ, वहीं से सुधार-आन्दोलनों का शुरू होना यह सूचित करता है कि इनको इस्लाम से कुछ प्रेरणा अवश्य मिली। इस्लाम के अनुयायियों की उपस्थिति ने जाति-भेद, आत्मिक जीवन और ईश्वर के अस्तित्व आदि विषयों पर लोगों को विचार करने के लिए उत्तेजित किया। एकेश्वरवाद और समानता आदि के विचार हिन्दूधर्म में पहले से ही विद्यमान थे, किन्तु इस्लाम से उन्हें बल मिला। शंकर और रामानुज के सिद्धान्तों पर यद्यपि इस्लाम का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा किन्तु लिंगायत पर अवश्य ही पड़ा। हिन्दुओं का अंग होते हुए भी ये जाति-भेद नहीं स्वीकार करते, इसमें तलाक और विधवा-विवाह की इजाजत है। मुर्दे फूंकने की जगह दफनाये जाते हैं, ये श्राद्ध तथा पुनर्जन्म को नहीं मानते, सब एक दूसरे के साथ खा-पी सकते हैं। इसका प्रसार इस समय तक बेलगांव, बीजापुर और धारवाड़ जिलों, कोल्हा-पुर और मैसूर रियासतों में है।

उत्तर भारत में जाति-भेद का खण्डन करने और भक्ति पर जोर देने वाले धार्मिक आन्दोलनों के संस्थापक रामानन्द थे। इन्होंने राम की भक्ति पर जोर दिया और हर जाति के लोगों को अपने शिष्यों में सम्मिलित किया। रामानन्द के शिष्यों में एक नाई, एक मोची और एक मुसलमान थे। मैकालिफ के मतानुसार इसमें कोई सन्देह नहीं कि बनारस में विद्वान् मुसलमानों से रामानन्द की भेंट हुई। रामानन्द के शिष्यों में महात्मा कबीर (१३६८-१५१८ ई०) इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं कि उन्होंने इस्लाम और हिन्दू धर्म की चौड़ी खाई को पाटने तथा उसमें सहयोग और समन्वय की भावना उत्पन्न करने का यत्न किया। उन्होंने दोनों धर्मों के बाह्य भेदों, रूढ़ियों और आडम्बरों का खण्डन करते हुए आन्तरिक एकता पर बल दिया। हिन्दू-मुस्लिम धर्मों की झूठी पृथक्ता का खण्डन करते हुए उन्होंने कहा :—

भाई रे दुई जगदीश कहां ते आया, कहु कौने बौराया।
अल्लाह राम करीमा केशव, हरि हजरत नाम धराया॥

गहना एक कनक ते गहना, यामे भाव न दूजा।
कहन सुनन को दुइ कर थापे, एक नमाज एक पूजा॥
वही महादेव वही मुहम्मद, ब्रह्मा आदम कहिये।
को हिन्दू को तुरक कहावै एक जिमी परिहरिये॥
वेद कितेब पढ़े वै कुतबा, वै मुलना वै पांडे।
बेगर बेगर नाम धराये, एक मिट्टी के भांडे॥

दोनों धर्मों के बाह्य कर्मकाण्ड की निन्दा करते हुए उन्होंने हिन्दुओं से कहा :—

पाहन पूजे हरि मिले, तो मैं पुजौं पहार।
ताते या चाकी भली, पीस खाय संसार॥

और मुसलमानों से कहा :—

कांकर पत्थर जोरि के मस्जिद लई चुनाय।
ता चढ़ि मुल्ला बांग दे क्या बहरा हुआ खुदाय॥

कबीर की शिक्षाएं रहस्यवाद से ओत-प्रोत थीं। उन पर मुसलमान सूफी फकीरों का स्पष्ट प्रभाव है। इस्लाम के समानता, भ्रातृ-भाव, विशुद्ध एकेश्वर-वाद और मूर्त्ति-भंजन के सिद्धान्त महाराष्ट्र की जनता पर भी गहरा प्रभाव डाल रहे थे। वहां ब्राह्मण और अब्राह्मण दोनों तरह के प्रचारक इस बात पर बल दे रहे थे कि राम और रहीम को एक समझो, जाति-भेद के बन्धनों को तोड़ दो, मनुष्य-मात्र के साथ प्रेम करो। रामानन्द के समकालीन विसोबा खेचर ने मूर्त्ति-पूजा का कट्टर विरोध करते हुए कहा :—'पत्थर का देवता नहीं बोलता, वह हमारे इस जीवन के दुःखों को किस तरह दूर कर सकता है। यदि पत्थर का देवता हमारी इच्छा पूरी कर सकता है तो गिरने पर वह टूट क्यों जाता है?' खेचर के शिष्य नामदेव हुए। इन्होंने महाराष्ट्र में धार्मिक संकीर्णता और जात-पांत के बन्धनों को तोड़ने पर बल दिया। इनके शिष्यों और अनुयायियों में लिंग, धर्म, वर्ण और जाति का भेद नहीं था, उनमें स्त्री-पुरुष, हिन्दू-मुसलमान, ब्राह्मण-अब्राह्मण, कुनबी, दर्जी, कुम्हार, अन्त्यज, महार और धर्मनिष्ठ वेश्याएं तक सम्मिलित थे। नामदेव के

महार शिष्य चोख मेला को ब्राह्मण पुरोहितों ने जब पंढरपुर के प्रसिद्ध मन्दिर में प्रवेश करने से रोका, तो उसने उत्तर दिया :—'ईश्वर अपने बच्चों से भक्ति और प्रेम चाहता है। वह उनकी जाति की परवाह नहीं करता।'

१५ वीं सदी में पंजाब में गुरु नानक ने कबीर की भांति सब धर्मों की मौलिक एकता और हिन्दू-मुसलमानों के अभेद पर बल दिया :—

बन्दे इक खुदाय के हिन्दू मुसलमान।
दावा राम रसूल कर, लड़दे बेईमान॥

उन्होंने हिन्दुओं के गंगा स्नान, तीर्थ-यात्रा, जप-पूजा-पाठ और प्रतिमा-पूजन आदि का विरोध करते हुए जाति-भेद की तीव्र निन्दा की और मुसलमानों को भी यह उपदेश दिया:—'दया को अपनी मस्जिद बना, इन्साफ अपना कुरान समझ, नेक कामों को अपना काबा बना और परोपकार को कलमा। खुदा की मरजी को अपनी तसवीह मान।' गुरु नानक के शिष्यों में हिन्दू और मुसलमान दोनों थे।

नानक के समकालीन महाप्रभु चैतन्य (१४८५-१५३३ ई०)थे। उन्होंने बङ्गला में हरि-भक्ति के प्रचार के द्वारा ब्राह्मणों के कर्मकाण्ड और जाति-भेद का जबर्दस्त खण्डन किया। उनके शिष्यों में नीच जाति के लोग और मुसलमान भी सम्मिलित थे।

इस्लाम में परिवर्त्तन

धार्मिक क्षेत्र में तीसरा प्रभाव यह पड़ा कि भारतीय इस्लाम का रूपान्तर होने लगा। अरब के रेगिस्तान में उत्पन्न इस्लाम वहां की वनस्पति की भांति सरल, कठोर और शुष्क था; वह भारत के आर्द्र जलवायु में रूपान्तरित हुए बिना नहीं पनप सकता था। भारत की हरियाली का उस पर प्रभाव पड़ना अनिवार्य था। अतः हम देखते हैं कि भारत में इस्लाम के साथ ऐसी अनेक बातें जुड़ गईं, जो पैग़म्बर की शिक्षाओं के सर्वथा प्रतिकूल और अन्ध-विश्वासों से परिपूर्ण थीं। मूर्त्तिपूजा के कट्टर विरोधी होते हुए भी बंगाल में उन्होंने शीतला, काली, धर्मराज, वैद्यनाथ और इतर देवताओं की पूजा जारी रखी। इसके साथ ही उन्होंने नदियों के अधिष्ठाता ख्वाजा खिज्र, सुन्दर बन में शेर की

सवारी करने वाली देवी के प्रेमी और अंग-रक्षक जिन्दागाजी आदि नये मुसलमान देवता बना डाले। पीरों के मजारों की पूजा चल पड़ी। इसका प्रधान कारण यह था कि भारत में इस्लाम ने जो अनुयायी बनाये वे सहसा मूर्त्ति-पूजा और अन्ध-विश्वासों को नहीं छोड़ सकते थे।

सम्मिश्रण की प्रवृत्ति

दोनों धर्मों के सम्पर्क का चौथा प्रभाव यह हुआ कि दोनों में सम्मिश्रण की प्रवृत्ति बढ़ी और ऐसे सम्प्रदायों और सुधारकों का जन्म हुआ जिनके अनुयायी हिन्दू और मुसलमान दोनों ही थे। हिन्दुओं ने उदारता-पूर्वक मुस्लिम देवी-देवताओं, पीरों और मजारों की पूजा शुरू की; और मुसलमान हिन्दू दर्शन की गम्भीरता से प्रभावित होकर उसकी ओर झुके। भारत की जन-गणना की रिपोर्टों में पीरों के पूजक हिन्दुओं का काफी उल्लेख है। इसी शती के शुरू में पंजाब में अब्दुल कादिर जिलानी के मुरीदों में रावलपिण्डी के ब्राह्मण थे, बहराइच में सैयद सालार मसूद के मजार के उपासक हिन्दू भी हैं। अजमेर में शेख मुईनुद्दीन चिश्ती के मजार की भी यही दशा है। बंगाल के देहाती मुसलमानों द्वारा हिन्दू देवताओं की पूजाओं के उदाहरण पहले दिये जा चुके हैं। मध्यकाल में अकबर और दारा शिकोह हिन्दू धर्म की ओर झुके थे। दारा शिकोह का तो यहां तक कहना था कि तौहीद (एकेश्वरवाद) का सर्वोत्तम रूप उपनिषदों में पाया जाता है। उसने पचास उपनिषदों का फारसी में अनुवाद करवाया तथा 'मजमूउल् बहरैन' नामक एक ग्रन्थ की रचना कराई। ग्रन्थ के नाम का अर्थ है—'दो सागरों का संगम।' इसमें फारसी पढ़ने वालों के लिए वेदान्त की परिभाषाओं का स्पष्टी-करण था, साथ ही उनके सूफी पर्याय भी दिये गए थे।

हिन्दू मुसलमानों के मेल और सामीप्य की लहरों का परिणाम यह हुआ कि सत्यपीर, सत्तनामी, नारायणी आदि ऐसे पन्थों का प्रादुर्भाव हुआ जिनके अनुयायी हिन्दू और मुसलमान दोनों ही थे और जो दोनों में कोई भेद-भाव नहीं मानते थे। बारहवीं शती में बङ्गाल में हिन्दुओं का मुसलमानों की दरगाहों पर मिठाई चढ़ाना, कुरान पढ़ना और मुस्लिम त्योहार मनाना प्रारम्भ

हो गया था। मुसलमान भी हिन्दुओं के धार्मिक रिवाजों के प्रति क्रियात्मक सम्मान प्रदर्शित करते थे। इसी मेल-जोल से बङ्गाल में एक नये देवता 'सत्यपीर' की पूजा शुरू हुई। कहा जाता है कि गौड़ का बादशाह हुसैनशाह (१४६३-१५१६ ई०) इस सम्प्रदाय का संस्थापक था। औरंगजेब के समय सतनामी और नारायणी सम्प्रदायों ने दोनों को मिलाने की कोशिश की। पिछले पन्थ में हिन्दू मुसलमान दोनों लिये जाते थे, ये पूर्व की ओर मुंह करके दिन में पांच बार प्रार्थना करते थे, ईश्वर के नामों में अल्लाह को भी मानते थे और मुर्दों को दफनाते थे। गुजरात के एक साधक प्राणनाथ ने ने जाति-भेद, मूर्त्तिपूजा और ब्राह्मणों के प्रभुत्व का खण्डन किया। उनसे हर नये दीक्षा लेने वाले को हिन्दू और मुसलमान दोनों के साथ बैठकर भोजन करना पड़ता था। प्राणनाथ का मन्तव्य था, सबका—चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान, एक ईमान होना चाहिए।

कला

सामीप्य तथा मेल-जोल की जो प्रवृत्ति धार्मिक विचारों में थी, वही विभिन्न कलाओं में दृष्टिगोचर होती है। वास्तु-कला इसका ठोस और ज्वलन्त उदाहरण है। मध्य-युग में कला के एक नवीन रूप का जन्म हुआ, जिसमें हिन्दू और मुस्लिम कला शैलियों का सुन्दर सामञ्जस्य पाया जाता है। इसे भारत मुस्लिम (इण्डो सार सेनिक) या पठान-कला कहा जाता है। दोनों कलाओं पर भौगोलिक परिस्थतियों का प्रभाव था। 'भारत उत्तुङ्ग पर्वतों विस्तृत मैदानों, दुर्भेद्य जंगलों, प्रचण्ड ऋतुओं और घनी वनस्पतियों का देश है; अतः भारतीय कला में विशालता, स्थूलता और विस्तार पर अधिक बल था। जिस तरह भारतीय जंगलों में असंख्य फूल-पत्तियों से सारी भूमि ढकी रहती है, उसी तरह भारतीय मन्दिरों में कोई चप्पा अलंकरण से खाली नहीं रहता। विस्तार, बाहुल्य और चित्र प्राचुर्य इसकी प्रधान विशेषताएं हैं। इसके विपरीत अरब एक विशाल रेगिस्तान है;

वास्तु कला (भवन-निर्माण)

जिसमें मीलों तक कोई वनस्पति नहीं दिखाई देती। अतः मुस्लिम कला की विशेषता बड़े-बड़े भवन, ऊंची मीनारें, साफ और सादी दीवारें थी।' भारत में मुसलमान गुम्बद, मीनार और डाट लाये और उन्होंने भारतीयों से तंग स्तम्भ-पंक्तियां, तथा भवन-कला के अन्य अलंकरण ग्रहण किये। मुसलमानों को मेहराब का ज्ञान था अतः उन्हें खम्भों की आवश्यकता नहीं थी। हिन्दुओं को डाट का ज्ञान न था अतः उनके लिए स्तम्भ अनिवार्य थे। सल्तनत युग तथा मुगल युग की वास्तु में इन दोनों का सम्मिश्रण हुआ। उस सम्मिश्रण में दो कारण सहायक सिद्ध हुए—मुस्लिम भवनों के शिल्पी हिन्दू थे, जो मुसलमान बादशाहों की देख-रेख में भवन निर्माण करते थे और नये मुस्लिम भवन पुराने हिन्दू मन्दिरों की विध्वस्त सामग्रियों से बने थे। अतः मुस्लिम वास्तु पर हिन्दू प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था।

हिन्दू प्रभाव की मात्रा विभिन्न कला-शैलियों में परिस्थितियों के अनुसार बदलती रहती थी। सल्तनत युग की दिल्ली-शैली में कुतुबमीनार और अलाई दरवाजे में मुस्लिम तत्त्वों की प्रधानता है, किन्तु जौनपुरी, बङ्गाली, गुजराती तथा बीजापुरी शैली में हिन्दू तत्त्वों की प्रधानता है। जौनपुर में शर्की सुलतानों के सब कारीगर हिन्दू थे। इनके बनवाये हुए भवनों की भीमकाय भित्तियां, वर्गाकार स्तम्भ और छोटी गैलरियां स्पष्ट रूप से हिन्दू प्रभाव की सूचक हैं; और जौनपुर की मस्जिदों में मुस्लिम कला की एक प्रधान विशेषता मीनार बिलकुल नहीं है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण १४०८ ई० में पूर्ण हुई जौनपुर की 'अतालादेवी की मस्जिद' है। बङ्गाल में हिन्दू प्रभाव प्रबल रहा और इसका सुन्दरतम उदाहरण पाण्डुआ में सिकन्दर द्वारा (१३६८ ई०) बनवाई हुई अदीना मस्जिद है। गुजरात, मालवा, काश्मीर और बीजापुर की मुस्लिम वास्तु भी हिन्दू प्रभाव से ओत-प्रोत है।

मुगल युगों की इमारतों में ईरानी और भारतीय दोनों शैलियों का सामञ्जस्य बड़े सुन्दर रूप में दृष्टिगोचर होता है। अकबर द्वारा बनवाये फतहपुर सीकरी के भवनों, आगरा के जहांगीरी महल, मुहम्मद गौस और

हुमायूं के मकबरों में यह प्रभाव सुस्पष्ट है। इसका चरम उत्कर्ष शाहजहाँ की इमारतों—आगरे के ताजमहल और मोती मस्जिद—में दिखाई देता है।

संगीत

इस्लाम के संसर्ग का भारतीय संगीत पर गहरा प्रभाव पड़ा और वह नये वाद्य यन्त्रों तथा नये रागों से समृद्ध हुआ। प्राचीन भारतीय तथा ईरानी संगीतों के सम्मिश्रण ने एक नई संगीत-शैली को जन्म दिया जो दोनों शैलियों से अधिक उत्कृष्ट और मनोहारिणी थी। अमीर खुसरो की असाधारण प्रतिभा से भारतीय-संगीत को एक अनुपम विशालता और एकता मिली। भारत में वह सितार का आरम्भ-कर्त्ता माना जाता है। इससे उसने भारत की उत्तरी और दक्षिणी संगीत-शैलियों में सामञ्जस्य स्थापित किया। कव्वाली भी उसी ने शुरू की, वह पद्धति अब तक लोकप्रिय है। जौनपुर के शर्की दरबार की सबसे बड़ी देन 'ख्याल' है। अकबर के दरबार में ईरानी, तूरानी, काश्मीर और हिन्दू स्त्री-पुरुष अनेक उत्कृष्ट गवैये थे; किन्तु उस युग का सबसे बड़ा रागी तानसेन था। अमीर खुसरो से मुहम्मदशाह रंगीले के समय तक औरंगजेब को एक-मात्र अपवाद छोड़कर मुस्लिम दरबारों में भारतीय संगीत को प्रोत्साहन मिला, इसमें तराना, ठुमरी, गजल, कव्वाली आदि का उसमें प्रवेश हुआ।

चित्र-कला

मुगल चित्र-कला का उद्भव तथा प्रेरणा का मूल स्रोत ईरान था; किन्तु वास्तु कला की भांति वह भी ईरानी और हिन्दू कलाओं का सुन्दर सम्मिश्रण था। अकबर के दरबार के चित्रकारों में बहुसंख्या हिन्दुओं की थी। १७ प्रधान चित्रकारों में १३ हिन्दू थे। जो छवि-चित्रण में अत्यन्त कुशल थे। इनमें बसावन, लाल और दसवन्त विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

उद्यान-निर्माण-कला

प्रसिद्ध कला-मर्मज्ञ हैवल ने उद्यानों की योजना और निर्माण को भारतीय कलाओं में मुगलों की सबसे बड़ी देन कहा है। भारत में मुगलों के आने से पहले भी बाग थे, किन्तु वे मुख्य रूप से फलों के लिए थे और प्रायः वन-जैसे होते थे। मुगलों के बगीचे ईरान और तुर्किस्तान में विकसित उद्यान-कला के

अनुरूप थे। इनकी विशेषताएं निम्न थीं—नहरों को ऊंचाई से लाकर उनसे सात-आठ प्रपात बनाये जाते थे, इनमें फव्वारे लगे होते थे, नहर की पटरियों के दोनों ओर फूलों की क्यारियां होती थीं। सबसे ऊंचे या निचले फव्वारे पर बारह दरी होती थी, जहाँ से सारे दृश्य का अवलोकन किया जाता था। काश्मीर के शालामार, निशात, अच्छावल, वैरीनाग और लाहौर के शालामार बगीचे मुगलों के बनवाये हुए हैं।

साहित्यिक उन्नति

अन्य प्रभाव

इस्लाम ने मध्ययुग में साहित्यिक तथा वैज्ञानिक उन्नति और राजनीतिक एकता के विकास में बड़ा भाग लिया। उसने जन-साधारण के जीवन, रहन-सहन, वेश-भूषा और खान-पान पर भी प्रभाव डाला। हिन्दी में विद्यापति, तुलसीदास और सूर की रचनाएं इस युग की हैं। बङ्गला भाषा को साहित्य के पद पर पहुंचाने में अनेक कारण थे। इनमें निस्सन्देह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हेतु मुसलमानों का बङ्गाल विजय करना था। यदि हिन्दू राजा स्वाधीन बने रहते तो बङ्गला भाषा को राजाओं के दरबारों तक पहुंचने का अवसर मुश्किल से ही मिल पाता। चौदहवीं सदी के शुरू में नसीरशाह ने महाभारत का संस्कृत से बङ्गला में अनुवाद कराया। रामायण के अनुवादक कृत्तिवास को मुस्लिम दरबार से पूरी सहायता मिलती थी। सम्राट् हुसैनशाह ने मलधर वसु से भागवत का बङ्गला में अनुवाद कराया। मुसलमानों के द्वारा संस्कृत ग्रन्थों बंगला अनुवादों के अत्यधिक उदाहरण हैं। बहमनी बादशाहों ने मराठी को पूरा प्रोत्साहन दिया। इसी काल में उर्दू का विकास हुआ। सोलहवीं सदी में उसका जन्म हुआ और अठारहवीं सदी में वह साहित्यिक भाषा बनी। फारसी तवारीखों से देश में इतिहास लिखने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिला।

वैज्ञानिक उन्नति

वैज्ञानिक उन्नति विशेष रूप से सामरिक कला में हुई। मुगलों ने यूरोपीय रण-कला तथा बारूद, बन्दूक और तोपों का प्रयोग तुर्कों और ईरानियों से सीखा तथा उसका भारत में प्रसार किया। युद्ध विद्या, सैनिक व्यवस्था और किलेबन्दी की इस समय विशेष उन्नति हुई। कागज बनाने की कला मुसलमान ही

भारत में लाये। इससे विद्या-प्रसार के कार्य में बड़ी सहायता मिली। मुगल शासन ने सारे देश में सुदृढ़ शासन द्वारा राजनीतिक एकता उत्पन्न की।

उत्तर भारत की भाषा, वेश-भूषा, रहन-सहन और खान-पान में मुस्लिम प्रभाव बहुत स्पष्ट है। हिन्दी, बङ्गला, मराठी में सैंकड़ों फारसी, अरबी, तुर्की शब्दों से वृद्धि हुई है। हिन्दुओं के विवाह-जैसे पवित्र संस्कार में सेहरा और जामा का प्रयोग होने लगा। हमारी अधिकांश मिठाइयां इसी काल की ईजाद हैं। बालूशाही, शकरपारा, कलाकन्द, गुलाब जामुन, बरफी, हलवा सब मुसलमानी नाम हैं। प्राचीन साहित्य में मोदक (लड्डू) और अश्प (मालपूवे) के अतिरिक्त बहुत कम मिठाइयों का वर्णन मिलता है।

इस्लाम के साथ हिन्दू धर्म के सम्पर्क ने भारत में जो प्रभाव पैदा किये वे अनुपम हैं। इसने एक नई समन्वयात्मक सभ्यता देने का प्रयत्न किया, जो न हिन्दू थी, और न ही मुसलमान। अपितु हिन्दू और मुसलमान दोनों संस्कृतियों के सुन्दर तत्त्वों को लिए थी। इसने वह विशाल मानव धर्म दिया जो जात-पांत और संकीर्णताओं से मुक्त, पुरोहितों के प्रभुत्व, कर्म-काण्ड के बाह्य आडम्बर और विभिन्न देवी-देवताओं की पूजा से रहित था, जो एकेश्वरवाद, विश्व-बन्धुत्व, प्रेम, संयम, सदाचार और आत्मशुद्धि पर बल दे रहा था। इसने हमें वास्तु के क्षेत्र में ताजमहल दिया, जिसके तुल्य भव्य भवन संसार में इने-गिने ही हैं। इसने हमें सूर, तुलसी, विद्यापति और कृत्तिवास दिये। इस्लाम और हिन्दू धर्म के राजनीतिक संघर्ष अतीत का विषय बन गए हैं; किन्तु उस समय का कलात्मक वास्तु-वैभव फतहपुर सीकरी और मोती मस्जिद-उस समय के सन्तों की वाणी हमें उस स्वर्णिम युग की याद दिलाती हैं, जब हिन्दू और मुसलमान एक हो सहिष्णुता, प्रेम और सहयोग से समस्त भारत में एक उच्चतर, पवित्रतर संस्कृति का निर्माण कर रहे थे।

ग्यारहवां अध्याय

शासन-प्रणाली

प्राचीन भारत में राजतन्त्र और प्रजातन्त्र दोनों प्रकार की शासन-प्रणालियां प्रचलित थीं; किन्तु प्रधानता राजतन्त्र की ही थी। गुप्त युग में ४०० ई० के बाद प्रजातंत्रों का अंत हो जाने से देश की एक-मात्र शासन-प्रणाली राजतंत्र ही रह गई। यहां दोनों का संक्षिप्त उल्लेख किया जायगा।

राजतंत्र

वैदिक युग

राजतंत्र की प्रणाली भारत में वैदिक युग से प्रचलित है। उस समय राजा की उत्पत्ति का कारण सम्भवतः सामरिक आवश्यकता था। युद्ध में सफल नेतृत्व करने वाले व्यक्ति स्वभावतः राजा का पद पा लेते थे और उनके पुत्रों के योग्य होने पर यह पद आनुवंशिक बन जाता था। वैदिक राज्य प्रायः जन राज्य होते थे, इनका आधार कुल या परिवार होता था। कई कुलों से 'विश' का निर्माण होता और कई विशों से जन की रचना होती। एक जन या कबीले के व्यक्ति अपना मूल पुरुष एक ही मानते थे, उनका मुखिया राजा होता था। वैदिक युग के प्रारम्भ में राजा का निर्वाचन होता था किन्तु संभवतः साधारण जनता इसमें भाग नहीं लेती थी। जनता के नेता-कुलपति और विशपति ही राजा का वरण करते थे। वरण का अर्थ राजा बनने की स्वीकृति देना था। वरण होने पर राज्याभिषेक होता था, और राजा प्रजा-पालन की 'प्रतिज्ञा' करता था। प्रतिज्ञा तोड़ने पर राजा निर्वासित और पद-च्युत किया जा सकता था।

समिति और सभा

वैदिक काल में राजा निरंकुश नहीं था, उसका नियंत्रण समिति द्वारा होता था। यह वर्त्तमान काल की केन्द्रीय लोक-सभा समझी जा सकती है। यह समूचे जन की संस्था थी। इसमें कौन-कौन जाते थे, यह कहना कठिन है। किंतु ग्रामणी, सूत, रथकार और कर्म्मार इसमें अवश्य सम्मिलित होते थे।

राज्य की असल बागडोर इसी के हाथ में थी। राजा की स्थिति इसी के समर्थन पर अवलम्बित थी। राजाओं की यही इच्छा रहती थी कि समिति सदा उनका साथ दे। इसके विरुद्ध होने पर वे घोर संकट में पड़ जाते थे। इसकी सद्भावना और सहयोग पाने के लिए राजा समिति की बैठकों में भाग लेता था।

सभा का अर्थ कुछ विद्वानों ने 'समान कांति (भा) वाले' व्यक्तियों का संगठन किया है। इनके अनुसार सभा एक प्रकार की वृद्ध परिषद् थी, इसमें पुरोहित, धनिक आदि उच्चवर्ग के व्यक्ति सम्मिलित होते थे और 'समिति' में साधारण व्यक्ति। सभा और समिति को प्रजापति की जुड़वां कन्याएं समझा जाता था। केन्द्रीय सभा के अतिरिक्त प्रत्येक गांव में भी सभा होती थी।

१००० ई० पू० से समितियां लुप्त होने लगीं। इसका प्रधान कारण यह था कि पुराने जन-राज्य विस्तीर्ण होकर प्रादेशिक राज्य बन रहे थे। पहले इनका विस्तार वर्त्तमान जिलों के बराबर था, साम्राज्य बनने पर ये कमिश्नरियों के बराबर हुए। इन विस्तृत राज्यों में समिति-जैसी केन्द्रीय लोक-सभा के सदस्यों का इकट्ठा होना तथा काम करना कठिन था। उस समय न तो यातायात के साधन इतने उन्नत थे और न प्रतिनिधि-व्यवस्था का आविष्कार हुआ था, अतः वैदिक युग के बाद समिति का अन्त हो गया।

वैदिक राजा रत्नियों की सहायता से शासन करता था। इनमें राजा के संबन्धी, मंत्री, विभागों के अध्यक्ष और दरबारी सम्मिलित होते थे। इस युग के प्रधान अधिकारी सेनापति, संग्रहीता (कोषाध्यक्ष) भागधुक् (कर-संग्राहक या अर्थमंत्री), ग्रामणी (गांवों का मुखिया) और सूत (रथ सेना का नायक) थे। सरकार का प्रधान कार्य आन्तरिक उपद्रवों और बाह्य आक्रमणों से राज्य की रक्षा था। कर पहले ऐच्छिक और बाद में आवश्यक हो गए। राजा का प्रधान कर्त्तव्य प्रजा की आध्यात्मिक और भौतिक उन्नति करना था। राज्यों का आकार छोटा होने से इस समय तक प्रान्तीय और स्थानीय शासन का विकास नहीं हुआ था।

मौर्यकालीन राजतंत्र वैदिक काल की अपेक्षा अधिक सुविकसित और उन्नत था। उस समय तक राजा के अधिकारों में बहुत वृद्धि हो गई, राज्यों के अधिक विस्तृत होने तथा यातायात की कठिनाई के कारण राजा पर अंकुश रखने वाली समिति का अंत हो गया। राजा सेना, शासन, न्याय आदि सब विभागों का अधीश्वर बना, उसे कानून बनाने का भी अधिकार मिला। इस काल में राजतंत्र की दो विशेषताएं उल्लेखनीय हैं—(१) शासन-तंत्र का विकास (२) राज्य के कार्य-क्षेत्र का विस्तार।

मौर्य युग

मौर्य साम्राज्य का शासन-प्रबन्ध बहुत ही व्यवस्थित था। केन्द्रीय तथा प्रान्तीय शासन का स्पष्ट भेद और पिछले का विकास सर्वप्रथम इसी युग में हुआ है। केन्द्र में राजा मंत्रि-परिषद् के साथ शासन करता था। मौर्य सम्राट् अपने को केवल 'राजा' कहते थे और अपने साम्राज्य को 'विजित'। वैदिक काल में रत्नियों या राजा के परामर्श-दाताओं ने अब मंत्रि-मण्डल का रूप धारण किया। वैधानिक दृष्टि से यद्यपि यह राजा के प्रति उत्तरदायी था; किंतु लोकमत का इस पर काफी प्रभाव था और राजा को कई बार बाधित होकर अनिच्छापूर्वक मंत्रियों की बात स्वीकार करनी पड़ती थी। उदाहरणार्थ चंद्रगुप्त मौर्य अपने मंत्री कौटिल्य की इच्छा के विरुद्ध नहीं जा सकते थे। सम्राट् अशोक बौद्ध संघ को अंधाधुन्ध दान दिये जा रहे थे, मंत्रियों ने इसका विरोध किया और अंत में एक बार अशोक को 'जम्बूद्वीपेश्वर' होकर भी संघ को आधा आंवला देकर ही संतोष करना पड़ा।

शासन-तंत्र

प्रांतीय शासन की विस्तृत व्यवस्था भी सर्वप्रथम इसी काल में हुई। मौर्यों का 'विजित' पांच प्रान्तों (मण्डलों) में बंटा था, इन्हें संभवतः चन्द्र कहते थे—(१) मध्य-देश-इसमें संयुक्त प्रान्त, बिहार, मध्य प्रान्त का हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्र सम्मिलित था। इसकी राजधानी पटना थी। (२) प्राची-कलिंग-बङ्गाल आदि पूरबी देश प्राची कहलाते थे। इनका शासन-केन्द्र तोसली (धौली जि० पुरी) थी (३) नर्मदा के दक्षिण का प्रदेश दक्षिणा-

पथ था। इसकी राजधानी सुवर्ण गिरी थी। (४) मारवाड़, सिन्ध, गुजरात, मालवा कोंकण के प्रदेश 'अपर जनपद' या पश्चिम देश में आते थे। इसका शासन-सूत्र उज्जयिनी से संचालित होता था। (५) उत्तरापथ—पंजाब, कश्मीर, काबुल आदि उत्तरापथ में गिने जाते थे। इसकी राजधानी तक्षशिला थी। इन पांचों प्रान्तों (चक्रों) में राजा की ओर से नियत 'कुमार' (राजकुमार) या महामात्य (सचिव) शासन का सम्पूर्ण निरीक्षण करते थे। अशोक युवराजावस्था में उज्जयिनी का शासक रहा था और उसने अपने पुत्र कुणाल को तक्षशिला का शासन-प्रबन्ध सौंपा था।

राज्य के कार्यक्षेत्र में भी इस युग में आश्चर्य जनक विस्तार हुआ। पहले उसका प्रधान उद्देश्य आन्तरिक उपद्रवों तथा बाह्य आक्रमणों से देश की रक्षा करना था, अब उसका आदर्श राज्य की सर्वाङ्गीण उन्नति समझा गया। आर्थिक उन्नति तथा भौतिक दृष्टि से देश को समृद्ध करने के लिए राज्य की ओर से उद्योग-धंधे चलवाने, नई बस्तियां बसाने, नई जमीन कृषि योग्य बनाने, बांध बनवाने, खानें खुदवाने, कारीगरों और शिल्पियों को संरक्षण देने की व्यवस्था शुरू हुई। सामान्य जनता तथा उपभोक्ताओं के हितों का ध्यान रखते हुए नाप तथा तौल का मान स्थिर करने, वस्तुओं का संचय और मुनाफाखोरी रोकने के लिए राज्य की ओर से अधिकारी नियत किये जाने लगे। राज्य वर्त्तमान काल में जिस आयोजित अर्थ-व्यवस्था को श्रेयस्कर समझ कर, उसे स्थापित करने का यत्न कर रहे हैं, जर्मन विद्वान् उसका जन्मदाता चन्द्रगुप्त के मंत्री चाणक्य को मानते हैं। दुनिया में श्रम-कानूनों का प्रतिपादन सबसे पहले उसी ने किया। कारीगर का हाथ या आंख बेकार कर देने वाले को प्राण-दण्ड मिलता था। भौतिक समृद्धि के साथ-साथ जनता की नैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक उन्नति की ओर भी पूरा ध्यान दिया गया। वेश्या-वृत्ति, घूस, मदिरा-पान आदि बुराइयों का राज्य की ओर से नियन्त्रण किया गया। धर्म और सदाचार के प्रोत्साहन के लिए 'धर्म महामात्य' आदि राज कर्मचारी नियत किये गए, विद्वानों, धर्म-प्रचारकों, कलाकारों को राज्य की ओर से प्रोत्साहन दिया गया। दीन-दुखियों के कष्ट-निवारण के लिए धर्म-

शाला में, आतुरालय (हस्पताल) तथा अन्न-क्षेत्र खोले गए।

इन सब कार्यों के लिए केन्द्र, प्रान्त तथा नगरों में जटिल शासन-चक्र का विकास हुआ। पाटलिपुत्र नगर का प्रबन्ध ३० आदमियों की एक सभा करती थी। इसके पांच-पांच आदमी छः छोटे वर्गों में विभक्त होकर शिल्प, वैदेशिकों, की देख-भाल जन-गणना, वाणिज्य-व्यवसाय, वस्तु-निर्माण और कर-वसूली के कार्य करते थे। केन्द्र में मौर्यों का सेना और गुप्तचर विभाग बहुत मजबूत और व्यवस्थित था। सेना के छः विभाग—पैदल, सवार, हाथी, रथ-जलसेना और रसद के थे। न्याय प्रबन्ध के लिए कंटक शोधन या फौजी और धर्मस्थ दीवानी न्यायालय थे। केन्द्र में राज्य के आय-व्यय हिसाब आदि रखने, उद्योगों की उन्नति के लिए अनेक अफसर थे। इनसे उस समय केन्द्रीय शासन तथा मन्त्रिवालय का पर्याप्त विकास सूचित होता है। परवर्ती युगों का राजतन्त्र लगभग आर्य आदर्श पर ही बना रहा।

सातवाहन युग

इस युग में भारत पर यूनानी, शकों और कुशाणों के आक्रमण हुए—इनसे शासन-पद्धति तथा राजतन्त्र में कोई बड़े परिवर्त्तन नहीं हुए। काल की दो विशेषताएं हैं। राजाओं के देवत्व का विचार बढा और उन्होंने लम्बी-लम्बी उपाधियां धारण करनी शुरू कीं। कनिष्क की देवपुत्र की उपाधि से सूचित होता है कि राजा की दिव्यता की भावना पहली श० ई० तक काफी प्रबल हो चुकी थी। कुषाण राजा देवकुलों या मन्दिरों में अपने देश के मृत राजाओं की मूर्त्तियां स्थापित करते थे। राजाओं में उपाधियों का व्यसन बढ़ रहा था। मौर्य युग में चन्द्रगुप्त और अशोक-जैसे शक्तिशाली नरेश केवल 'राजा' कहलाने से सन्तुष्ट थे; किन्तु कनिष्क ने 'महाराजा' 'राजाधिराज' की गौरवपूर्ण पदवियां धारण कीं। इनका अनुकरण करतेहुए परवर्त्ती हिन्दू राजाओं ने भी 'महाराजाधिराज' की शानदार उपाधियां अपने नामों के साथ जोड़ना शुरू किया। शक कुशाण राजाओं की दूसरी विशेषता राजा और युवराज, पिता तथा पुत्र का संयुक्त शासन या 'द्वैराज्य' पद्धति थी। इस प्रकार के उदाहरण गोंडोफर और गड, कनिष्क द्वितीय तथा हुविष्क के शासन है। शकों में पिता महाक्षत्रप और पुत्र क्षत्रप की

पदवी धारण करता था और दोनों अपने नाम से सिक्के चलाते थे। यह प्रणाली अधिक लोकप्रिय नहीं हुई। एक म्यान में दो तलवारों तथा एक जंगल में दो शेरों का रहना असम्भव है। इसी तरह राम राज्य में दो राजा नहीं रह सकते।

इस काल में केन्द्र, प्रान्त, जिले और नगर का शासन यथापूर्व चलता रहा। केन्द्रीय सचिवालय सरकार के विभिन्न प्रदेशों में भेजने का कार्य करता रहा।

गुप्त युग

गुप्त युग में भारतीय राजतन्त्र और शासन-पद्धति लगभग अपरिवर्तित ही रही। शासन की बागडोर आनुवंशिक राजा के हाथ में थी, सारी प्रभुता और शक्ति का स्रोत वही था, शासन, न्याय-सेना के सर्वोच्च अधिकार उसी को प्राप्त थे। मन्त्रि-परिषद् मौर्य युग की तरह प्रधान रूप से उसे परामर्श देने वाली थी, किन्तु इसमें राजा को प्रभावित करने की पर्याप्त शक्ति थी। युआन च्वांग के कथनानुसार राजा विक्रमादित्य प्रतिदिन पांच लाख मुद्राएं दान देना चाहते थे पर मन्त्रियों ने इस आधार पर दान का विरोध किया कि इससे राज-कोष शीघ्र ही समाप्त हो जायगा और नये कर लगाने पड़ेंगे। राजा के दान की सर्वत्र स्तुति होगी किन्तु मंत्रियों को प्रजा की गालियां सुननी पड़ेंगी। केन्द्रीय सचिवालय पिछले युगों की भांति काम करते रहे। राज्य द्वारा देश की भांति आर्थिक, नैतिक और मानसिक उन्नति की ओर पूरा ध्यान दिया गया। नैतिक उन्नति के लिए एक विशेष मंत्री होता था, इसका प्रधान कार्य लोगों के आचार की देख-भाल, धार्मिक संस्थाओं और मन्दिरों को दान देना, सामाजिक सुधार के सम्बन्ध में राजा को परामर्श देना था। राज्य की ओर से शिक्षा-प्रसार एवं ज्ञान-वृद्धि के लिए सहायता की जाती थी। नालन्दा-विश्वविद्यालय का विकास गुप्त सम्राटों के उदार दान से हुआ; किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि उस समय राज्य शिक्षा-संस्थाओं के आन्तरिक प्रबन्ध और पाठ्यक्रम आदि में कोई हस्तक्षेप नहीं करता था। राज्य द्वारा मन्दिर बनवाने की प्रवृत्ति से स्थापत्य, मूर्ति, चित्र आदि ललित

कलाओं को बहुत प्रोत्साहन मिला। राजाओं द्वारा विद्वानों का संरक्षण ज्ञान-विज्ञान की उन्नति में बहुत सहायक सिद्ध हुआ। समूचे मध्यकाल में राज्य की ये प्रवृत्तियां जारी रहीं।

गुप्त युग के राजतन्त्र संबन्धी दो परिवर्त्तन स्मरणीय हैं। पहला तो यह कि ४०० ई०से भारत में गणतन्त्रों का अन्त होगया। आगे इनके विलुप्त होने के कारणों पर विशेष प्रकाश डाला जायगा। दूसरा परिवर्त्तन स्थानीय स्वशासन-

ग्राम पंचायत

संस्थाओं—ग्राम-पंचायतों और नगर-सभाओं के कार्यों और अधिकारों में आश्चर्यजनक वृद्धि है। ये संस्थाएं मौर्यकाल और उससे भी पहले से चली आ रही थीं किन्तु ज्यों-ज्यों राज्य के विस्तार और केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति बढ़ती गई, त्यों-त्यों इनका अधिक विकास हुआ। सन्धि-विग्रह को छोड़कर इन्हें सब अधिकार प्राप्त थे। ये ग्राम की रक्षा की व्यवस्था, तथा राजकीय करों का संग्रह करतीं, नये कर लगातीं, गांव के झगड़ों का फैसला करतीं, लोक-हित की योजनाएं अपने हाथ में लेतीं, सार्वजनिक ऋण आदि लेकर अकाल और अन्य संकटों के प्रतिकार का उपाय करतीं, पाठशालाएं, अनाथालय, विद्यालय चलातीं, मन्दिरों द्वारा विविध सांस्कृतिक और धार्मिक कार्य करतीं। इन सभाओं पर यद्यपि केन्द्रीय सरकार का निरीक्षण और नियन्त्रण होता था किन्तु प्रधान रूप से ये ग्राम की साधारण जनता द्वारा चुनी जाती थीं। दक्षिणी भारत के लेखों से इनकी निर्वाचन-पद्धति तथा कार्य-प्रणाली पर अधिक प्रकाश पड़ा है। उदाहरणार्थ चिंगलपट ज़िले के उत्तर मेरूर गांव की कार्यकारिणी के सदस्य चिट्ठी डालकर चुने जाते थे। ग्राम के तीसों वार्डों (विभागों) में प्रत्येक द्वारा कई व्यक्तियों के नाम प्रस्तावित किये जाते थे। प्रत्येक उम्मीदवार का नाम कागज के पृथक् पुरजे पर लिख लिया जाता था। हर एक वार्ड के पुर्जे या पर्चियां एक बर्त्तन में रख दी जाती थीं और किसी अबोध शिशु से एक पर्ची उठाने को कहा जाता था। जिसके नाम की पर्ची आती वह उस वार्ड का प्रतिनिधि घोषित होता था। इस चुनाव में किसी प्रकार के प्रचार, पैरवी या पार्टीबाजी की जरूरत

ही न होती थी। इस प्रकार साधारण जनता द्वारा निर्वाचित ग्राम-पंचायतें उन दिनों प्रजातन्त्र का सुदृढ़ दुर्ग थीं। वैदिक काल की समिति का कार्य ये सारे मध्ययुग में करती रहीं। राजा प्रायः ग्राम-पंचायत के क्षेत्र में कोई हस्तक्षेप नहीं करता था। यदि करता था तो पंचायतें अपनी जागरूकता से उसकी रोक-थाम करती थीं। पंचायतों के हाथ में राजा को नियन्त्रित करने का एक ब्रह्मास्त्र था। ये जनता से कर वसूल कर, उसे राजा तक पहुं-चाना इन्हीं का कार्य था। यदि राजा अनुचित, नये और अन्याय्य कर लगाये तो ये उनको वसूल करने से ठीक वैसे ही इन्कार कर सकतीं थीं जैसे फ्रेंच राज्य-क्रान्ति से पहले राजा के अनुचित करों को फ्रेंच पार्लमेंट (न्यायालय वैध मानना अंगीकार नहीं करते थे। इस प्रकार प्राचीन काल में ग्राम-पंचायतें प्रजातन्त्र के इस मौलिक सिद्धान्त को क्रियात्मक रूप प्रदान कर रही थीं कि कि कोई कर प्रजा के प्रतिनिधियों की सहमति के बिना नहीं लगाया जा सकता इन ग्राम-पंचायतों के कारण उस समय राजतन्त्र होते हुए भी साधारण जनता प्रजातन्त्र के सभी लाभ उठा रही थी क्योंकि स्थानीय स्वशासन में उसे पूरी स्वतन्त्रता प्राप्त थी। बृटिश युग की अदालतों ने पंचायतों और ग्राम-सभाओं का अन्त कर दिया। यह प्रसन्नता की बात है कि स्वतन्त्र भारत में इनका पुनरुद्धार हो रहा है। इन्हें न केवल न्याय किन्तु सार्वजनिक स्वास्थ्य, निर्माण, विकास-योजनाओं, शिक्षा, कर-संग्रह आदि के कार्य सौंपे जा रहे हैं।

प्राचीन राजतन्त्र की समीक्षा

आजकल लोकतन्त्र का युग है, राजतन्त्र को प्रजातन्त्र की भांति जनता के लिए उतना कल्याण-कारक नहीं समझा जाता था। इस अवस्था में यह देखना आवश्यक प्रतीत होता है कि प्राचीन भारतीय राजतन्त्र प्रजा के लिए कितना उपयोगी और हितकर सिद्ध हुआ। राजतन्त्र का सबसे बड़ा दोष यह है कि उसमें सारी शक्ति एक व्यक्ति के हाथ में केन्द्रित हो जाती है, यदि उस पर कुछ प्रतिबन्ध न हों तो वह उसका मनमाना दुरुपयोग करने लगता है और प्रजा कष्ट पाती है। योरोप में मध्यकाल में जब राजाओं ने अपने

असीम अधिकारों का दुरुपयोग कर प्रजा के गाढ़े पसीने से कमाये धन को भोग-विलास में अन्धाधुन्ध फूंकना शुरु किया; निरपराध व्यक्तियों को जेल में डालना तथा प्रजा पर अनुचित कर लगाना शुरु किया तो जनता ने राजाओं के विरुद्ध विद्रोह किया और वहां राजतन्त्र था अन्त होगया। भारत में राजा अपने अधिकारों का दुरुपयोग न करते हों, सो बात नहीं; किन्तु उनकी शक्ति पर कई प्रकार के प्रतिबन्ध थे। इनके कारण प्रजा प्रायः निरंकुश राजतन्त्र की बुराइयों से बची रहती थी।

पहला प्रतिबन्ध राज्य सम्बन्धी अनेक उदात्त आदर्श और उच्च धारणाएं थीं। ये राजा को निरंकुश या स्वेच्छाचारी होने से रोकती थीं। पहली धारणा यह थी कि राजा प्रजा का सेवक है, उसका प्रधान कार्य जनता को प्रसन्न रखना है। राजा कहते ही उसे हैं जो प्रकृति का अनुरंजन करे। कौटिल्य के मतानुसार प्रजा के हित में राजा का हित है और प्रजा के सुख में राजा का सुख है। दूसरी धारणा यह थी कि धर्म का पालन राजा का आवश्यक कर्त्तव्य है संसार के सबसे पहले राजा वेन को यह प्रतिज्ञा करनी पड़ी थी कि मैं श्रुति-स्मृतियों में बताये धर्म का पूरा पालन करूंगा और कभी मनमानी न करूंगा। प्राचीन काल में प्रजा में रोग, शोक और कष्ट का कारण राजा का कर्त्तव्य-च्युत होना समझा जाता था। अतः राजा से धर्म-पालन की पूरी आशा रखी जाती थी। तीसरा विचार यह था कि राज्य राजा की वैयक्तिक सम्पत्ति नहीं किन्तु पवित्र धरोहर है। यदि राजा सार्वजनिक द्रव्य का दुरुपयोग करता है तो वह नरकगामी होता है। केवल इतना ही नहीं कि उसे राज्य से स्वार्थ-सिद्धि नहीं करनी चाहिए। किन्तु उसके लिए स्वार्थ-त्याग भी करना चाहिए। अग्नि पुराण के शब्दों में जिस प्रकार गर्भवती स्त्री अपने उदरस्थ शिशु को हानि पहुंचाने की आशंका से अपनी इच्छाओं का नियन्त्रण और सुखों का त्याग करती है, वैसे ही राजा को भी प्रजा के हित के लिए अपने सुखों की परवाह नहीं करनी चाहिए। इसमें कोई संदेह नहीं कि श्रीराम और अशोक-जैसे राजाओं ने इस उदात्त आदर्श का पालन किया। प्राचीन काल में नरक के भय से अधिक भीषण कल्पना

बड़ी कठिन थी। अतः यह आशा रखी जा सकती है कि अधिकांश राजाओं ने अपनी सत्ता का दुरुपयोग नहीं किया होगा।

दूसरा प्रतिबन्ध मन्त्रि-मण्डल का था। पहले अशोक और विक्रमादित्य के अन्धाधुन्ध दान के विरुद्ध मन्त्रियों के सफल विरोध का उल्लेख किया जा चुका है। राजतरंगिणी में उनके प्रभाव के अनेक उदाहरण हैं। राजा अजय-पीड़ मन्त्रियों के निर्णय से पद-च्युत किया गया। मृत्यु-शय्या पर पड़ा हुआ कलश अपने पुत्र हर्ष को युवराज बनाना चाहता था, पर मन्त्रियों के विरोध के कारण सफल न हो सका। वैधानिक तौर से जनता के प्रति उत्तर-दायी न होने पर भी मन्त्रि-मण्डल राजा की स्वेच्छाचारिता पर काफ़ी अंकुश रखता था।

तीसरा प्रतिबन्ध प्रजा को विद्रोह का अधिकार था। प्राचीन शास्त्रकार यह कल्पना नहीं करते थे कि प्रजा राजा के अत्याचार को चुपचाप सहन कर लेगी। उन्होंने उसे राजा को चेतावनी देने तथा उसे पद-च्युत करने का अधिकार दिया है। पहले तो प्रजा यह धमकी देती थी कि यदि तुम अपना रवैया नहीं बदलते तो हम तुम्हारा राज्य छोड़कर चले जायंगे और यदि इसका राजा पर कोई असर न पड़े तो वह अयोग्य राजा को गद्दी से उतार कर अन्य गुणवान् व्यक्ति को उस पद पर अधिष्ठित कर सकती थी। महाभारत में अत्याचारी राजा के बध की आज्ञा दी गई है। वेन इस प्रकार के अभागे राजाओं में से था। नहुष, सुदास, सुमुख, निमि प्रजा की प्रकोपाग्नि का शिकार हुए थे। कौटिल्य ने राजा को प्रजा के रोष से सदैव सावधान रहने का आदेश दिया था। प्राचीन काल में राजा के विरुद्ध विद्रोह करना और उसमें सफलता पाना बहुत कठिन न था। मौर्य और शुंग वंश के अन्तिम शासकों तथा राष्ट्रकूट राजा गोविन्द चतुर्थ का अन्त जनता, सामन्तों और सेनापतियों के विद्रोह द्वारा ही हुआ।

चौथा प्रतिबन्ध ग्राम-पंचायतों का था। इनमें जनता का पूरा शासन था और ये राजा के स्वेच्छाचार पर पर्याप्त नियन्त्रण रखते थे। राजा चाहे कितने ही मनमाने कर क्यों न लगा दे, उसे वही कर मिल सकते थे जिन्हें

ग्राम-सभा वसूल करके देने को तय्यार हो। इन्हें न्याय के भी पर्याप्त अधिकार थे। अतः राजा इस क्षेत्र में भी मनमानी नहीं कर सकता था। 'ग्राम और नगर संस्थाएं बहुत अंशों में छोटे-छोटे प्रजातन्त्र ही थे, जिनमें जनता की इच्छा के अनुसार शासन होता था।' अतः राजा यदि अत्याचारी भी होता तो उसका प्रभाव राजधानी तक ही सीमित रहता था।

इन प्रतिबन्धों से प्राचीन भारत को राजतन्त्र के दुष्परिणाम बहुत कम भोगने पड़े। मध्य युग में जनता जब अपने राजनैतिक अधिकारों के लिए जागरूक नहीं रही, तभी राजाओं को मनमानी करने का मौका मिला। सामान्यतः प्राचीन राजतन्त्र लोकहित का उच्च आदर्श अपनाने के कारण जनता के लिए हितकर ही सिद्ध हुए।

प्रजातंत्र

प्राचीनकाल में राजतन्त्र के साथ-साथ वैदिक युग से गुप्त युग तक भारत में प्रजातन्त्रों या गणतन्त्रों का अस्तित्व बना रहा। उत्तर वैदिक युग में उत्तरकुरु तथा उत्तरमद्र देशों की शासन-प्रणाली वैराज्य अर्थात् राजाहीन कहलाती थी क्योंकि वहां राजा शासन नहीं करते थे। बौद्ध ग्रन्थों से यह ज्ञात होता है कि संयुक्त प्रान्त के गोरखपुर जिले और उत्तरी बिहार के प्रदेशों में छठी श० ई० पू० में १० गणराज्य थे। ५०० ई० पू० से ४०० ई० तक पंजाब और सिन्ध में गणतन्त्रों का ही बोल-बाला था। इन्होंने ४० वीं श० ई० पू० में सिकन्दर का डटकर मुकाबला किया, बाद में, शकों और कुशाणों का प्रतिरोध करते रहे। भारत में विदेशियों के शासन का अन्त करने का बहुत बड़ा श्रेय इन्हीं को है। यहां प्रधान गणतन्त्रों का संक्षिप्त परिचय दिया जायगा।

बौद्ध साहित्य के गणतन्त्र

बौद्ध साहित्य में दस गणतन्त्रों का उल्लेख है कपिलवस्तु के शाक्य, अल्लकप्प के बुली, केसपुत्र के कालाम, संसुमार के भग्ग, रामगाम के कोलिय, पावा तथा कुशीनारा के मल्ल, पिप्पली वन के मोरिय, मिथिला के विदेह और वैशाली के लिच्छवि। इनमें भग्ग, बुली, कोलिय और मोरिय गणतन्त्र

आधुनिक तहसीलों से अधिक बड़े थे। इनमें अधिक प्रसिद्ध शाक्य, मल्ल, लिच्छवि और विदेह थे। इन सबमें शाक्य राज्य सबसे छोटा और गोरखपुर जिले में अवस्थित था। इसी में भगवान् बुद्ध हुए थे। इसके पूर्व में पटना तक मल्लों का राज्य काफी विस्तीर्ण था, इनके प्रसिद्ध केन्द्र कुशीनगर (गोरखपुर में कुशीनारा) और पावा (जि० पटना) थे। कुशीनगर भगवान् बुद्ध की तथा पावा वर्धमान महावीर की निर्वाण-भूमि थी। इनसे पूर्व में लिच्छवि और विदेह गणतन्त्र थे। लिच्छवियों की राजधानी वैशाली (बसाढ़ जि० मुजफ्फर पुर) थी और विदेह की मिथिला। इनमें से अधिकांश गणतन्त्र बुद्ध के जीवन-काल में बने रहे किन्तु शनैः-शनैः शक्तिशाली पड़ोसी राज्यों द्वारा इनका अस्तित्व मिटने लगा। मगध का साम्राज्य इनके लिए सबसे बड़ा खतरा था। आत्म-रक्षा के लिए गणतन्त्र संयुक्त संघ बनाने लगे। लिच्छवि कभी मल्लों से मिलते थे और कभी विदेहों से। बुद्ध के समय लिच्छवि और विदेहों के संघ में आठ गणतन्त्र सम्मिलित थे। यह संघ उस समय वज्जि नाम से प्रसिद्ध था। मगध का राजा अजात शत्रु इसे जीतना चाहता था। उसने इनके जीतने का उपाय पूछने के लिए अपना मन्त्री वर्षकार भगवान् बुद्ध की सेवा में भेजा। बुद्ध का कहना था कि जब तक वज्जी मिलकर अपनी सभाएं करते रहेंगे, संगठित होकर राज-कार्य करेंगे, प्राचीन रीति रिवाजों का पालन करेंगे, वृद्ध पुरुषों की सम्मति का आदर करते रहेंगे, तब तक वज्जी लोगों के पतन की आशंका नहीं करनी चाहिए। अजातशत्रु ने अपने कूटनीति-कुशल मन्त्री से वज्जियों में फूट डलवा दी और बिहार के सबसे शक्तिशाली गणतन्त्र को अपने आधीन कर लिया। ५०० ई० पू० तक बाकी सब गणतन्त्र भी मगध साम्राज्य का अंग बन गए। लिच्छवियों को यद्यपि इस समय मगध के आगे नतमस्तक होना पड़ा। किन्तु २०० ई० पू० तक वे फिर स्वतन्त्र हो गए। चौथी श० ई० में यह राज्य अत्यन्त शक्तिशाली था और गुप्त साम्राज्य की स्थापना करने वाले चन्द्रगुप्त ने इसकी कुमारदेवी से परिणय कर अपने वंश का उत्कर्ष किया। वैवाहिक संबन्ध यह राज्य गुप्त साम्राज्य का अंग गया।

पंजाब के गणराज्य

५०० ई०पू०से ४००ई० तक पंजाब और सिन्ध में गणतन्त्रों की प्रधानता थी। यहां केवल प्रधान गणतन्त्रों का ही संक्षिप्त परिचय दिया जायगा।

यौधेय यह तीन गणतन्त्रों का शक्तिशाली संघ था। इसकी मुद्राओं से यह ज्ञात होता है कि इसका विस्तार पूर्व में सहारनपुर से पश्चिम में बहावलपुर तक, उत्तर पश्चिम में लुधियाना से दक्षिण में दिल्ली तक रहा होगा। इस प्रकार इसमें वर्त-मान पूर्वी पंजाब का काफी बड़ा हिस्सा आता था। यौधेय उस समय के उत्कृष्ट योद्धा थे और अपनी वीरता के लिए विख्यात थे। देवताओं के सेना-पति कार्त्तिकेय को वे अपना कुलदेवता मानते थे। इन पंजाबी वीरों के पराक्रम की कथा जब सिकन्दर के सैनिकों ने सुनी तो उनके दिल दहल गए, उन्होंने आगे बढ़ने से इन्कार किया। सिकन्दर को विवश होकर लौटना पड़ा। पहली श० ई० में इसे गण के कुशाणों ने जीता, किन्तु स्वतन्त्रता-प्रेमी यौधेयों को वे देर तक अपने आधीन नहीं रख सके। "दूसरी श० ई० के उत्तरार्ध में 'अपने पराक्रम के लिए समस्त क्षत्रियों में अग्रगण्य' इन वीरों ने फिर सिर उठाया और २२५ ई० तक इन्होंने न केवल अपनी खोई स्वतन्त्रता पुनः प्राप्त की, किन्तु कुशाण साम्राज्य को ऐसा धक्का दिया, जिससे वह फिर न संभल सका।" ३५० ई० तक यह गणतन्त्र बना रहा। बहावलपुर के जोहिये इन्हीं यौधेयों के वंशज माने जाते हैं।

कुणिन्द यह संभवतः जालन्धर द्वाबे में था। इसका पुराना नाम त्रिगर्त्त जनपद था, बाद में इसे 'कुणिन्द' कहा जाने लगा। यह राज्य दूसरी श० ई० तक वर्त्तमान था, कुशाणों को भारत से खदेड़ने में इसने यौधेयों को बड़ी सहायता दी थी।

मद्र रावी, चनाब, द्वाबे के उपरले हिस्से में मद्रों का शक्तिशाली राज्य था। ये संभवतः कठों से भिन्न न थे। इन्होंने सिकन्दर के सम्मुख नतमस्तक हो प्राण-रक्षा को अपमान-जनक समझ, युद्ध में लड़कर मर जाना ही श्रेयस्कर समझा। इनकी राजधानी स्यालकोट थी।

मालव और क्षुद्रक

जेहलम और रावी के संगम के नीचे रावी के दोनों तटों पर मालव संघ का राज्य था और उसके पूर्व में इनके साथ मिला हुआ क्षुद्रकों का संघराष्ट्र था। ये दोनों अत्यन्त स्वतन्त्रता-प्रेमी और लड़ाकू जातियां थीं। सिकन्दर का सामना करने के लिये इन्होंने संयुक्त योजना बनाई थी किन्तु दोनों की सेनाएं मिलने से पहले सिकन्दर मालवों पर टूट पड़ा। मालवों के एक लाख लड़ाकू वीरों ने यूनानियों से जमकर लोहा लिया, सिकन्दर एक बर्छे के घाव से मरते-मरते बचा। सिकन्दर के संकट से उन्होंने एकता का पाठ पढ़ा और मालव और क्षुद्रक संघ की एकता कई शताब्दियों तक बनी रही। १०० ई० पू० के लगभग मालव पंजाब से निकलकर अजमेर-चित्तौड़ टोंक के प्रदेश में बसे और फिर वहां से आगे बढ़ते हुए मध्य भारत के उस प्रदेश में आये, जिसे आज भी उनके नाम से मालवा कहा जाता है। १५० ई० में लगभग शकों ने उन्हें परास्त किया किन्तु २२५ ई० तक वे पुनः स्वतन्त्र हो गए। इनके सिक्कों पर किसी राजा का नाम न होकर 'मालवों की जय' का लेख उत्कीर्ण मिलता है।

शिवि और अम्बष्ठ

मालवों के पड़ोस में वर्तमान शोरकोट (पश्चिमी पंजाब) के पास शिवि गणतन्त्र था और क्षुद्रकों के पड़ोस में अम्बष्ठ। इन दोनों ने बिना लड़े सिकन्दर की आधीनता मान ली थी। शिवि १०० ई० पू० तक राजपूताने में चित्तौड़ के पास माध्यमिका नगरी में जा बसे थे।

आर्जुनायन

आधुनिक आगरा-जयपुर प्रदेश में २०० ई० पू० से ४०० ई० तक यह गणतन्त्र विद्यमान था। इनकी मुद्राओं पर 'आर्जुनायनों की जय' का लेख मिलता है। ये अपना उद्भव संभवतः, महाभारत के प्रसिद्ध पाण्डव अर्जुन से मानते थे।

इन के अतिरिक्त द्वारिका में अन्धक वृष्णियों का भी एक गणतन्त्र था। श्री कृष्ण इसके प्रधान नेता थे।

गणतंत्रों की कार्य-प्रणाली

गणतन्त्रों का सारा राज्य-कार्य उनके सभा-गृहों या सन्थागारों में होता

था। शासन का सर्वोच्च अधिकार केन्द्रीय समिति के हाथ में था। यौधेयों की समिति में पांच हजार तथा लिच्छवियोंकी समिति में ७७०७ सदस्य थे। रोम की आरम्भिक सीनेटकी भांति ये सदस्य कुलीन वर्ग के होते थे, वंश-परम्परा से समिति में बैठने के अधिकारी थे। सरकार पर केन्द्रीय समिति का पूरा नियन्त्रण था। समिति के सदस्य राज्य की खरी-खोटी आलोचना खूब करते थे। अन्धक वृष्णि संघ के नेता श्री कृष्ण ने नारद से शिकायत की थी कि मुझे आलोचकों के कटु वचन सुनने और सहने पड़ते हैं। वर्तमान युग की भांति इनमें पार्टीबाजी और दलबन्दियां काफी होती थीं। बौद्ध ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि समिति में प्रस्ताव आजकल की तरह तीन बार पेश होने के बाद पास होता था. मतगणना का कार्य शलय का ग्राहक नामक अधिकारी करता था। विवादास्पद प्रश्नों के लिए उद्बाहिका या निर्वाचित समिति बनाई जाती थी। प्रायः सभी निर्णय बहुमत से किये जाते थे।

प्राचीन गणतन्त्रों ने भारत के सांस्कृतिक विकास में बड़ा महत्त्वपूर्ण भाग लिया। इनके स्वतन्त्र वातावरण में स्वाधीन तत्त्वचिन्ता ने बड़ी उन्नति की। श्रीकृष्ण, बुद्ध और महावीर को गणतन्त्रों ने जन्म दिया। उपनिषदों बौद्ध तथा जैन दर्शनों के विकास में इन्होंने बड़ा भाग लिया। इन राज्यों की उत्कट देश-भक्ति प्राचीन राजतन्त्रों में कहीं नहीं दिखाई देती, इन्होंने राजाओं की अपेक्षा सिकन्दर का अधिक सफलता पूर्वक सामना किया। गणतन्त्रों में कृषि, व्यापार और वाणिज्य की भी बड़ी उन्नति हुई। इसमें कोई संदेह नहीं कि वैयक्तिक राष्ट्रीय विकास की दृष्टि से ये प्रजातन्त्रों के समान महत्त्वपूर्ण थे। इन्होंने विदेशी आक्रान्ताओं को देश से भगाया, जब तक ये बने रहे,भारत उन्नति करता रहा।

इनके अन्त का कारण श्री जायसवाल के मत में गुप्तों की साम्राज्यवादी नीति थी किन्तु जिन गणतन्त्रों ने सिकन्दर का तथा मौर्य और कुषाण साम्राज्यों का सफलता पूर्वक प्रतिरोध किया वे गुप्तों द्वारा कैसे पराभूत हुए ? गुप्तों ने उनकी आन्तरिक स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप नहीं किया, अतः उनका साम्राज्यवाद उनके लिए घातक नहीं हो सकता। वास्तविक कारण गणतन्त्रों की जनता का स्वतन्त्रता के लिए जागरूक न रहना अपने नेताओं को राज-

कीय उपाधियां, राजसी ठाट-बाट और आनुवंशिक पद धारण करने से न रोकना था। गणतन्त्रों की एक बड़ी कमजोरी पारस्परिक दलबन्दी और फूट थी। इनमें संगठन और एकता का अभाव था। उनका जातीय अभिमान इस में जबर्दस्त बाधक था। उनकी दृष्टि संकुचित थी। अपनी स्वतन्त्रता पर संकट आने पर वे प्राणों की आहुति देने को तैयार रहते थे किन्तु सिकन्दर, शकों या कुशाणों का सामना करने के लिए पंजाब, सिन्ध और राजपूताने के गणतन्त्रों में एक होकर विशाल उत्तर-पश्चिम राज्य-संघ बनाने की कल्पना उनके मन में न आ सकी। विदेशी आक्रमणों का सफल प्रतिरोध मौर्य और गुप्त सम्राटों द्वारा ही हो सका। अतः गणतन्त्र लोकप्रिय न रहे, इन उपर्युक्त कारणों से ये समाप्त हो गए। आज प्राचीन गणतन्त्र नवीन भारतीय प्रजातन्त्र के पथ-प्रदर्शन के लिए महत्त्वपूर्ण शिक्षाएं दे रहे हैं और इनको भली-भांति हृदयंगम करने में ही हमारा कल्याण है। *

*इस अध्याय के लिखने में लेखक को श्री अनन्त सदाशिव अल्तेकर की पुस्तक 'प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति' से बड़ी सहायता मिली है।

बारहवां अध्याय

भारतीय कला

भारतीय कला की विशेषताएं

(१) भाव-व्यंजना की प्रधानता

भारतीय कला अपनी कतिपय विशेषताओं के कारण अन्य देशों की कलाओं से मौलिक रूप से भिन्न है। उसका मर्म जानने के लिए इनका परिज्ञान आवश्यक है। उसकी पहली विशेषता भाव-व्यंजना की प्रधानता है। कला आकृति, प्रतिकृति और अभिव्यक्ति पर बल देने से प्रायः तीन बड़े हिस्सों में विभक्त की जाती है। जिस कला का उद्देश्य मुख्य रूप से सौन्दर्यमयी आकृतियां बनाना होता है, वह आकृति-प्रधान (formal) कहलाती है। जिसमें रमणीय प्राकृतिक घटनाओं और मानवीय रूपों की यथार्थ प्रतिकृति बनाकर उन्हें सदैव के लिए स्मरणीय बना दिया जाता है, वह प्रतिकृति-प्रधान (Representative) होती है और जिसमें किसी अमूर्त भाव को कलात्मक कृति द्वारा अभिव्यक्त किया जाय वह अभिव्यक्ति-प्रधान (Expressive) कला कही जाती है। चीनियों ने पहले प्रकार पर अधिक ध्यान दिया, उनकी कृतियां देखते ही हम उनके सौन्दर्य की प्रशंसा करने लगते हैं, यूनानी तथा पश्चिम की आधुनिक कला प्रतिकृति-प्रधान है, उसमें नर-नारी के आदर्श रमणीय रूप को हू बहू वैसे ही पत्थर में खोदने तथा चित्रपट पर अंकित करने का सफल और सराहनीय प्रयास किया गया है। पहली दृष्टि में ही उनकी कला-कृतियां प्रेक्षक को अपनी अङ्गसौष्टव-प्रधान रमणीयता से प्रभावित कर लेती हैं। किन्तु भारतीय रचनाओं में ऐसी बात नहीं है, उनमें बाह्य सौन्दर्य दिखाने के बजाय आन्तरिक भावों के अङ्कन को बहुत महत्त्व दिया गया है। इसमें बाहरी सादृश्य की ओर नहीं, किन्तु अन्तस्तल के आलेखन की ओर अधिक

ध्यान दिया जाता है। भारतीय कलाकारों ने भगवान् बुद्ध के अङ्ग-प्रत्यंग-गठन, मांस-पेशियों के सूक्ष्म चित्रण, मछलीदार भुजाओं के अंकन की अपेक्षा उनके मुख-मण्डल पर निर्वाण और समाधि के दिव्य आनन्द को प्रदर्शित करने में अधिक हस्त-कौशल प्रदर्शित किया है। भारतीय कला में प्रतिकृति-मूलक कृतियों का सर्वथा अभाव हो, सो बात नहीं; किन्तु प्रधानतः भाव-व्यंजना की ही रही है। काव्य की भांति कला की आत्मा भी 'रस' ही मानी जाती थी। रस की अभिव्यक्ति ही कला का चरम लक्ष्य था। इसके अभाव में यूनानी तथा पश्चिमी कला चित्ताकर्षक होते हुए भी निष्प्राण और निर्जीव है, भारतीय कला कई बार उतनी यथार्थ और नयनाभिराम न होते हुए भी प्राणवान् और सजीव है।

(२) धर्म तत्त्व की मुख्यता

दूसरी विशेषता भारतीय कला में धर्मतत्त्व की प्रधानता है। प्राचीन काल में कला धर्म की चेरी थी, इसके सभी अंगों का विकास धर्म के आश्रय से हुआ। मूर्तिकारों ने प्रधान रूप से महात्मा बुद्ध तथा पौराणिक देवी-देवताओं की मूर्तियां बनाईं, वास्तुकला का विकास स्तूपों, विहारों और मन्दिरों द्वारा हुआ, चित्रकला का प्रधान विषय धार्मिक घटनाएं थीं। भारत में कला कला के लिए नहीं, किन्तु आत्मस्वरूप के साक्षात्कार या उसे परम तत्त्व की ओर उन्मुखीकरण के लिए थी। भारतीय कलाकारों के अनुसार विषयोपभोग में प्रवृत्त कराने वाली कला कला नहीं है, जिससे आत्मा परम तत्त्व में लीन हो, वही श्रेष्ठ कला है।* मूर्तिकला का प्रधान ध्येय उपासकों के हित के लिए भगवान् की प्रतिमा बनाना था (साधकानां हितार्थाय ब्रह्मणो रूप कल्पनम्) यही हाल अन्य कलाओं का था। किन्तु भगवान् असीम, अपरिमेय और अनन्त है किन्तु इनकी सान्त प्रतिमा कैसे बन सकती है। अतः मूर्ति केवल उनकी प्रतीक है। भगवान् के विविध रूप हैं, अतः उनके प्रतीक भी विभिन्न होंगे। भारतीय कला इस

---

*विश्रान्तिर्यस्य सम्भोगे सा कला न कला मता।
लीयते परमानन्दे ययात्मा सा परा कला॥

प्रतीकात्मकता (Symbolism) से ओत-प्रोत है। कलाकारों का प्रधान ध्येय निगूढ़ दार्शनिक तत्त्वों को मूर्त रूप प्रदान करना था। इसीलिए इनके बारे में यह कहा जाता है कि वे पहले धर्मवेत्ता और दार्शनिक थे और बाद में कलाकार। उनका प्रधान उद्देश्य सूक्ष्म धार्मिक भावनाओं को स्थूल रूप देना था। उन्होंने सुन्दर कलाकृतियों का निर्माण किया, किन्तु आध्यात्मिक सत्य की अभिव्यक्ति के लिए ही। मध्य युग के योरोपीय कलाकारों की भांति भारतीय शिल्पियों ने जो कुछ बनाया, प्रायः भक्ति भाव से अनुप्राणित होकर ही। अजन्ता आदि के चित्रों के निर्माता वहां रहने वाले बौद्ध भिक्षु थे। उन्हें राजाओं को प्रसन्न करने के लिए या अपना पेट भरने के लिए नहीं किन्तु अपने चैत्यों और विहारों को अलंकृत करने के लिए कलात्मक सृष्टि करनी थी।

(३) अनामता

भारतीय कला की तीसरी विशेषता अनामता है। कहा जाता है कि नाम और लोकैषणा की भावना महापुरुषों की अन्तिम दुर्बलता होती है। किन्तु अधिकांश भारतीय कलाकार इससे मुक्त थे। उन्होंने चित्रों या मूर्तियों पर अपने नाम की अपेक्षा कृति की उत्कृष्टता से अमर होना श्रेयस्कर समझा। नाम तो वहां दिया जाता है, जहां आत्माभिव्यक्ति और विज्ञापन की भावना प्रबल हो, उनका उद्देश्य तो दार्शनिक तथा धार्मिक भावनाओं की, तथा भगवान् की महिमा की अभिव्यंजना था, अतः उसमें भाव प्रधान और नाम गौण था। यही कारण है कि अजन्ता-जैसे प्रसिद्ध चित्रों के निर्माताओं का नाम हमें ज्ञात नहीं है।

भारतीय कलाओं का विकास

सब भारतीय कलाओं का मूल वेद माना जाता है किन्तु वैदिक युग की मूर्ति, चित्र, वास्तु आदि कलाओं के कोई प्राचीन अवशेष नहीं मिलते। इसका प्रधान कारण यह है कि उस समय इमारतें, मन्दिर, मूर्तियां प्रायः लकड़ी की बनी होती थीं, भारत के आर्द्र जलवायु और दीमक के प्रभाव से इनका कोई निशान नहीं बचा। भारतीय कला के प्रारम्भिक

इतिहास पर अन्धकार का पर्दा पड़ा हुआ है, वह पहली बार ईसा से २७०० वर्ष पूर्व मोहेन्जोदड़ो में तथा दूसरी बार इसके २४०० वर्ष बाद तीसरी श० ई० पू० में अशोक के समय उठता है। दोनों कालों की कला अत्यन्त प्रौढ़ है। उसने कला-मर्मज्ञों को विस्मय में डाल दिया है। मोहेन्जोदड़ो का ऊंचे ककुद वाला बैल तथा अन्य पशु इतने सुन्दर हैं कि मार्शल के शब्दों में इनकी कला को किसी भी तरह प्रारम्भिक नहीं कहा जा सकता। हड़प्पा की दो मूर्तियां देखकर तो वे इतने विस्मित हुए थे कि उन्हें पहले यह विश्वास ही नहीं हुआ कि ये मूर्तियां प्रागैतिहासिक काल की हो सकती हैं। इनकी गर्दन इतनी सुन्दर है कि पुरानी दुनिया में यूनानी युग से पहले वैसी रचना अन्यत्र कहीं नहीं पाई जाती। चौबीस शताब्दियों के अन्धकार के बाद हमें फिर मौर्य युग में भारतीय कला अत्यन्त परिपक्व और विकसित रूप में दिखाई देती है। अशोक स्तम्भ के शीर्ष पर बने सिंह उस समय की कला की दृष्टि से बेजोड़ हैं। मौर्य युग से ही मूर्ति तथा वास्तु कला के उदाहरण प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं, अत: इस युग से प्रत्येक काल के कला सम्बन्धी विकास पर संक्षिप्त प्रकाश डाला जायगा।

मौर्य युग

भारतीय कलाओं का विस्तृत इतिहास सम्राट् अशोक के समय से उपलब्ध होता है। उसने बौद्ध धर्म अंगीकार करने के बाद देश में कला को पूरा प्रोत्साहन दिया, धर्म-प्रचार के लिए बहुत अधिक स्मारक बनवाये। बौद्ध अनुभूति के अनुसार उसे ८४ हजार स्तूप बनाने का श्रेय दिया जाता है। वर्तमान समय में उसके उपलब्ध स्मारकों को चार भागों में बांटा जाता है (१) स्तूप, (२) स्तम्भ (३) गुहाएं (४) राज-प्रासाद

स्तूप — महात्मा बुद्ध की पवित्र धातु (भस्म) पर, तथा उनके सम्पर्क से पवित्र स्थानों पर वह स्तूपों का निर्माण करते थे। स्तूप उलटे कटोरे के आकार का पत्थरों या ईंटों का ठोस

गुम्बद होता था। वैदिक काल से 'शव' को (बिना जलाये या जलाकर) तोप कर जो तूदा बनाने की रीति चली आती थी, यह उसी का किंचित् विकास-मात्र था।" प्राचीन स्तूपों से मौर्यस्तूपों में यह विशेषता थी कि इनमें वह रक्षा के लिए चौखूंटी बाड़ लगा देते थे, आदरार्थ एक छत्र भी ऊपर स्थापित करते थे, चारों ओर के घेरे को प्रदक्षिणा का रूप दे देते थे और इस घेरे में, चारों दिशाओं में चार तोरण या द्वार बना देते थे। पहले कहा जा चुका है कि बौद्ध परम्परा के अनुसार अशोक ने ८४ हजार स्तूप बनवाये, उसके नौ सौ वर्ष बाद युआन च्वांग ने भारत-भ्रमण करते हुए उसके सैंकड़ों स्तूप इस देश में देखे। वर्तमान समय में इसका सर्वोत्तम स्मारक सांची का स्तूप है। इसके तोरण तो शुंग युग के हैं किन्तु मूल स्तूप इसी युग का है।

स्तम्भ

अशोकीय वास्तु के सुन्दरतम और विशिष्ट स्मारक स्तम्भ हैं। इस समय तेरह स्तम्भ दिल्ली, सारनाथ, मुजफ्फरपुर, चम्पारन के तीन गांवों, रुक्मिनदेई (बुद्ध की जन्मभूमि लुम्बिनी वन) तथा सांची आदि स्थानों में पाये जाते हैं। ये सब चुनार के लाल पत्थर के बने हुए हैं और दो भागों हैं लाट या प्रधान दण्डाकार हिस्सा तथा स्तम्भ शीर्ष या पटगहा। समूची लाट और समूचा परगहा एकाश्मीय या एक ही पत्थर से तराशा हुआ है। दोनों पर ऐसी ओप (पालिश) है 'जिस पर से आंख भी फिसलती है।' २२०० वर्ष बीत जाने पर भी ऐसा प्रतीत होता है कि यह पालिश अभी की गई है दिल्ली वाले स्तम्भ में बढ़िया पालिश के कारण इतनी चमक है कि दर्शक उसे धातु का समझते रहे हैं। १७ वीं शती में टोम कौरियेट तथा १९ वीं शती में बिशप हेबर ने इसे पीतल का गढ़ा हुआ समझा था। यह ओप या पालिश भारत की प्रस्तर कला की ऐसी विशेषता है जो दुनिया में अन्य कहीं नहीं मिलती। इसकी प्रक्रिया अब तक अज्ञात है और यह अशोक के पौत्र सम्प्रति के बाद से भारत से लुप्त हो जाती है। लाट गोल और नीचे से ऊपर तक चढ़ाव-उतारदार है। इस दृष्टि से चम्पारन

के लौरिया नन्दगढ़ की लाट सबसे सुन्दर है, नीचे उसका व्यास ३५½ इंच है और ऊपर २२½ इंच। लाटों की ऊंचाई तीस से चालीस फुट तक और भार १३५० मन (५० टन) तक है। इन भीमकाय एकाश्मीय स्तम्भों की गढ़ाई, खान से अपने ठिकाने तक ढुलाई, इन स्थानों पर इनका खड़ा करना और इन पर परगहों का ठीक-ठीक बैठाना इस बात का प्रमाण है कि अशोकयुगीन शिल्पी और इंजीनियर कारीगरी में किसी अन्य देश के शिल्पियों से कम नहीं हैं।' इन लाटों के शीर्ष या परगहों पर मौर्य मूर्ति कला अपने उत्कृष्ट रूप में मिलती है। इन पर शेर, हाथी, बैल या घोड़े की मूर्तियां बनी होती हैं। इनमें सारनाथ का शीर्ष सर्वश्रेष्ठ है। इसे कला-मर्मज्ञों ने भारत में अब तक खोजी गई इस ढंग की वस्तुओं में सर्वोत्तम बताया है। महात्मा बुद्ध के धर्मचक्र प्रवर्तन के स्थान पर इस स्तम्भ को खड़ा किया गया था। इसके शीर्ष पर चार सिंहों की मूर्तियां हैं और उनके नीचे चारों दिशाओं में चार पहिये धर्म-चक्र-प्रवर्तन के सूचक हैं। पहले इन सिंहों पर भी एक बड़ा धर्म-चक्र था। "सिंह पीठ से पीठ सटाये चारों दिशाओं की ओर दृढ़ता से बैठे हैं। उनकी आकृति भव्य, दर्शनीय और गौरवपूर्ण है, जिसमें कल्पना और वास्तविकता का सुन्दर सम्मिश्रण है। उनके गठीले अंग-प्रत्यंग सम विभक्त हैं और वे बड़ी सफाई से गढ़े गए हैं। उनकी फहराती हुई लहरदार केसर का एक-एक बाल बड़ी सूक्ष्मता और चारुता से दिखाया गया है। इनमें इतनी नवीनता है कि यह आज के बने प्रतीत होते हैं।" इन मूर्तियों की कलाविदों ने मुक्त-कंठ से प्रशंसा की है। स्मिथ ने लिखा है कि 'संसार के किसी भी देश की प्राचीन पशु-मूर्तियों में इस सुन्दर कृति से उत्कृष्ट या इसके टक्कर की चीज़ पाना असम्भव है।' सर जान मार्शल के शब्दों में 'शैली एवं निर्माण-पद्धति की दृष्टि से ये भारत द्वारा प्रसूत सुन्दरतम मूर्तियां हैं और प्राचीन जगत् में इस प्रकार की कोई वस्तु नहीं जो इनसे बढ़कर हो। भारत ने स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद इन्हीं मूर्तियों को अपना राजचिह्न बनाया। रामपुरवा (जि० चम्पारन) के स्तम्भ-शीर्ष पर बनी वृषमूर्ति बड़ी सजीव और ओजस्वी है।

अशोक तथा उसके पौत्र दशरथ ने भिक्षुओं के निवास के गुहा-गृहों को खुदवाया था। ऐसी गुहाएं गया के १६ मील उत्तर में बमाबर नामक स्थान पर मिली हैं। ये बहुत ही कड़े तेलिया पत्थर (Gneiss) मे न केवल भगीरथ परिश्रम से काटी गई हैं किन्तु घुटाई या वज्रलेप द्वारा 'शीशे की भांति' चमकाई भी गई हैं। यहां पुरानी श्रोय की कला अपनी पराकाष्ठा तक पहुंची हुई है।

गुहाएं

पाटलिपुत्र में अशोक ने बहुत ही भव्य-राज प्रासाद बनवाये। ये सात-आठ शतियों तक बने रहे। पांचवीं शती में फाहियान ने इनके निर्माण-कौशल की प्रशंसा करते हुए लिखा था कि ये मनुष्यों के बनाये हुए नहीं हो सकते, इनकी रचना देवताओं ने की है। सम्भवत: ये महल लकड़ी के थे, अत: खुदाई में इनके भग्नावशेषों के अतिरिक्त कुछ नहीं मिला।

प्रासाद

सातवाहन युग

मौर्यों के पतन से गुप्तों के उदय तक की पांच शतियां भारतीय कला के इतिहास में बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। इस समय सांची, भारहुत, बुद्ध गया, सांची, गान्धार, मथुरा तथा अमरावती और नागार्जुनी कोंडा में विभिन्न प्रकार की कला-शैलियों का विकास हुआ। इनमें पहली तीन तो प्रधानत: शुंगकाल (१८८ ई० पू०—३० ई०) से संबद्ध हैं और शेष कुशाण-सातवाहनकाल (पू०—३०० ई०) से। इन दोनों कालों की एक बड़ी भेदक विशेषता यह है कि पहले कला में बुद्ध की कोई प्रतिमा या मूर्ति नहीं बनी, उन्हें सर्व चरण, छत्र, पादुका, धर्मचक्र, आसन, कमल या स्वस्तिक के संकेत से प्रकट किया गया, किन्तु दूसरे काल में इनकी खूब मूर्तियां बनने लगीं। दूसरी विशेषता यह है कि भारहुत, सांची और बुद्ध गया के कलाकारों का विषय यद्यपि बौद्ध है, उनका उद्देश्य स्तूपों को अलंकृत करना है किन्तु मूर्तियां धार्मिक न होकर यथार्थवादी, प्राकृतिक और ऐन्द्रियिक हैं। इनमें धर्मतत्त्व की प्रधानता नहीं, किन्तु लोकजीवन का सच्चा प्रतिबिम्ब है। यह कला बौद्ध धर्म के द्वारा अनुप्राणित नहीं, प्रत्युत उस समय प्रचलित

लोक-कला का बौद्ध धर्म की आवश्यकताओं के अनुसार बदला हुआ रूप है।

भारहुत

मध्यभारत के नागोद राज्य में दूसरी श० ई० पू० के मध्य मे भारहुत में एक विशाल स्तूप की रचना हुई। दुर्भाग्यवश यह स्तूप विध्वस्त हो चुका है; किन्तु इसे घेरने वाली पत्थर की बाड़ों (वेष्टनियों) का कुछ भाग और इसका एक तोरण कलकत्ता के भारतीय संग्रहालय में सुरक्षित है। इससे भारतीय कला में एक नई प्रवृत्ति की सूचना मिलती है। अशोक कालीन बौद्ध कला बहुत सादी थी, उसमें प्रधानता पशु-मूर्त्तियों की ही थी, किन्तु नई कला में बुद्ध के जीवन से संबन्ध रखने वाले दृश्यों को पत्थर में तराशा जाने लगा। भारहुत की पत्थर की बाड़ ऐसे ही मूर्त्ति-शिल्प से अलंकृत है। इसमें आधी दर्जन तो बुद्ध के चरित्र से संबद्ध ऐतिहासिक दृश्य हैं और चालीस के लगभग जातक कथाओं का अंकन है, अनेक दृश्यों के नीचे मूर्त्ति का विषय लिखा हुआ है। पहले प्रकार के दृश्यों में जेतवन का दान विशेष रूप से उल्लेखनीय है। भारहुत कला में पशु-पक्षियों, नागराज और जानवरों की मूर्तियां बड़ी सजीव और स्वाभाविक हैं। इसमें केवल भक्ति भाव के ही नहीं अपितु हास्य रस के अनेक चित्र हैं। जातक दृश्यों में बन्दरों की लीलाएं हैं एक स्थान पर बन्दरों का दल एक हाथी को गाजे-बाजे से लिये जा रहा है। एक वह दृश्य भी कम हंसी का नहीं है, जिसमें एक मनुष्य का दांत हाथी द्वारा खींचे जाने वाले एक बड़े भारी संडासे से उखाड़ा जा रहा है, भारहुत के चित्र हमारे प्राचीन भारत के आमोद-प्रमोदपूर्ण लोक-जीवन का वास्तविक दिग्दर्शन कराते हैं, उनमें धर्मग्रन्थों के दुःख और निराशावाद की हल्की-सी झलक भी नहीं है। कला की दृष्टि से, भारहुत की मानवीय मूर्तियां आकार और आसन में दोषपूर्ण हैं उनमें चपटापन है, किन्तु समग्र रूपेण ये तत्कालीन धार्मिक विश्वास, पहनावे आदि पर सुन्दर प्रकाश डालती हैं।

बुद्ध गया के प्रसिद्ध मन्दिर के चारों ओर एक छोटी बाड़ है। यह संभवत: पहली श० ई० पू० की है। इस पर बने कमलों और प्राणियों के

अशोककालीन वृषभांकित स्तम्भशीर्ष (३री श० ई० पू०), रामपुरवा (विहार) से उपलब्ध। [भारतीय पुरातत्व विभाग के सौजन्य से]

चामरग्राहिणी यक्षी (दीदारगंज पटना, लग० २०० ई० पू०)
[भा० पु० वि० के सौजन्य से]

शुंगयुगीन (२री श० ई० पू०) भारहुत स्तूप पर जेतवन दान का दृश्य।
[श्री जयचन्द्र विद्यालंकार के सौजन्य से]

भारहुत स्तूप पर उत्कीर्ण श्रेष्ठी (सेठ) की यह मूर्ति तत्कालीन शिरोभूषा पर प्रकाश डालती है।
[ज० वि० के सौजन्य से]

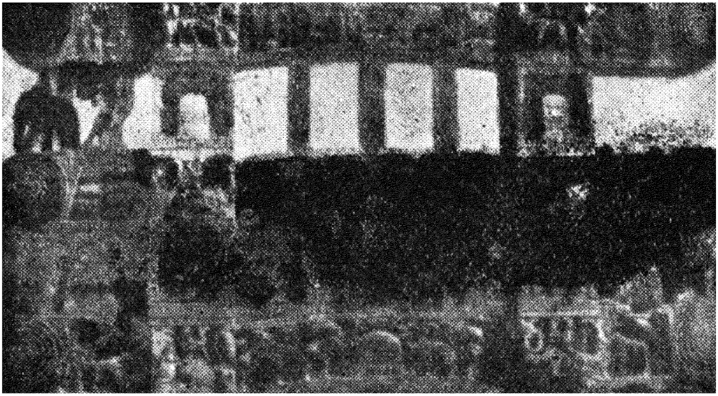

सांची स्तूप के पूरबी तोरण की बंडेरियां [ज० वि० के सौज य से]

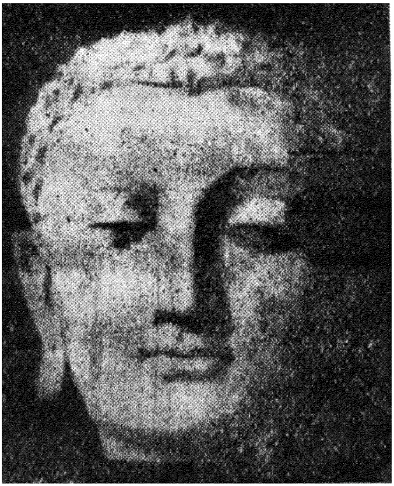

गान्धार शैली का बुद्धमस्तक [ज० वि० के सौजन्य से]

अलंकरण भारहुत-जैसे हैं; किन्तु उसकी अपेक्षा अधिक सुन्दर हैं और यह सूचित करते हैं कि इस समय तक कला काफी उन्नत हो चुकी थी।

सांची

यह बुद्ध गया से भी अधिक उत्कृष्ट शिल्पकला का द्योतक है। इसमें तीन बड़े स्तूप हैं और सौभाग्यवश काल के क्रूर आघात होने पर काफी अच्छी अवस्था में हैं। अशोककालीन प्रधान स्तूप के ५४ फीट ऊंचे अर्ध गोलाकार गुम्बद के चारों ओर पत्थर की बाड़ है, प्रदक्षिणा के लिए पथ है तथा पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण में चार तोरण या द्वार हैं। प्रत्येक द्वार चौदह फुट ऊंचे दो वर्गाकार स्तम्भों से बना है, इनके ऊपर बीच में से तनिक कमानीदार तीन बड़ेरियां हैं। सांची में स्तूप की वेष्टनी तो सादी है, किन्तु चारों तोरण भारहुत की भांति बुद्ध-जीवन के तथा जातकों के दृश्यों को चित्रित करने वाली मूर्तियों से अलंकृत हैं। बड़ेरियों पर सिंह, हाथी, धर्मचक्रयक्ष, त्रिरत्न के चिह्न हैं। इन विपरीत दिशाओं में मुंह किये ऊंट, हिरन, बैल, मोर, हाथी आदि के जोड़े बड़ी सफाई और वास्तविकता से बने हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि सारा पशु जगत् भगवान् बुद्ध की उपासना के लिए उमड़ पड़ा है। खम्भे के निचले हिस्से में द्वार-रक्षक यक्ष बने हैं। खम्भा पूरा होने पर बड़ेरियों का बोझ ढोने के लिए अन्दर की ओर चौमुखे हाथी तथा बौने बने हुए हैं तथा बाहर की ओर वृक्षवासिनी यक्षिणियां या वृक्षिकाएं। इनकी भाव-भंगी बड़ी मनोरम है। सांची की मूर्तियां और विषय भारहुत-जैसे हैं; किन्तु इनके शिल्पियों ने भारहुत के मूर्तिकारों की अपेक्षा शिल्प तथा कलात्मक कल्पना में अधिक प्रौढ़ता प्रदर्शित की है, मनुष्यों को विभिन्न आसनों तथा भाव-भगियों में अधिक सफाई से दिखाया है, इनमें सरल और सुस्पष्ट रूप से पाषाण और जटिल कथाओं और भावों को प्रतिबिम्बित करने का अधिक सामर्थ्य है। भारहुत की भांति, यह स्तूप भी उस समय के लोक जीवन और संस्कृति का विश्व-कोश है।

मथुरा महातीर्थ, व्यापारिक केन्द्र तथा कुशाणों की राजधानी होने से ईसा की पहली शतियों में कला का एक महान् केन्द्र था।

मथुरा शैली — शुंगकाल में यहां भारहुत की लोक-कला तथा सांची की उन्नत शैली साथ-साथ चल रही थी। कुशान काल में यह एक हो गई। पुरानी कलाओं में चपटापन अधिक था, यह इस युग में दूर हो गया। किन्तु भारहुत के अभिप्राय और अलंकरण बने रहे। मथुरा से इस काल की असंख्य मूर्तियां मिली हैं, यह इनका अक्षय कोश प्रतीत होता है। ये सभी मूर्तियां सफेद चित्ती वाले लाल रवादार पत्थर की हैं। मथुरा शैली के पुराने और पिछले दो बड़े भाग किये जाते हैं। पुराने काल की मूर्तियां लगभग भारहुत-जैसी और काफी अनगढ़ हैं। किन्तु पिछले काल में वे काफी परिष्कृत हो जाती हैं और इनमें एक महत्त्वपूर्ण नवीनता बुद्ध की प्रतिमा है। बुद्ध की शिक्षा मूर्ति-पूजा के विरुद्ध थी, चिरकाल तक उनकी मूर्ति नहीं बनी, भारहुत और सांची में यही स्थिति थी, किन्तु भक्त भगवान् के दर्शन के लिए छटपटाते रहे थे। वे उसकी मूर्ति चाहते थे। मथुरा के कलाकारों ने उसे प्रस्तुत कर जन-साधारण की आकांक्षा को पूरा किया। बुद्ध की मूर्ति बनने से भारतीय कला में युगान्तर हो गया, अगली कई शतियों तक भारतीय शिल्पी बुद्ध की मूर्तियों द्वारा इस देश के आध्यात्मिक विचारों की उच्चतम अभिव्यक्ति करते रहे।

गान्धार शैली — जिस समय मथुरा के मूर्तिकार भगवान् बुद्ध की प्रतिमा बना रहे थे, लगभग उसी समय उत्तर पश्चिमी भारत (गन्धार) में कुशाण राजाओं के प्रोत्साहन से वहां के मूर्तिकार एक विशेष प्रकार की बुद्ध मूर्तियां बनाने लगे। ये सब प्रायः काले स्लेट के पत्थर की या कुछ चूने मसाले की बनी हैं। इस तरह की हजारों मूर्तियां अफगानिस्तान, तक्षशिला, उत्तर पश्चिमी सीमा प्रांत से मिल चुकी हैं, इनका समय ५०—३०० ई० तक माना जाता है। गान्धार देश में विकसित होने के कारण, इन मूर्तियों की शैली को गान्धार शैली कहा जाता है। सरसरी तौर से देखने पर इनका संबन्ध यूनानी कला से प्रतीत होता है अतः इसे हिन्दयूनानी (Indo greek) कला भी कहा जाता है। यूनान को सभ्यता का अधिक स्रोत समझने वाले

योरोपियन विद्वानों ने इस शैली को असाधारण महत्त्व दिया है, आज से दो तीन दशक पहले प्राचीन भारत में केवल इसी शैली को वास्तविक कलात्मक शैली समझा जाता था, अब तक अनेक कलाविदों की यह धारणा है कि समग्र भारतीय मूर्तिकला का मूल यही है; किन्तु नई खोजों से यह बात भली भांति सिद्ध हो चुकी है कि इस शैली का महत्त्व अत्युक्तिपूर्ण है। इसका परवर्त्ती कला पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। गान्धार शैली के मूल तत्त्व भारतीय हैं, इसमें यूनानी मूर्तिकला की वास्तविकता और भारतीय कला की भावमय आध्यात्मिक अभिव्यंजना का प्रयत्न किया गया किन्तु इन दोनों के विजातीय होने से यह असफल हुआ और यह शैली स्वयमेव समाप्त हो गई।

गान्धार शैली की मूर्तियां अपनी कई विशेषताओं के कारण झट पहचानी जाती हैं। पहली विलक्षणता मानव शरीर का वास्तववादी दृष्टिकोण से अंकन है, इसमें अङ्ग-प्रत्यंग और मांस-पेशियों को अधिक सूक्ष्मता और ध्यान के साथ चित्रित किया गया है। दूसरी विशेषता यह है कि मूर्तियों को मोटे कपड़े पहनाये गए हैं तथा उनकी सलवटें बड़ी सूक्ष्मता से दिखाई गई हैं। इस शैली की बुद्धमूर्तियां भारत में अन्यत्र पाई जाने वाली प्रतिमाओं से बिलकुल भिन्न हैं, ये प्रायः कुछ को शरीर से बिलकुल सटे, अंग-प्रत्यंग दिखाने वाले झीने या अर्ध पार दर्शक वस्त्रों में चित्रित करती हैं; और उन्हें आदर्श मानव के रूप में अंकित करती हैं। यूनानियों के लिए मनुष्य और मनुष्य की बुद्धि सभी कुछ थी उन्होंने देवताओं को भी मानव रूप प्रदान किया; भारतीय देवताओं में श्रद्धा रखते थे, उन्होंने मनुष्य को भी देव बना डाला। यही कारण है कि यूनानी कला वास्तववादी है और भारतीय आदर्शवादी। पहली नैतिक है और दूसरी आध्यात्मिक। गान्धार-शैली में इन दोनों का सम्मिश्रण था। गन्धार कलाकार की आत्मा और हृदय भारतीय था और किन्तु बाह्य शरीर यूनानी। यह शैली मध्य एशिया होती हुई चीन और जापान तक पहुंची तथा इसने उन देशों की कला को प्रभावित किया। पहले यह समझा जाता था कि बुद्ध की मूर्ति सबसे पहले

इन्हीं कलाकारों ने बनाई, भारतीयों ने इसका अनुकरण किया किन्तु अब यह सिद्धांत अमान्य हो चुका है। हम पहले देख चुके हैं कि मथुरा के मूर्तिकारों ने इसका स्वतन्त्र रूप से विकास किया। दोनों में भारी अन्तर है। पहली यथार्थवादी है, उसमें भौतिक सौन्दर्य और अंग-सौष्ठव पर अधिक ध्यान दिया गया है, दूसरी आदर्शवादी है, इसमें शारीरिक रचना की अपेक्षा मुख-मण्डल पर दिव्य दीप्ति लाने का अधिक प्रयत्न है।

दूसरी श० उत्तरार्ध से दक्षिण में कृष्णा नदी के निचले भाग में अमरावती (जि० गुण्टूर) जगय्यापेट और नागार्जुनी कोंडा अमरावती शैली में एक विशिष्ट शैली का विकास हुआ। अमरावती में न केवल स्तूप की बाड़ या वेष्टनी संगमरमर की थी; किन्तु सारा गुम्बद इन्हीं पत्थर के शिलाफलकों से ढका हुआ था। भारहुत की भांति इसकी सारी बाढ़ मूर्तियों से अलंकृत थी। किन्तु ये वहां की मूर्तियों से कई दृष्टियों में भिन्न हैं। इनमें कुछ को प्रतीकों तथा मूर्तियों दोनों प्रकार से व्यक्त किया गया है, अतः यह भारहुत और सांची तथा मथुरा और गान्धारकलाओं का संक्रांति फल माना जाता है। यहां बुद्ध भगवान् की छः-छः फुट से ऊंची खड़ी मूर्तियां बहुत ही गम्भीर उदासीन और वैराग्य भाव से परिपूर्ण हैं। यहां बड़े कठिन आसनों में सुन्दर पतली और प्रसन्न आकृतियां अंकित हैं, दृश्यों में बहुत अधिक ब्यौरा भरने का यत्न किया गया है। वनस्पतियों और पुष्पों—विशेषत: कमलों के अलंकरण बहुत सुन्दर हैं। सारी कला भक्ति भाव से ओत-प्रोत हैं। बुद्ध के चरण-चिह्न के सम्मुख नत उपासिकाओं का दृश्य बहुत भव्य है। हास्यरस की भी कमी नहीं है। ऐसा अनुमान है कि सत्रह हजार वर्ग फुट में इस प्रकार की मूर्तियां बनी हुई थीं। अखण्ड अवस्था में सफेद संगमरमर का यह स्तूप बहुत ही भव्य रहा होगा, दुर्भाग्यवश सौ वर्ष पहले चूना बनाने के लिए इसका बहुत बड़ा भाग फूंक दिया गया।

गुण्टूर जि० में ही नागार्जुनी कोंडा नामक स्थान पर एक अन्य स्तूप मिलता है। इसका शिल्प अमरावती-जैसा उत्कृष्ट नहीं। बुद्ध जन्म का एक

सुन्दर दृश्य यहां से मिला है। इसकी तथा अमरावती की मूर्तियों पर कुछ रोमन प्रभाव है।

सातवाहन युग की वास्तु-कला प्रधानतः पहाड़ों की चट्टानों में काटी हुई गुहाएं हैं। इनके काटने की पद्धति तो अशोक के समय से शुरू हो गई थी, किन्तु उस समय तक ये सादे कमरे थे, अब इन्हें स्तम्भ-पंक्तियों तथा मूर्तियों से अलंकृत किया जाने लगा। ये प्रायः दो प्रकार की होती थीं, चैत्य और विहार। चैत्य तो उपासना के लिए सुन्दर मन्दिर था और विहार भिक्षुओं का निवास-स्थान। चैत्य एक आयताकार लम्बा हाल होता था, इसमें दोनों ओर दो स्तम्भ पंक्तियाँ और अन्दर अर्धवृत्ताकार सिरे पर एक छोटा-सा स्तूप होता था। सामने की दीवार और दरवाजों पर चित्र बने होते थे। विहारों में एक केन्द्रीय हाल के चारों ओर कोठरियां होती थीं। चैत्य गुहाएं काले कन्हेरी भाजा, नासिक आदि स्थान पर महाराष्ट्र में पाई गई हैं। वहां इन्हें 'लेग' कहते हैं। इनमें सबसे सुन्दर कार्लीलेग हैं। उड़ीसा में इस प्रकार की गुहाएं गुम्फाएं कहलाती हैं। ये सब जैन मन्दिर हैं।

सातवाहन युग में कुछ स्तम्भ भी बने। इनमें दूसरी शती ई. पू. का विदिशा के पास यूनानी राजदूत हेलि उदार द्वारा स्थापित गरुड़ध्वज सबसे अधिक प्रसिद्ध है। किन्तु इन स्तम्भों में अशोक कालीन चमक नहीं, इस काल में पिछले युग की भांति सुन्दर पशुमूर्तियां भी नहीं बनीं, किन्तु इस काल की सबसे बड़ी देन बुद्ध की तथा अन्य मानवीय मूर्तियां और गुहा मन्दिर हैं।

गुप्त युग

गुप्त युग में भारतीय कला अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच गई। हमारी कला के चरम विकास के अजन्ता चित्रों-जैसे अनेक सुन्दर उदाहरण इसी युग के हैं। अनेक शतियों की साधना के बाद इस समय तक भारतीय शिल्पियों का हाथ इतना सध गया था कि वे जिस वस्तु या विषय को लेते उसमें जान डाल देते थे। उनकी सुविकसित सौन्दर्य-भावना परिमार्जित

एवं प्रौढ़ कल्पना तथा अद्भुत रचना-कौशल ने ऐसी कृतियों को जन्म दिया, जो भारतीय कला के क्षेत्र में 'न भूतो, न भावी' रचनाएं थीं। ये अगले युगों में आदर्श का काम देती रहीं। गुप्त कला में न तो पिछले कुशाणयुग की आकर्षक ऐन्द्रिकता है और न परवर्ती मध्य युग की प्रतीकात्मक अपूर्व भावना। इसमें दोनों का संतुलन और सामंजस्य है। कुशाण मूर्तियों के पारदर्शक परिधान का लक्ष्य शरीर के नग्न सौन्दर्य को प्रकट करना था, गुप्तकाल के झीने वस्त्र इस पर आवरण डालने वाले हैं। गुप्तों से पहले कला में अलंकरणों की अधिकता है। इनके भार से कला दबी जा रही थी। गुप्त शिल्पियों ने इसे कम करके कला को अधिक सरल और सजीव बनाया। उनका प्रधान उद्देश्य कला द्वारा उच्चतम आध्यात्मिक भावों की अभिव्यक्ति थी और इसमें वे पूर्ण रूप से सफल हुए हैं। इस युग के शिल्प में अद्भुत भावोद्रेकता है। आध्यात्मिकता, गाम्भीर्य, रमणीयता लालित्य, माधुर्य, ओज और सजीवता की दृष्टि से गुप्तकला अद्वितीय है।

गुप्त मूर्तिकला की सबसे बड़ी देन बौद्ध तथा पौराणिक देवताओं की आदर्श मूर्त्तियां हैं। सारनाथ और मथुरा से बुद्ध की अनेक प्रतिमाएं मिली हैं और झांसी जिले के देवगढ़ मन्दिर शिव, विष्णु आदि हिन्दू देवताओं की। इनमें सारनाथ और मथुरा की दो बुद्ध प्रतिमाएं तो भारत की मूर्त्तियों में सर्वश्रेष्ठ समझी जाती हैं। इनमें आध्यात्मिक भावों की जितनी सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है, वैसी अन्यत्र बहुत कम देखने को मिलती है इनमें उनके उत्फुल्ल मुखमण्डल पर अपूर्व प्रभा, कोमलता, गम्भीरता और शान्ति है। मथुरा वाली मूर्त्ति में करुणा और आध्यात्मिक भाव का अपूर्व का सम्मिश्रण है। गुप्त युग की एक बड़ी विशेषता यह है कि इसमें बुद्धि और भावपक्ष में संतुलन है; आध्यात्मिक अभिव्यंजना के साथ-साथ सौन्दर्य बुद्धि और समानुपात का पूरा ध्यान रखा गया है। बाद की कला में भावुकता की प्रधानता और अलंकारणों के प्राचुर्य से एकांगी हो जाती है।

गुप्त कला केवल धार्मिक भावों की अभिव्यंजना तक ही सीमित नहीं थी। अजन्ता के चित्रों से यह भली-भांति ज्ञात होता है कि भारतीय

कलाकारों ने मानव-जीवन का कोई क्षेत्र अछूता नहीं छोड़ा था। यहीं हमें भारतीय चित्रकला के सर्वप्रथम और सर्वोत्तम रूप में दर्शन होते हैं। यद्यपि इनका विषय धार्मिक है, अधिकांश चित्र विश्वकरुणा के भावों से ओत-प्रोत हैं तथापि सामाजिक जीवन और चराचर जगत् के सभी पहलुओं की यहां चर्चा है। अजन्ता के चित्रों में मैत्री, करुणा, प्रेम, क्रोध, लज्जा, हर्ष, उत्साह, चिन्ता, घृणा आदि सभी प्रकार के भाव, पद्मपाणि अवलोकितेश्वर, प्रशान्त तपस्वी और देवोपम राज-परिवार से लेकर क्रूर व्याध, निर्दय बधिक, साधुवेशधारी धूर्त, वार-वनिता आदि सब तरह के मानव-भेद, समाधि-मग्न बुद्ध से प्रणय-क्रीड़ा में रत दम्पति और शृंगार में लगी नारियों तक सकल मानव-व्यापार अंकित हैं। अजन्ता के चित्रों की यह बहुविधता आश्चर्यावह है।

चित्रकला

अजन्ता में तीन प्रकार के चित्र हैं—अलंकरणात्मक, ध्वनि-चित्र तथा (Portratis) घटनात्मक। सजावट के लिए अजन्ता में झालर, बदन पर पत्रावलि, पुष्पों, पेड़ों, पशुओं की आकृतियां बनी हैं, इनके अनन्त भेद हैं और कोई एक डिजाइन दुबारा नहीं दोहराया गया। रिक्त स्थान भरने के लिए अप्सराओं गन्धर्वों, यक्षों की सुन्दर मूर्त्तियां हैं। ध्वनि-चित्रों में पद्मपाणि अवलोकितेश्वर न केवल भारतीय किन्तु एशियायी चित्रकला का सुन्दरतम उदाहरण समझा जाता है। घटनात्मक चित्रों मे जातकों के दृश्य हैं। इनकी भाव-व्यंजना में अजन्ता के चित्रकारों ने कमाल का कौशल दिखाया है। १६ वीं गुहा की 'म्रियमाण राजकन्या' के दृश्य की ग्रिफिथ प्रभृति पाश्चात्य आलोचकों ने मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। 'विकलता और करुणा के भावों की दृष्टि से कला के इतिहास में इससे बढ़कर कोई उत्कृष्ट कृति नहीं। फ्लोरेंस निवासी चित्रकार इसका आलेखन अधिक अच्छा कर सकता था, वेनिस का कलाकार इसमें अधिक अच्छा रंग ला सकता था; किन्तु इनमें से कोई भी इसमें इससे अधिक भाव नहीं भर सकता था। बुद्ध-महाभिनिष्क्रमण (गृह-त्याग), मारविजय, यशोधराद्वारा राहुल को भिक्षा रूप में देने के दृश्य बड़े हृदयग्राही हैं। सर्वनाश का संदेश देने वाले

वृद्ध के चित्र में चित्रकार ने कुछ रेखाओं द्वारा उसके हृद्गत भावों की सुन्दर अभिव्यक्ति की है। उसका उदास चेहरा, आर्त नेत्र और हाथ की मुद्रा ही भीषण दुर्घटना की सूचना दे रहे हैं।

अजन्ता जैसे चित्र- बाघ (ग्वालियर राज्य) सित्तनवासल (पुदूकोटा राज्य) तथा सिगिरिया (लंका) में भी मिले हैं।

गुप्त युग की एक बड़ी कला मृण्मूर्त्तियां और पकाई मिट्टी के फलक थे। इनका सौन्दर्य और सजीवता धातु की मूर्त्तियों से भी बढ़ा चढ़ा है। इस काल का एक सुन्दर उदाहरण पार्वती मस्तक है।

गुप्त युग की वास्तु कला मूर्त्ति या चित्र कला के समान उन्नत न थी। इस समय के प्रधान मन्दिर भूकटा (नागोद राज्य), नचनाकूथर (अजयगढ़) भितरगांव (कानपुर) और देवगढ़ (झांसी) में मिले हैं। ये बहुत छोटे और बिलकुल सादे हैं, इनमें शिखर या कलश पिछले दो मन्दिरों में ही मिलता है।

मध्य युग

मध्य युग की भारतीय कला की सबसे बड़ी विशेषता वास्तु का विशेष विकास है। इस युग में वास्तु कला की विभिन्न शैलियों का विकास हुआ, स्वदेश तथा विदेश में भव्य मन्दिरों का निर्माण हुआ। इस समय वस्तुत: भारतीय मूर्ति और स्थापत्य कला अपने सबसे मनोरम रूप में प्रकट हुई। उसमें गुप्त युग का ओज और नवीनता तो नहीं रही; किन्तु लालित्य बहुत बढ़ गया। मध्य युग को दो बड़े भागों में बांटा जाता है। पूर्व मध्यकाल (६००-६००) तथा उत्तर मध्य काल (९००-१२००)। पूर्व मध्यकाल में कला काफी उन्नत रही; किन्तु दूसरे काल में अलंकरणों पर बहुत बल दिया जाने लगा। तन्त्रवाद के प्रभाव से कुछ स्थानों पर अश्लील मूर्त्तियों को प्रधानता मिली मूर्त्तियों एवं मन्दिरों की शिल्पियों में पहले जैसी पुरानी मौलिकता लुप्त हो गई, वे पुरानी रूढ़ियों का पालन करते हुए अपनी रचनाओं में अधिक-से-अधिक भड़कीला बनाने का यत्न करने लगे। 'यह

अलकावली से सुशोभित पार्वतीमस्तक। अहिच्छात्र (बरेली) से उपलब्ध पांचवी श० ई० की मिट्टी की यह मूर्ति तत्कालीन केशविन्यास पद्धति का सुन्दर परिचय कराती है। [भा० पु० वि० के सौजन्य से]

सुन्दर प्रभामंडल से अलंकृत मथुरा (५ वीं० श० ई०) की एक भव्य बुद्ध मूर्ति। [भा० पु० वि० के सौजन्य से

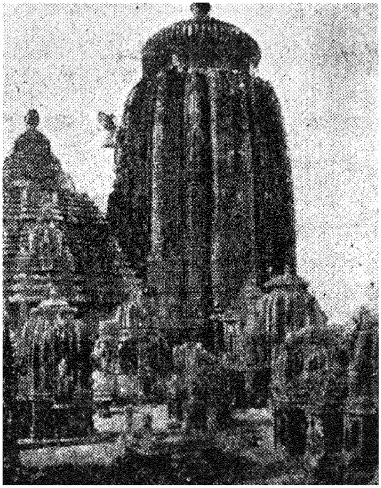

भुवनेश्वर (उड़ीसा) के मध्ययुगीन भव्यमन्दिर [ज० वि० के सौजन्य से]

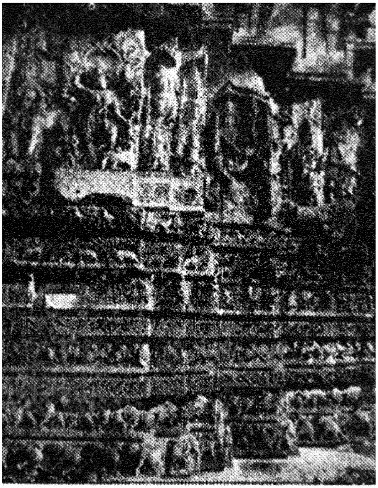

होयसालेश्वर (मैसूर) मन्दिर का बाहरी अंश (१२ वीं श०)
[ज० दि० के सौजन्य से]

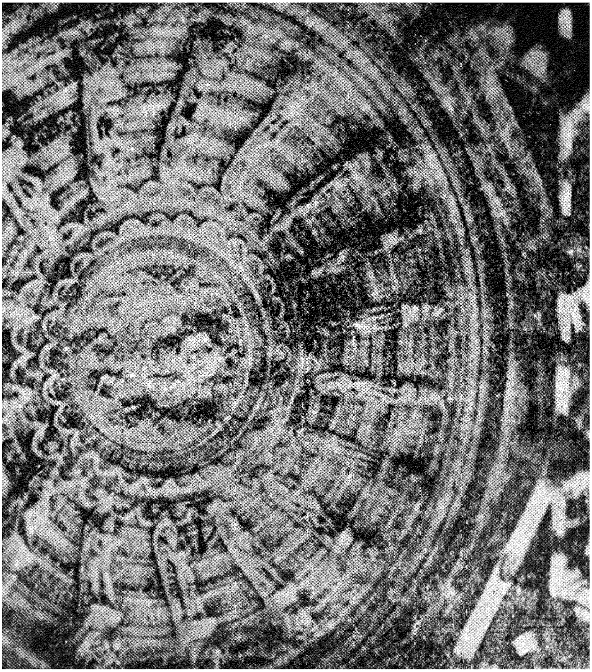

देलवाड़ा (आबू) के जैन मन्दिर (१०३१ ई०) की संगमरमर की कारीगरी की छत ।   [ज० वि० के सौजन्य से]

बच्चे को दुलार करती हुई मां (भुवनेश्वर उडीसा), ११वीं श० ई०

[भा० पु० वि० के सौजन्य से]

पत्र लिखती हुई नारी (भुवनेश्वर ११वीं श०) [भा० पु० वि० के सौजन्य से]

सौन्दर्य नहीं किन्तु चमत्कार का युग है। इनकी कृतियों में कला नहीं कलाभास है"। चित्रकला भी इस काल में ह्रासोन्मुख हुई और उसमें अपभ्रंश शैली प्रधान हुई।

वास्तुकला की दृष्टि से इस काल के मन्दिरों के दो बड़े भेद किये जाते हैं। उत्तर भारतीय और द्रविड़। इनका प्रधान अन्तर शिखर विषयक है। पहली शैली में देवता की मूर्ति वाले गर्भगृह को छत ठोस, वक्ररेखात्मक (पसलीदार) बुर्ज की तरह होती है, जो ऊपर की ओर छोटा होता चला जाता है। इसके ऊपर आमलक होता है और इस पर कलश और ध्वजदण्ड स्थापित किया जाता है। द्रविड़-शैली के मन्दिरों में गर्भगृह का ऊपरी भाग या विमान चौकोर तथा कई मंजिला होता है, प्रत्येक उपरली मंजिल निचली से कुछ छोटी हो जाती है और इसकी आकृति पिरामिड सदृश होती है। इसके ऊपरी सिरे पर गोल पत्थरों की गोल टोपी होती है। विमान की इस विभिन्नता के अतिरिक्त द्रविड़ मन्दिरों में गर्भगृह के आगे मंडप या अनेक स्तम्भों वाले स्थान होते हैं तथा मन्दिर के घेरे के एक या अधिक द्वारों पर एक बहुत ऊंचा अनेक देवी-देवताओं की मूर्ति वाला गोपुर रहता है। शिखरों, विमानों तथा गोपुर को मूर्तियों से खूब अलंकृत किया जाता था। इस काल के आर्य शैली के मन्दिर लिंगराज भुवनेश्वर उड़ीसा खजुरोहा (मध्य भारत) में हैं, इनमें से अनेक ऊपर से नीचे तक विविध प्रकार की प्रतिमाओं और अलंकरणों से सुशोभित होने के कारण अत्यन्त भव्य हैं। द्राविड़ शैली के मन्दिरों में मामल्लपुरम् (चिंगलपट जिले में महाबलिपुरम्) कांजीवरम्, इलोरा, तंजोर, बेलूर तथा श्रवलबेल गोला (ज़िहसन मैसूर रियासत) और श्रीरंगम् (त्रिचनापल्ली) उल्लेखनीय हैं। इस काल में वास्तु तथा मूर्तिकला का अभिन्न संबन्ध होने से दोनों का साथ-साथ वर्णन किया जायगा।

इस युग की मूर्तिकला की प्रधान विशेषता घटनाओं के बड़े-बड़े दृश्यों का सफल अंकन है। सातवाहन तथा गुप्त युगों में घटनाएं बहुत संकुचित

शिला फलकों पर उत्कीर्ण की जाती थीं, अब भारतीयों ने एक ओर जहां मन्दिरों के लिए पहाड़ काटने शुरू किये, वहां दूसरी ओर दृश्यों के अंकन के लिए सौ फुट ऊंची विशाल चट्टानें चुनीं। इस समय तक उनका हाथ इतना सध चुका था कि उनकी छेनी ने दुर्गा-महिषासुर युद्ध, शिव का त्रिपुरदाह रावण द्वारा कैलाश के उठाने जैसे बड़े-बड़े दृश्यों को काफी गति अभिनय और सजीवता के साथ तराशा है। इस युग के तीन प्रधान मूर्ति-केन्द्र उल्लेखनीय हैं--(१) मामल्लपुरम् (२) एलोरा (३) एलिफेण्टा।

पूर्व मध्य काल (६००-९०० ई०)

मामल्लपुरम्

(१) पल्लव—राजा महेन्द्र वर्मा (लग० ६००—६२५ ई०) तथा उसके पुत्र नरसिंह वर्मा (लग० ६२५-६५० ई०) दक्षिण में कांची के सामने, इस स्थान पर समुद्र-तट पर एक-एक चट्टान से कटवा कर विशाल मन्दिर बनवाये। इन्हें 'रथ' कहा जाता है। ये संसार की अद्भुत वस्तुओं में से हैं इनमें से सात रथ (मन्दिरों) का एक समूह सात पगोड़ों के नाम से विश्व-विख्यात है। इनके नाम पाण्डवों के नाम पर धर्मराज रथ, भीमरथ आदि हैं। विशाल काय चट्टानों से काटे ये एकाश्मीय मन्दिर पल्लव, वास्तु और मूर्तिकला के सर्वोत्तम उदाहरण हैं। यह स्मरण रखना चाहिए कि जैसे हमें उत्तर भारत में मौर्ययुग में सबसे उन्नत भारत की मूर्ति कला सबसे पहले अत्यन्त उन्नत विकसित रूप में मिलती है, वैसे ही दक्षिण भारत का तक्षण-शिल्प इन मन्दिरों में सर्व प्रथम प्रौढ़ रूप में दिखाई देता है। यह कई शक्तियों के विकास का परिणाम है, इसके आरम्भिक उदाहरण लकड़ी पर बने होने से नष्ट हो चुके हैं।

मामल्लपुरम् के 'रथ' द्राविड़ शैली के कई खण्डों में ऊपर उठते हुए मन्दिरों के प्राचीनतम उदाहरण हैं। इस पल्लव शैली का बाद में न केवल समूचे दक्षिण भारत, किन्तु वृहत्तर भारत के जावा, कम्बोडिया, अनाम आदि देशों में प्रचार हुआ। मामल्लपुरम् की मूर्तियों में महिषासुर से युद्ध करती दुर्गा की प्रतिमा में बड़ी गति और सजीवता है। सबसे आश्चर्य-जनक

मूर्ति भगीरथ की तपस्या का दृश्य है। यह ९८ फुट लम्बी, ४३ फुट चौड़ी विशाल खड़ी चट्टान पर काटी गई है। कंकाल-मात्रावशिष्ट भगीरथ गंगा के भूतल पर अवतारण के लिए तपस्या-मग्न हैं, सारा दिव्य और पार्थव— यहां तक कि जन्तु-जगत् उनका साथ दे रहा है। यह विशाल प्रभावोत्पादक दृश्य बहुत ही भावपूर्ण और वास्तविक है। उपर्युक्त दृश्य और रथ पल्लव कला की उत्कृष्टता की अमर कीर्ति-पताका हैं और दर्शक इन शिल्पियों के विस्मयावह कौशल की सराहना किये बिना नहीं रह सकता।

(२) एलोरा (वेरूक)—निज़ाम राज्य में औरंगाबाद से सोलह मील पर एक पूरी-की-पूरी पहाड़ी को काटकर मन्दिरों में परिवर्तित कर दिया गया है। इनमें पचीस तीर्थ-हिन्दू, बौद्ध तथा जैन मन्दिर हैं। इनमें राष्ट्र कूट राजा कृष्ण (७६०–७७५ ई०) द्वारा बनवाया। कैलास मन्दिर सबसे विशाल और भव्य मन्दिर हैं। १६० फुट ऊंचे १४२ फुट लम्बे, ६२ फुट चौड़े द्वारों, झरोखों, सीढ़ियों सुन्दर स्तम्भ-पंक्तियों से युक्त यह विशाल मन्दिर एक ही पत्थर का बना हुआ है, इसमें कहीं जोड़, चूना-मसाला या कील-कांटा नहीं है। इसे बनाने के लिए पहले पहाड़ काटकर जगह खोखली की गई, यह २५० फुट गहरे और डेढ़ सौ फुट चौड़े खाली स्थान से आस-पास के पहाड़ से पृथक् है, फिर इसके बीच में उपयुक्त मन्दिर का निर्माण कर शिल्पियों ने जो कृति प्रस्तुत की है, वह मानव के धैर्य, अध्यवसाय और कला का उत्कृष्टतम उदाहरण हैं। बिना किसी लगाव के दुमंजली तिमंजली इमारत तरास डालना बड़ा विलक्षण कार्य है, दर्शक उसे देखकर दांतों तले उंगली दबा लेता है और इसके निर्माता अज्ञात कारीगरों के आगे नत मस्तक होता है। कैलास मन्दिर को काटते हुए कारीगरों ने बयालीस पौराणिक दृश्य भी अंकित किये हैं। इनमें नृसिंहावतार का दृश्य, शिव-पार्वती का विवाह, इन्द्र-इन्द्राणी की मूर्तियाँ, रावण द्वारा कैलास उत्तोलन बड़ी सुन्दर, विशाल, भावपूर्ण और ओजस्वी कृतियां हैं। अन्तिम दृश्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है। रावण कैलाश को उठा रहा है, भयग्रस्त पार्वती शिव के विशाल भुज-दण्ड का अवलम्ब ले रही है

सखियां भाग रही हैं किन्तु शिव अचल हैं अपने चरणों से कैलास को दबाकर उसका परिश्रम विफल कर रहे हैं।

(३ धारापुरी (एलिफैन्टा)—बम्बई से छः मील दूर धारापुरी नामक टापू में दो बड़े पर्वतों के ऊपरी भाग काटकर मन्दिर और मूर्तियां बनाई हैं। इनका समय ८वीं शती ई० है। यहां की प्रतिमाओं में महेश्वर की प्रकाण्ड त्रिमूर्ति तथा शिव-पार्वती-विवाह का दृश्य बहुत ही भव्य है। पहली के मुख-मण्डल पर अपूर्व प्रशान्त गम्भीरता है, दूसरी 'यथा दीपो निवातस्थो' की आदर्श समाधि अवस्था की भव्यतम अभिव्यक्ति है और तीसरी में पार्वती के आत्म-समर्पण का भाव बड़ी सफलता से दिखाया गया है।

आठवीं शती में ही जावा में शैलेन्द्रवंश ने बोरोबुदुर का प्रसिद्ध सतमंजिला अनोखा एवं भव्य मन्दिर बनवाया, जिसे आधुनिक कला-मर्मज्ञों ने पत्थर में तराशा महाकाव्य कहा है। इसकी गैलरियों में जातकों तथा बुद्ध की जीवनी के अनेक दृश्य बने हुए हैं। इन सबको यदि एक पंक्ति में फैला दिया जाय तो वह तीन मील लम्बी होगी। इनमें शान्ति और आध्यात्मिकता का अनुपम सौन्दर्य है। दक्षिण में नटराज की प्रसिद्ध मूर्तियां इसी कला से बनने लगीं।

आठवीं शती मामल्लपुरम्, कैलाश और बोरोबुदुर-जैसी अमर कलाकृतियां पैदा करने के कारण भारतीय कला के इतिहास की स्वर्ण शती है। इसके बाद कला में क्षीणता आने लगी।

उत्तर मध्ययुग में वास्तु के पांच केन्द्र उल्लेखनीय हैं—(१) खजुराहो (२) राजपूताना (३) उड़ीसा (४) चोल राज्य (५) होयसलज राज्य।

खजुराहो

दसवीं शती में चन्देल राजाओं ने छतरपुर राज्य (बुन्देलखण्ड) में खजुराहो का प्रसिद्ध मन्दिर-समूह बनवाया। इसके भव्यतम मन्दिर राजा धंग (९५०-९९९ ई०) के दान और प्रोत्साहन का फल है। इनमें सबसे सुन्दर और प्रधान केडरियानाथ महादेव का विशाल मन्दिर है। एक ११६ फुट ऊंचा, विशाल

कुर्सी और भारी चबूतरे वाला यह मन्दिर अपने क्रमशः छोटे होते हुए शिखर-समूहों से बहुत भव्य मालूम होता है। प्रदक्षिणा पथ में सुन्दर स्तम्भ-योजना है। मन्दिर का कोई चप्पा सुन्दर मूर्तियों तथा अलंकरणों से रहित नहीं है। उस समय हिन्दू धर्म में तन्त्र की प्रधानता हो रही थी, उसके प्रभाव से यहां काम-शास्त्र सम्बन्धी अश्लील मूर्तियां भी काफी संख्या में पाई जाती हैं। भारतीय मूर्ति-कला में शृंगारिकता तो भारहुत और सांची के काल से यक्षों और वृक्षिकाओं के अंकन में चली आ रही थी किन्तु अश्लीलता नहीं थी। वह इसी युग में शुरू हुई।

राजपूताना

इस युग में अति अलंकार-प्रधान शैली की पराकाष्ठा राजपूताना और गुजरात में मिलती है। इसका सर्वोत्तम उदाहरण आबू पर्वत पर देलवाड़ा के पास दो जैन मन्दिर हैं – पहला विमल शाह नामक वैश्य ने १०३२ ई० में तथा दूसरा तेजपाल ने १२३२ ई० में बनवाया। दोनों में नीचे से ऊपर तक संगमरमर लगा है। इसमें यद्यपि अलंकरण की इतनी अधिकता है कि मन्दिर का एक चप्पा भी खाली नहीं छोड़ा गया तथा इन अलंकरणों में बहुत अधिक पुनरावृत्ति का दोष है, तथापि इनकी विलक्षण जालियां, पुतलियां, बेल-बूटे और नक्काशियां देखकर दर्शक दंग रह जाता है। "संगमरमर ऐसी बारीकी से तराशा गया है, मानो किसी कुशल सुनार ने रेती से रेत-रेत कर आभूषण बनाये हों या यों कहिये कि बुनी हुई जालियां और झालरें पथरा गई हों। छतों की सुन्दरता का तो कहना ही क्या? इनमें बनी हुई नृत्य की भाव-भंगी वाली पुतलियों और संगीत-मंडलियों के सिवा बीच में संगमरमर का एक झाड़ भी लटक रहा है, जिसकी एक-एक पत्ती में कटाव है। यहां पहुंचने पर ऐसा प्रतीत होता है कि हम स्वप्न के अद्भुत लोक में आ गए हैं।" इनकी सुन्दरता बहु विज्ञापित ताज से बहुत अधिक है।

इस प्रांत में मध्य युग में बने भव्य मन्दिरों में पुरी का जगन्नाथ नाम का मन्दिर, कोणार्क का सूर्य मन्दिर और भुवनेश्वर के मन्दिर

प्रधान हैं। कोणार्क का देवालय रथ के आकार का है, इसमें बड़े विराट् पहिये हैं, इन्हें बड़े जानदार घोड़े खींच रहे हैं। इन सबको इनकी विशालता और अलंकरण-बहुलता ने बहुत भव्य एवं मनोरम बना दिया है। मन्दिरों का कोई कोना या चप्पा खाली नहीं छोड़ा गया। 'इनमें नायिका-भेद और नाग-कन्याओं की बड़ी सुभग मूर्त्तियां बनी हैं, जिनके भोले मुख पर से आंख हटाये नहीं हटती पत्र लिखती हुई नारी की मूर्त्ति की भाव-भंगी बड़ी मनोरम है। कई मूर्त्तियों में मातृ-ममता की बड़ी सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। माता अपने शिशु का लाड़ करने में मानो अपने हृदय को निकालकर धर देती हुई अङ्कित की गई है।' यहां भी अश्लील मूर्त्तियों की भरमार है।

उड़ीसा

दक्षिण भारत में पल्लवों के बाद चोलों ने दसवीं शती में द्रविड़ शैली को विकसित कर परिपूर्णता तक पहुंचाया। इस शैली का एक सर्वश्रेष्ठ उदाहरण राजराज महान् द्वारा तंजौर में बनवाया हुआ महान् शैव मन्दिर है। इसका विमान या शिखर १४ मंजिला और १९० फुट ऊंचा है, इसके ऊपर एक ही प्रस्तर-खण्ड का भीमकाय गुम्बद है, कहा जाता है कि इसे मन्दिर तक लुढ़काकर लाने के लिए ४ मील लम्बी सड़क विशेष रूप से बनाई गई थी। यह विशालकाय देवालय ऊपर से नीचे तक मूर्त्तियों और अलंकरणों से सुशोभित है। चोल कला की प्रधान विशेषता बृहत्वयुक्त भव्यता है। भीमकाय मन्दिरों को अत्यधिक परिश्रम से अत्यन्त सूक्ष्म तक्षण से अलंकृत किया गया है। इस विषय में फर्गुसन ने ठीक ही लिखा है कि चोल कलाकार अपनी वास्तु का प्रारम्भ दानवों की-सी विशाल कल्पना से करते थे और उसकी पूर्त्ति जौहरियों की भांति करते थे। चोल कला की परवर्ती युगों में एक बड़ी देन गोपुरम् मन्दिर का विशाल प्रवेश-द्वार था। धीरे-धीरे इनका आकार और संख्या बढ़ने लगी और ये मन्दिर के गर्भगृह के शिखर से भी ऊंचे उठने लगे। कुम्भकोणम् के गोपुरम् ने प्रधान मन्दिर को बिलकुल दबा दिया है। गोपुरम् के अतिरिक्त

चोल कला

इनकी दूसरी विशेषता स्तम्भ पंक्तियों वाले विशाल मण्डपों या हालों की थी। मध्य युग के बाद बने मदुरा, श्रीरंगम् और रामेश्वरम् आदि मन्दिरों में इन विशेषताओं का पूर्ण विकास हुआ। उदाहरणार्थ मदुरा के एक मन्दिर का मंडप ९८५ खंभों का है और सब खम्भों पर अद्भुत नक्काशी है।

होयशल कला

१११९ ई० से मैसूर में होयशल यादवों का एक वंश प्रबल हुआ। १२ वीं १३ वीं शती में इन्होंने एक नये प्रकार की वास्तु-कला का विकास किया। संभवत: इन्होने अपने से पहले शासक गंगों की कला-परम्परा को आगे बढ़ाया। गंगों के शासन में ९८३ ई० में एक मन्त्री चामुण्डराय ने श्रवण बेल गोला की पहाड़ी पर अत्यन्त कठोर काले पत्थर के एक ही खण्ड से बनी ५६ फोट ऊंची (६ फुट के आदमी से ९३ गुना) गोमट की प्रतिमा स्थापित की। निर्माण-कौशल की कठिनता और कल्पना की विशालता की दृष्टि से दुनिया की अन्य कोई मूर्ति इसके आगे नहीं टिक सकती।

होयशल राजाओं ने भी अपने वास्तु में इन्हीं विशेषताओं को बनाये रखा। इनके मन्दिर वर्गाकार नहीं, किन्तु तारकाकृति या बहुकोपीय हैं। इनकी दूसरी विशेषता ऊंची कुर्सियां या आधार हैं। इनसे शिल्पियों को मूर्त्तियां बनाने के लिए काफी जगह मिल गई है और इन्होंने इसका पूरा उपयोग किया है। शिखर पिरामिडाकार होते हुए भी काफी नीचा है। इस वास्तु शैली का सर्वोत्तम उदाहरण हालेबिद या दोरसमुद्र का होयसलेश्वर का विख्यात मन्दिर है। यह पांच-छ: फीट ऊंचे चबूतरे पर बना है, चबूतरा बड़े-बड़े शिला-फलकों से पाटा गया है। इन पर ऊपर से नीचे तक ११ अलंकरण पट्टिकायें हैं, ये ७०० फीट लम्बी हैं और समूचे मन्दिर को घेर हुए हैं। इनमें हाथियों, शेरों, घुड़सवारों, दिव्य पशु पक्षियों की मूर्त्तियां उत्कीर्ण हैं। उदाहरणार्थ सबसे निचली अलंकरण-पट्टिका में दो हजार हाथियों का महावतों और झूलों के साथ सफल एवं सुन्दर अंकन है। इनमें कोई भी दो हाथी एक दूसरे से नहीं मिलते। इस मन्दिर के संबन्ध में स्मिथ की यह उक्ति यथार्थ है कि यह देवालय धैर्यशील मानव

जाति के श्रम का अत्यन्त आश्चर्यजनक नमूना है। इसकी सुन्दर कारीगरी के काम को देखते-देखते आंखें तृप्त नहीं होतीं। मैकडानल मत है कि समस्त संसार में शायद दूसरा कोई मन्दिर ऐसा न होगा जिसके बाहरी भाग में इस प्रकार का अद्भुत खुदाई का काम किया गया हो। १३११ ई० में मुस्लिम आक्रमण के कारण यह मन्दिर अधूरा रह गया।

बृहत्तर भारत का वास्तु

इस युग में स्वदेश ही नहीं, विदेशों में बड़े भव्य हिन्दू मन्दिरों का निर्माण हुआ। कम्बोडिया में अंकोरवत् और अंकोरथोम के विशाल एवं भव्य मन्दिर बने। पहला मन्दिर वर्गाकार है और इसका प्रत्येक पार्श्व १ मील लम्बा है। इसकी शैली भारतीय मन्दिरों से बिलकुल भिन्न है। इसमें क्रमशः एक दूसरे से ऊंचे उठते हुए और छोटे होते हुए अनेक खण्ड होते हैं। प्रत्येक खण्ड भक्त को ऐहिक जगत् की क्षुद्रता में से ऊंचा उठाता हुआ उच्च आध्यात्मिकता की ओर लाता है। कम्बुज मन्दिरों की यह उदात्त भव्यता द्रविड़ मन्दिरों के विशाल मण्डपों में और उत्तुंग विमानों तथा गोपुरों में नहीं मिलती। इन मन्दिरों की गैलरियों में पुराणों के दृश्य अंकित हैं। नवीं शती में जावा के एक राजा दक्ष ने प्रांबनन में शिव-क्षेत्र स्थापित कर ब्रह्मा, विष्णु, महेश के मन्दिर बनवाये। इनमें राम और कृष्ण की लीलाएं उत्कीर्ण हैं। भारत में इन विषयों की ऐसी सुन्दर मूर्तियां नहीं बनीं। प्रांबनन में शिव की देवता और ऋषि वेश में दो प्रकार की आकृतियां मिलती हैं। पहली के मुख-मण्डल पर समाधिमग्नता, गांभीर्य और असीम शांति का भाव अलंकृत है, दूसरी में उनका जटाजूट और दाढ़ी बड़ी सुन्दरता से बनी हुई है। १३ वीं शती के जावा की सर्वोत्तम मूर्ति बौद्ध प्रज्ञा पारमिता की है। यह राजा अमुर्व भूमि (१२२०—१२२७) के काल की है। इसके मुख मण्डल की सुकुमारता, सरलता, शांति, प्रसन्नता, श्री और लालित्य वस्तुतः अद्भुत है।

इस युग की मूर्तिकला की कुछ विशेषताएं निम्न हैं। शनैः-शनैः धार्मिक प्रभाव प्रबल होने लगता है, [सौन्दर्य-बुद्धि गौण हो जाती है

प्रज्ञापारमिता (१३वीं श०) [ज० वि० के सौजन्य से

गुप्त युग तक दोनों प्रवृत्तियों में जो सामंजस्य था, वह लुप्त हो जाता है।

मध्य युग की मूर्ति-कला

धार्मिक भावों की अभिव्यक्ति के लिए भीषण तथा कुरूप मूर्तियां भी बनती हैं। देवताओं की सामर्थ्य प्रदर्शित करने के लिए उनके बहुसंख्यक हाथों में अनेक प्रकार के हथियार पकड़ाये जाते हैं, इनका निर्माण शिल्प-शास्त्र की रूढ़ियों के अनुसार होने लगता है। मूर्ति-शिल्प में नवीनता और मौलिकता बिलकुल समाप्त हो जाती है।

उपसंहार

इस ह्रास के होते हुए भी वास्तु-वैभव की दृष्टि से यह काल अविस्मरणीय है। मामल्लपुरम्, कैलास, बोरोबुदुर, अंगकोरवत्, तञ्जौर और हालेबिद हमारी संस्कृति के अमर स्मारक हैं। जातियों की महत्ता का एक मानदण्ड कला-कृतियां भी हैं। इस दृष्टि से प्राचीन भारत का विश्व में बहुत ऊंचा स्थान था। हमारे पूर्वजों ने अविचल श्रद्धा और अनथक परिश्रम से जिन कृतियों की रचना की, उनमें न केवल शिल्प-चातुर्य था; किन्तु लालित्य सुरुचि और सुसंस्कारिता भी थी जो उच्च संस्कृति के प्रधान चिह्न हैं। प्राचीन भारतीय कला भारतीय आदर्शों का सच्चा प्रतिबिम्ब है। उससे यह ज्ञात होता है कि सब प्रकार का ऐश्वर्य उपभोग करते हुए भी भारत में भौतिकता और ऐतिहासिकता के प्रति ही अनुराग न था; किन्तु पारलौकिकता और आध्यात्मिकता की भी तीव्र आकांक्षा थी। उसके सर्वोत्तम युग में इन दोनों का सुन्दर सामंजस्य था। कलाकार उच्चतम आध्यात्मिक भावों की अभिव्यक्ति के लिए विभिन्न कलाओं को सफलता पूर्वक अपना माध्यम बना रहे थे।

तेरहवां अध्याय

प्राचीन शिक्षा-पद्धति

भारत में शिक्षा वैदिक युग से मनुष्य के सर्वांगीण विकास, राष्ट्रीय संस्कृति के संरक्षण तथा जातीय उत्थान के लिए आवश्यक समझी जाती रही है। अथर्ववेद में ब्रह्मचर्य की महिमा के गीत गाये हैं। प्राचीन शास्त्रकारों ने इस प्रकार की अनेक उपयोगी व्यवस्थाएं की थीं, जिनसे राज्य द्वारा अनिवार्य शिक्षा का प्रबन्ध न होने पर भी इसका बहुत अधिक प्रसार हुआ। प्राचीन ऋषियों ने मानव जीवन जिन चार आश्रमों में बांटा था, उनमें पहला ब्रह्मचर्य आश्रम विद्याभ्यास के लिए था। उपनयन संस्कार सब द्विजों के लिए आवश्यक था, निश्चित अवधि तक इसके न करने अर्थात् विद्याभ्यास में शिथिलता दिखाने से उच्चवर्ण व्रात्य या जाति-च्युत समझे जाते थे। शिक्षा के महत्व को सबके चित्त पर भली-भांति अंकित करने के लिए ही स्नातक को पुराने जमाने में राजा से अधिक प्रतिष्ठा दी गई थी। प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्तव्य समझा जाता था कि वह केवल पुत्र को जन्म देकर पितृ ऋण से मुक्त हो; किन्तु उसे शिथिल करके ऋषि ऋण को भी उतारे। हिन्दू शास्त्रकारों ने ज्ञान का प्रसार करने वाले ब्राह्मणों को न केवल नाना प्रकार के दानों का अधिकारी बताया किन्तु उन्हें करों से भी मुक्त कर दिया। राजाओं ने अपने उदार दानों से नालंदा, विक्रमशिला, उदन्त-पुरी प्रभृति शिक्षणालयों के विकास में पूरी सहायता दी, यही कारण था कि प्राचीन काल में जितनी साक्षरता भारत में थी, उतनी उस समय किसी दूसरे देश में नहीं थी। राजा अश्वपति और दशरथ का यह दावा था कि उनके राज्य में कोई अशिक्षित नहीं है। प्राचीन शिक्षा-पद्धति से भारत ने न केवल सैंकड़ों वर्षों तक मौखिक परम्परा द्वारा विशाल वैदिक वाङ्मय को सुरक्षित रखा; किन्तु प्रत्येक युग में दर्शन, न्याय, गणित, ज्योतिष, वैद्यक, रसायन

आदि शास्त्रों में ऐसे मौलिक विचारक विद्वान् उत्पन्न किये, जिनसे भारत का मस्तक आज भी ऊंचा है।

ब्रह्मचर्य-आश्रम और उपनयन संस्कार

प्राचीन काल में ऋषियों ने ब्रह्मचर्य और उपनयन संस्कार की व्याख्या द्वारा समूचे समाज को शिक्षित करने का सराहनीय उद्योग किया था। अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि उस समय तक ब्रह्मचर्य की व्याख्या प्रचलित हो चुकी थी। ब्रह्मचर्य का शब्दार्थ है-वेद का अध्ययन। उस समय सरल एवं तपोमय जीवन बिताते हुए आर्य वेद का स्वाध्याय करते थे। यह समझा जाता था कि ब्रह्मचर्य का पालन स्त्री-पुरुष दोनों के लिए आवश्यक है। ब्रह्मचर्य के तप से ही राजा राष्ट्र की रक्षा करता है, ब्रह्मचर्य से ही कन्या युवा पति को प्राप्त करती है। इसी के तप से देवताओं ने अमृतत्व तथा इन्द्र ने उच्च पद प्राप्त किया था (अथर्व ११। ५—१९)। ये सब उक्तियां ब्रह्मचर्य का गौरव सूचित करती हैं।

ब्रह्मचर्य आश्रम का प्रारम्भ उपनयन संस्कार से होता था। उपनयन का अर्थ है—समीप जाना। इस संस्कार द्वारा बालक गुरु के समीप जाकर, विद्याभ्यास के लिए उसका शिष्य बनता था। उपनयन चिर काल तक ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के लिए अनिवार्य नहीं था, किन्तु वैदिक साहित्य के अध्ययन और संरक्षण के लिए इसे आवश्यक बना दिया गया। ब्राह्मणों, उपनिषदों और सूत्र ग्रन्थों के निर्माण के बाद धार्मिक साहित्य इतना विशाल हो गया कि उसकी रक्षा के लिए समूचे समाज का सहयोग आवश्यक प्रतीत हुआ, अतएव उपनयन संस्कार को तीनों वर्णों के लिए आवश्यक बना दिया गया। इसके न करने पर व्यक्ति समाज से पतित एवं बहिष्कृत समझा जाता था (मनु २।३९)। आज शिक्षा राज्य द्वारा अनिवार्य बनाई जाती है, उस समय धर्म ने इसे आवश्यक बनाया। इसका एक शुभ परिणाम यह हुआ कि आर्य जाति के सब सदस्य थोड़ा-बहुत वैदिक ज्ञान अवश्य प्राप्त करते थे, किन्तु ८०० ई० पू० के बाद वैदिक ज्ञान इतना जटिल हो चुका था कि उसमें

यत्किंचित् प्रवेश के लिए भी प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य थी। अतः यह माना जा सकता है कि उपनयन आवश्यक हो जाने के बाद आर्य जाति में साक्षरता बहुत बढ़ी होगी। उस समय संभवतः सौ फी सदी तक व्यक्ति साक्षर होंगे। किसी भी अन्य प्राचीन जाति ने शिक्षा के क्षेत्र में इतनी प्रगति नहीं की। पश्चिमी सभ्यता के मूल स्रोत यूनान में यह अवस्था थी कि एथेन्स में दस फी सदी और स्पार्टा में ४ प्रतिशतक व्यक्ति ही शिक्षा पाते थे। यह बड़े दुःख की बात है कि परवर्ती शास्त्रकारों ने ५००-६०० ई० के बाद यह सिद्धान्त चलाया कि कलियुग में कोई क्षत्रिय और वैश्य वर्ण नहीं होते, इससे इन दोनों वर्णों का उपनयन बन्द हो गया और साक्षरता बहुत कम हो गई।

उपनयन संस्कार के बाद ब्रह्मचारी गुरू से विद्याध्ययन करता था।

ब्रह्मचर्य के नियम

विद्याध्ययन-काल में ब्रह्मचारी को अनेक आवश्यक नियमों का पालन करना पड़ता था। प्राचीन शिक्षा पद्धति का आदर्श सादा जीवन और उच्च विचार था, अतः सभी नियम इसी को ध्यान में रखकर बनाये गए थे। उनका भोजन सादा होता था, मांस-मदिरा का सेवन वर्जित था, पोशाक में भी सादगी थी, जूते और खाट का उपयोग वर्जित था। किन्तु शास्त्रकारों का यह आशय नहीं था कि स्वास्थ्य को हानि पहुंचाते हुए इन व्रतों का पालन किया जाय। जातक साहित्य में ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है, जिनमें ब्रह्मचारी बनारस और तक्षशिला की भीषण गर्मी में जूते और छाते का प्रयोग करते हैं। ब्रह्मचर्यावस्था शारीरिक विकास और वृद्धि का काल था, इसलिए शास्त्रकारों ने यह व्यवस्था की थी कि ब्रह्मचारी तपस्या से अपने जीवन को कृश न बनाये, किन्तु जितना खा सकता हो, खाय। ब्रह्मचर्य के नियमों में संयम और सदाचार के पहलू पर बहुत बल दिया जाता था। इसी का परिणाम यह हुआ कि ब्रह्मचर्य शब्द अपने वास्तविक अर्थ वेदाध्ययन की अपेक्षा संयत जीवन को सूचित करने लगा। ऋषियों का यह मत था कि आमोद-प्रमोद से विद्याभ्यास में बाधा पड़ती है।

कई स्मृतियों में यह व्यवस्था मिलती है कि ब्रह्मचारी प्रतिदिन अपने लिए गांव से भिक्षा मांगकर लाय। अथर्ववेद में भिक्षा चरण (११।५।९) का स्पष्ट उल्लेख है। किन्तु यह शास्त्रकारों का आदर्श ही प्रतीत होता है, वास्तविक स्थिति ऐसी नहीं थी। तक्षशिला के ब्रह्मचारी अपने गुरुओं के घरों में बड़ी आयु के पुत्रों के समान रहते थे। नालन्दा, वलभी, तक्षशिला-जैसे बड़े विश्वविद्यालयों में, जहां हजारों विद्यार्थी पढ़ते थे, भिक्षा-वृत्ति संभव ही नहीं थी। इन सब स्थानों पर संभवतः बड़े भण्डारों में खाने का प्रबन्ध होता था। नालन्दा की खुदाई में कुछ बड़ी भट्टियां मिली हैं। युआंग-च्यांग ने लिखा है कि भारतीय विद्वानों के गम्भीर पाण्डित्य का एक कारण यह भी है कि उन्हें भोजन, वस्त्र तथा दवाई की चिन्ता नहीं करनी पड़ती। दक्षिण के कुछ पुराने अभिलेखों में इस बात का स्पष्ट रूप से उल्लेख है कि यहां विद्यालयों में लोगों के दिये दान से छात्रों के भोजन की व्यवस्था की जाती थी। ऐसा प्रतीत होता है कि भिक्षा केवल अत्यन्त निर्धन छात्र ही मांगा करते थे। भिक्षा के नियम का उद्देश्य ब्रह्मचारी को नम्र बनाना तथा इस बात का ज्ञान कराना था कि वह समाज की सहायता और सहानुभूति से ज्ञान प्राप्त कर रहा है, उसे उसके प्रति अपने कर्तव्य में जागरूक रहना चाहिए। भिक्षा के नियम का एक बड़ा लाभ यह था कि इससे निर्धन और धनी दोनों शिक्षा प्राप्त कर सकते थे। भिक्षा की व्यवस्था समाज को भी इस कर्तव्य का बोध कराती थी कि नई पीढ़ी की शिक्षा के लिए उसे यत्न करना चाहिए। ब्रह्मचारी प्राचीन संस्कृति का संरक्षक तथा उसे आगे बढ़ाने वाला था, इससे समाज को लाभ था, अतः हिन्दू शास्त्रकारों ने ब्रह्मचारी को भिक्षा देना सब गृहस्थों का आवश्यक कर्तव्य निर्धारित किया था और ब्रह्मचारी पर भी यह बन्धन लगाया था कि वह अपनी आवश्यकता से अधिक भिक्षा नहीं लेगा, यदि वह ऐसा करता है तो चोरी का महापाप करता है।

भिक्षा-वृत्ति

ब्रह्मचारी शिक्षा-काल में प्रायः गुरू के पास रहते थे, इसीलिए उन्हें

अन्तेवासी कहा जाता था। शिक्षा समाप्त करने पर जब वे लौटने थे तो उनका 'समावर्तन' होता था। गुरू के घर में विद्यार्थियों को

गुरुकुल-पद्धति

को भेजना कई कारणों श्रेयस्कर समझा जाता था। गुरू वैयक्तिक देख-रेख में शिक्षा अच्छी होती थी, बनारस के राजा यह समझते थे कि इससे राजपुत्रों का अहंकार भंग होता है, वे आत्म-निर्भर रहते हैं। दुनिया का अच्छा ज्ञान प्राप्त करते हैं। गुरुकुलों में प्रायः विद्यार्थी प्रारम्भिक शिक्षा के बाद उच्च शिक्षा के लिए ही भेजे जाते थे। तक्षशिला में जाने वाले विद्यार्थियों की आयु कई जातकों में स्पष्ट रूप से १६ वर्ष बताई गई है।

प्राचीन गुरुकुलों के सम्बन्ध में यह लोक-प्रचलित धारणा सर्वांश में सत्य नहीं प्रतीत होती कि वे शहरों से दूर जंगलों में होते थे। इसमें कोई संदेह नहीं कि वाल्मीकि, कण्व सांदीपनी आदि मुनियों के आश्रम वनों में थे। किन्तु ऐसे तपोवनों की संख्या बहुत कम थी। अधिकांश गुरुकुल और शिक्षा-केन्द्र शहरों और गांवों में ही थे। तक्षशिला के गुरू और छात्र गान्धार की राजधानी में ही रहते थे। स्मृतियों में यह कहा गया है कि जब गांव में मृत्यु हो या चोर आया तो अनध्याय हो। यदि गुरुकुल जंगलों में हो तो गांव के उपद्रवों के कारण अध्ययन बन्द करने की कोई आवश्यकता नहीं थी।

प्राचीन शिक्षा-पद्धति की एक बड़ी विशेषता गुरू और शिष्य का सुमधुर पारिवारिक सम्बन्ध था। शिष्य गुरू के घर पर

गुरू और शिष्य के सम्बन्ध

जाकर उसके परिवार का सदस्य बनकर रहता था। गुरू अपने पुत्र की तरह उसका पालन करता था। भगवान् बुद्ध ने कहा था। 'गुरु को चाहिए कि वह शिष्य को पुत्र समझे और शिष्य को उचित है कि वह गुरू को पिता। प्रायः गुरुओं के पास १०-१५ शिष्य होते थे और वे न केवल इनके अध्ययन, किन्तु खान-पान और चिकित्सा की पूरी चिन्ता करते थे। भगवान् बुद्ध ने उपाध्याय के लिए यह नियम बनवाया था कि वे अपने शिष्यों की देख-भाल, उनके वस्त्रों का तथा भिक्षा-पात्र आदि का ध्यान रखें। सातवीं शती में भारत आने वाले

चीनी यात्री इत्सिंग के विवरण से यह ज्ञात होता है कि वे इस नियम का पूरा पालन करते थे। जब शिष्य बीमार पड़ते थे, तो गुरू उनकी परिचर्या भी किया करते थे।

इसके साथ ही, शिष्यों का प्रधान कर्तव्य गुरू की देवता की तरह प्रतिष्ठा और आराधना करना था। गीता के अनुसार गुरू के प्रति नम्रता और सेवा से ज्ञान प्राप्त होता है। यह कहा जाता था कि शिष्य को पुत्र, दास और प्रार्थी की भांति गुरू की सेवा करनी चाहिए। उसे गुरू को दातुन और नहाने के लिए जल देना उचित है, आवश्यकता पड़ने पर झूठे बर्तन मांजने तथा कपड़े धोने का भी काम करना चाहिए। गुरू के घर के लिए वह जंगल से ईंधन लाता और पशुओं की देख-भाल करता था। कृष्ण और सुदामा ने अपने गुरू सांदीपनी ऋषि की इसी प्रकार सेवा की थी। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि गुरू शिष्यों से इस प्रकार का कोई कार्य नहीं ले सकता जिससे शिष्यों के अध्ययन मे बाधा पड़े। (आप. ध. स. १ । २ । ८) यदि गुरू का कार्य करते हुए किसी शिष्य की मृत्यु हो जाय तो उसे बड़ा कठोर प्रायश्चित्त करना पड़ता था (वै० अ० सू० २ । १ । २७)

शिक्षा की फीस

उस समय शिक्षा निःशुल्क नहीं होती थी। धनी और समर्थ शिष्य शिक्षा प्रारम्भ होने से पहले या बाद में गुरू-दक्षिणा के रूप में गुरू को शिक्षा-शुल्क देते थे और निर्धन विद्यार्थी अपनी सेवा द्वारा फीस अदा करते थे। जातकों में हम छात्रों द्वारा तक्षशिला मे गुरुओं को पहले फीस देने का स्पष्ट उल्लेख पाते हैं। एक जातक (सं०२५२) में बनारस से आये छात्र से गुरू पूछता है कि "क्या तुम गुरू की फीस लाये हो या मेरे से पढ़ने के बदले मेरी सेवा करना चाहते हो।" जो शिष्य गुरू की सेवा करके पढ़ते थे, उनके लिए शिक्षक रात को विशेष श्रेणियां लगाते थे, क्योंकि वे दिन में उनके काम में लगे रहते थे। फीस पहले देने के अतिरिक्त अन्त में गुरू-दक्षिणा के रूप में भी कुछ देने का रिवाज था। कई बार गुरू इतनी अधिक दक्षिणा मांगते थे कि शिष्य उसे अन्य व्यक्तियों से मांगकर पूरा करते थे। कौत्स ने अपने गुरू

वरतन्तु को १४ करोड़ की दक्षिणा महाराज रघु से याचना करके दी थी। प्राचीन शिक्षा-पद्धति की यह एक बड़ी विशेषता थी कि कोई ज्ञान-पिपासु उससे वंचित नहीं रह सकता था। गुरू सामान्य रूप से किसी शिष्य को ज्ञान देने से इन्कार नहीं कर सकता था। यदि कोई गुरू किसी शिष्य को ज्ञान-प्राप्ति के लिए आने पर एक वर्ष तक नहीं पढ़ाता था तो यह माना जाता था कि शिष्य के सब पाप गुरू को लगते हैं। छात्र की निर्धनता का बहाना करके वह उसे नहीं टरका सकता था; क्योंकि छात्र सदैव गुरू की सेवा करने के लिए तैयार रहता था।

शिक्षा-काल

पुराने जमाने में शिक्षा का सत्र श्रावणी (अगस्त) से प्रारम्भ होता था तथा पौष या माघ (फर्वरी-मार्च) में समाप्त हो जाता है। प्रारम्भ में यह छः महीने का था, विद्याओं तथा विज्ञानों की वृद्धि से यह बड़ा होने लगा। उन दिनों आजकल की भांति प्रतिवर्ष गर्मियों की छुट्टियां नहीं होती थीं। किन्तु उस समय के विद्यार्थी भी अनध्याय-प्रिय थे और प्रति मास दर्श, पौर्णमास तथा दो अष्टमियों के चार अवकाशों के अतिरिक्त आकाश मेघाच्छन्न होने, बिजली कड़कने, मूसलाधार पानी, आंधी, पाला पड़ने पर भी छुट्टी मिल जाती थी। ये अवकाश उस समय की स्मृति कराते हैं जब गुरू-शिष्य झोंपड़ियां में रहते थे और प्रबल ऋतु-परिवर्तनों में अध्ययन जारी रखना असंभव हो जाता था शिक्षा-काल सामान्य रूप से १२ वर्ष का था। यह एक वेद के लिए पर्याप्त समझा जाता था। सामान्यतः उच्च शिक्षा १२ वर्ष की अवस्था में प्रारम्भ हो २४ वर्ष की आयु में समाप्त हो जाती थी। चारों वेदों के लिए ४८ वर्ष का ब्रह्मचर्य रखा जाता था; किन्तु शास्त्रकार इसे उत्तम नहीं समझते थे।

पाठ्य विषय

नवीन विद्याओं और विज्ञानों के विकास के अनुसार प्राचीन शिक्षा-पद्धति के पाठ्य विषयों में समयानुकूल परिवर्तन होते रहे। आरम्भिक वैदिक युग (२००० ई० पू०) तक मुख्य पाठ्य विषय वेद-मंत्र, इतिहास, पुराण और नाराशंसी गाथाएं (वीर पुरुषों के चरित्र) थे। पिछले वैदिक और ब्राह्मण

युग (२००० ई० पू०—१००० ई० पू०) वेद की व्याख्याओं और यज्ञीय प्रक्रियाओं की जटिलता में वृद्धि हुई, ब्राह्मण-ग्रन्थ लिखे गए और इन्हें भी पाठ्य-क्रम में स्थान मिला। उपनिषद् और सूत्र युग (१००० ई० —१ ई०) तक मे वेद के विविध अंगों व्याकरण, शिक्षा (उच्चारण विज्ञान) कल्प, ज्योतिष, छन्द, निरुक्त के विकास के अतिरिक्त अनेक प्रकार के शिल्पों तथा उपयोगी विज्ञानों का आविर्भाव हो चुका था। विद्यार्थी केवल वैदिक विषयों का ही अध्ययन नहीं करते थे, अपितु लौकिक विज्ञानों मे भी पारंगत होते थे। उस समय के विषयों का परिचय छान्दोग्योपनिषद् के एक संदर्भ से मिलता है (७। १।२) इसमें दर्शन की उच्च शिक्षा पाने के लिए सनत्कुमार के पास आये। नारद ने कहा है—भगवान् मैंने वेद वेदाङ्ग के अतिरिक्त इतिहास, पुराण, गणित (राशि) ज्योतिष, नक्षत्र विद्या, सर्प विद्या, दैव (भूकम्प, वायु-कोप आदि प्राकृतिक भूगोल अथवा भविष्यत्कथन की विद्या) निधि (खनिज विद्या अथवा गड़े खजाने पता लगाने का विज्ञान) वाकोवाक्य (तर्क शास्त्र), ब्रह्म विद्या, भूत विद्या (प्राणिशास्त्र), राजशासन विद्या (सैनिक विज्ञान तथा राज शास्त्र) एकायन विद्या (नीति शास्त्र) का अध्ययन किया है। उस समय के सभी छात्र नारद की भांति मेधावी हों, तथा सब विषयों का अध्ययन करते हैं। सो बात नहीं किन्तु ऐसा अवश्य जान पड़ता है कि उस समय शिक्षा-पद्धति में साहित्यिक एवं उपयोगी दोनों प्रकारों के विज्ञानों का सुन्दर सम्मिश्रण हुआ था। जातकों से यह ज्ञात होता है कि तक्षशिला में क्षत्रिय और ब्राह्मण युवक तीनों वेदों और अठारह शिल्पों का अभ्यास करते थे। इन शिल्पों में धनुर्विद्या, वैदिक, जादू, सर्पविद्या, गणित, कृषि, पशु-पालन, व्यापार आदि का समावेश होता था। इस युग में भारत ने दर्शन, साहित्य ज्योतिष, धर्म शास्त्र, काय-चिकित्सा, शल्य चिकित्सा, मूर्ति तथा भवन तथा पोत-निर्माण विद्या में बड़ी उन्नति की। इस समय बौद्ध और जैन साहित्य का विकास हुआ। वैदिक साहित्य में पद, धन और जटा पाठ का आविर्भाव हुआ। इन दिनों वेदों की लोकप्रियता घट रही थी, अतः ब्राह्मणों

में केवल १५% ही वैदिक विषयों का स्वाध्याय करते थे। अधिकांश विद्वानों का ध्यान नव विकसित विद्याओं—व्याकरण, न्याय, उपनिषद्, दर्शन और धर्मशास्त्र की ओर था। १ ई०–१२०० तक के स्मृति, पुराणों और निबन्ध ग्रन्थों के युग में वेदों का महत्त्व बहुत कम हो गया। चीनी यात्रियों के विवरण इस समय के विद्यालयों और महाविद्यालयों के पाठ्य-क्रम पर सुन्दर प्रकाश डालते हैं, जिनमें वैदिक विषयों से भिन्न लौकिक विषय पढ़ाये जाते थे।

इत्सिग के कथनानुसार ६ वर्ष की आयु में विद्यार्थी वर्णमाला सीखना शुरू करते हैं, इस में छः महीने लगते थे। अगले वर्ष संभवतः गणित पढ़ाया जाता था। नवें वर्ष से १२ वर्ष तक पाणिनीय अष्टाध्यायी और उणादि सूत्रों का स्वाध्याय कराया जाता था। १३। १४। वर्ष की आयु में विद्यार्थी क्या पढ़ते थे, इत्सिग इस विषय में मौन है, सम्भवतः उन्हें काव्य, साहित्य और कोष का ज्ञान कराया जाता था। १५ वें वर्ष से विद्यार्थी उच्च शिक्षा की संस्थाओं में कुछ विषयों का विशेष अध्ययन करते थे। विशेष अध्ययन के विषय व्याकरण, तर्क-शास्त्र, दर्शन, वैद्यक, फलित एवं गणित ज्योतिष थे। इनमें सबसे अधिक लोकप्रिय विषय व्याकरण था। व्याकरण का उच्च पाठ्य-क्रम पांच वर्ष का होता था और इसके प्रधान पाठ्य ग्रन्थ काशिका और पातंजल महाभाष्य थे। अलबेरुनी के ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि ११ वीं शती में भी सबसे अधिक लोकप्रियता व्याकरण को प्राप्त थी। इनके अतिरिक्त पुराणों और नाटकों का भी अध्ययन होता होगा, चीनी यात्रियों ने इनका उल्लेख नहीं दिया।

पाठ्य-प्रणाली

प्राचीन काल में पाठ्य-प्रणाली प्रधान रूप से गुरु मुख से पाठ-श्रवण करने तथा उसके सामने उसे दोहराने तथा प्रश्न पूछकर ज्ञान प्राप्त करने की थी। इसका कारण यह था कि वेद उस समय लिखित रूप में नहीं थे। लेखन-कला से भली भांति परिचित होने पर भी भारतीयों ने वेदों को कई कारणों से लिपिबद्ध नहीं किया। ऐसा होने से भगवती श्रुति के अपवित्र

हाथों में पड़ने की आशंका थी, लिपिकारों के अज्ञान और प्रमाद से वेद के स्वरों और वर्णों के दूषित ढंग से लिखे जाने की संभावना थी। आठवीं, नवीं शती में कश्मीरी पण्डित बसुक्र ने पहली बार वेदों को लेखबद्ध करने का साहस किया। उस समय तक शिक्षा मौखिक ही होती थी। गुरू एक-एक विद्यार्थी को अलग पढ़ाता, उसका पाठ सुनता और गलतियां ठीक करता था। इस पद्धति से कई लाभ थे। गुरू सब विद्यार्थियों पर वैयक्तिक ध्यान देता था, इसका अभाव वर्तमान शिक्षा पद्धति की सबसे बड़ी कमी है। पुरानी पद्धति में पुस्तकीय शिक्षा पर बल न होने से विद्यार्थी प्रत्येक विषय को खूब सोच-समझकर याद करता था। यह कहना गलत है कि उस समय की शिक्षा-पद्धति में रटना और घोटना ही प्रधान था। यास्काचार्य और सुश्रुत ने घोटने की घोर निन्दा की है, सुश्रुत के रटने वाले छात्र की उस गधे से तुलना की गई है जो अपने पर बोझ को तो अनुभव करता है किन्तु यह नहीं जानता कि वह किस वस्तु का बोझ है। वेद का अध्ययन वेद मन्त्रों की व्याख्या के साथ होता था। समूचा ब्राह्मण-साहित्य इसी प्रकार की रचना है। भारतीय विद्वान् धर्म-ग्रन्थों के व्याख्या-कौशल के लिए जगत्प्रसिद्ध थे। इसीलिए चीनी यात्रियों ने उनकी मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। इत्सिंग ने लिखा है कि मैं इस बात से सदैव बड़ा प्रसन्न हूँ कि मुझे भारतीय पण्डितों के चरणों में बैठकर वह ज्ञान प्राप्त करने का सौभाग्य मिला है, जो अन्यथा नहीं प्राप्त हो सकता था।" युवान च्वांग ने भारतीय पण्डितों की विशेष प्रशंसा इस दृष्टि से की है कि वे अस्पष्ट स्थलों की सुन्दर व्याख्या करते हैं। प्राचीन पाठ्य-पद्धति की यह बड़ी खूबी थी कि वह समझकर ग्रन्थ कण्ठस्थ करने पर बल देती थी। उस पद्धति से पढ़े व्यक्तियों का पाण्डित्य बड़ा गम्भीर होता था। वर्तमान काल की विद्वत्ता पुस्तकालयों में रखे विश्व-कोशों में है, प्राचीन पण्डित अपने छात्रों को चलता-फिरता विश्व कोश बनाने का प्रयत्न करते थे।

इस प्रकार की पाठ्य-पद्धति में गुरू अधिक छात्रों को नहीं पढ़ा सकता

था। सामान्य रूप से तक्षशिला और नालन्दा में एक गुरू के पास १५-२० से अधिक छात्र नहीं होते थे। गुरू उन विद्यार्थियों पर पूरा ध्यान देता था। प्रत्येक विद्यार्थी को पिछला पाठ सुनाने पर उसकी योग्यता के अनुसार अगला पाठ दिया जाता था। गुरू शिक्षण-कार्य में बड़े विद्यार्थियों का भी उपयोग करता था। महा सुत सोमजातक के अनुसार कुरुदेश के एक राजपुत्र ने अन्य छात्रों की अपेक्षा पहले विद्या में प्रवीणता प्राप्त कर ली, उसे अपने छोटे भाई की शिक्षा का काम सौंप दिया गया, गुरु की अनुपस्थिति में बड़े छात्र उसके अभाव की पूर्ति करते थे। उससे एक ओर जहां बड़े विद्यार्थियों को क्रियात्मक अनुभव मिलता था, वहां दूसरी ओर इन छात्रों द्वारा निःशुल्क शिक्षण से शिक्षा का व्यय भी कम होता था।

शिक्षा प्रश्न तथा वार्तालाप की पद्धति से दी जाती थी। उपनिषदों में ब्रह्म विद्या के गूढ़ तत्वों का इसी तरह उपदेश दिया गया है। भगवान् बुद्ध की उपदेश-शैली भी इसी प्रकार की थी। इसका बड़ा लाभ यह था कि शिक्षा के समय शिष्य को उसमें पूरा मनोयोग देना पड़ता था, उसमें विचार और विश्लेषण की शक्ति विकसित होती थी। आवश्यक विषयों पर गुरू तथा शिष्यों में वाद-विवाद होते थे। इनसे उनमें वाक्पटुता, चिन्तन, निरीक्षण, तुलना आदि अनेक मानसिक शक्तियां प्रस्फुटित एवं पुष्ट होती थीं। वर्तमान शिक्षा-पद्धति में विद्यार्थी प्रायः निष्क्रिय रूप से अध्यापकों के व्याख्यान सुनता है। अतः उसका उचित मानसिक विकास नहीं हो पाता।

परीक्षाएं और उपाधियां

प्राचीन भारत में न तो वर्तमान शिक्षा पद्धति प्रचलित थी और न ही शिक्षा-समाप्ति के बाद कोई उपाधियां दी जाती थीं। उस समय गुरू प्रतिदिन नया पाठ पढ़ाने से पहले इस बात की काफी कड़ी मौखिक परीक्षा ले लेता था कि शिष्य को पिछला पाठ भली भांति स्मरण हो चुका है या नहीं, ऐसा न होने पर अगला पाठ नहीं दिया जाता था। अतः उस पद्धति में दैनिक परीक्षा होने के कारण वार्षिक परीक्षा की आवश्यकता ही नहीं थी। शिक्षा-समाप्ति के बाद समावर्तन से पहले कई

बार शिष्यों को विद्वत्परिषद् में उपस्थित किया जाता था और उनसे कुछ प्रश्न पूछे जाते थे। राजशेखर और चरक ने राज-दरबारों में शास्त्रार्थों द्वारा होने वाली परीक्षाओं का उल्लेख किया है किन्तु ये वर्तमान परीक्षाओं से सर्वथा भिन्न हैं। आधुनिक परीक्षाओं में न्यूनतम उत्तीर्णांक लेकर विद्यार्थी पास हो जाते हैं किन्तु पुराने शास्त्रार्थों में अधिकतम विद्वत्ता और पाण्डित्य दिखाने वाला ही पास हो सकता था। ये प्रायः विशेष अवसरों पर होते थे, सामान्य रूप से इनका प्रचलन नहीं था। परीक्षाएं न होने के कारण, उस समय कोई उपाधियां भी नहीं दी जाती थीं। युआन च्वांग ने लिखा है कि सातवीं शती में कुछ लोग अधिक सम्मान पाने के लिए यह कहा करते कि वे नालन्दा के पढ़े हुए हैं। नालन्दा में उपाधियां न दी जाने से ही उन्हें ऐसी धूर्तता का मौका मिलता था। मध्य युग के अन्तिम भाग में विक्रमशिला विश्वविद्यालय के संरक्षक पालराजा समावर्तन के समय विद्यार्थियों को उपाधियां देते थे, मध्यकालीन बंगाल में कुछ विद्वत्परिषदें गदाधर जगदीश-जैसे प्रकांड विद्वानों को तर्कचक्रवर्ती, तर्कालंकार की प्रतिष्ठित पदवियां देती थीं; किन्तु यह पद्धति प्राचीन नहीं थी।

परीक्षाओं और उपाधियों के न होने से वर्तमान काल के विद्यार्थियों को यह नहीं समझना चाहिए कि प्राचीन काल का शिष्य उसकी अपेक्षा अधिक सौभाग्यशाली था। आजकल का छात्र परीक्षा से पहले सब-कुछ रट-कर और परीक्षा-भवन में उसे उगलकर पास हो जाता है और फिर उपाधि प्राप्त करके अपना सारा पढ़ा-लिखा भुला सकता है। जब तक उसके पास उपाधि का प्रमाण-पत्र है, उसकी योग्यता में कोई संदेह नहीं कर सकता। किन्तु पुराने विद्यार्थी को न केवल प्रतिदिन गुरु को कड़ी परीक्षा देनी पड़ती थी, किन्तु विद्याभ्यास के बाद भी अपने ज्ञान को अक्षुण्ण ही नहीं किन्तु नवीनतम खोजों से समृद्ध बनाये रखना पड़ता था। उसे सदैव सारी विद्या कंठस्थ रखनी पड़ती थी। किसी भी समय उसे शास्त्रार्थ के लिए बुलाया जा सकता था और उस समय की योग्यता की परीक्षा वाद-विवाद से होती थी। वह अपनी उपाधि के बल पर तथा नोटबुकों द्वारा वर्तमान

विद्यार्थी की भाँति उस अग्नि-परीक्षा से नहीं बच सकता था।

शिक्षा-संस्थाएं

प्राचीन भारत में पांचवीं-छठी शती ई. तक शिक्षा प्रदान करने के लिए समाज या राज्य की ओर से वर्तमान काल की भांति सुसंघटित शिक्षा-संस्थाएं नहीं थीं। गुरू वैयक्तिक रूप से स्वयमेव शिष्यों को शिक्षा दिया करते थे। संघटित शिक्षा संस्थाओं का विकास सर्वप्रथम बौद्ध विद्वानों ने किया। इनमें पहले भिक्षु-भिक्षुणियों को तथा बाद में सर्व-साधारण जनता को व्यवस्थित रूप से शिक्षा दी जाने लगी। नालन्दा इस प्रकार का पहला विश्वविद्यालय था। सभवतः इसके अनुकरण में हिन्दू मन्दिरों के साथ शिक्षा-संस्थाओं का विकास हुआ। बौद्ध विहार लगभग ५०० ई० से शिक्षा का कार्य आरम्भ कर देते हैं, किन्तु हिन्दू मन्दिरों के उच्च शिक्षा का केन्द्र बनने के निश्चित प्रमाण १० वीं शती से मिलते हैं।

प्राचीन भारत में प्रधान रूप से पांच प्रकार के शिक्षा-केन्द्र थे राजधानियाँ, तीर्थ, विहार, मन्दिर तथा अग्रहार ग्राम राजा लोग प्रायः विद्वानों के संरक्षक होते थे, दूर-दूर से बड़े-बड़े विद्वान् उनके दरबारों मे आते थे, राजधानी में रहते थे, उनसे लाभ उठाने के लिए विद्यार्थी आते थे और राजधानियां शिक्षा-केन्द्र बन जाती थी। तक्षशिला, बनारस, कन्नौज, मिथिला, धारा, उज्जयिनी, पैठन, मालखेर, कल्याणी इसी प्रकार के केन्द्र थे। तीर्थ प्राचीन काल से विद्वान् ब्राह्मणों के केन्द्र रहे हैं। बनारस, कांची, नासिक इन्हीं पण्डितों के कारण प्रमुख शिक्षा-स्थान बने। भगवान् बुद्ध ने बौद्ध विहारों में नये भिक्षुओं को बौद्ध धर्म की शिक्षा देने के लिए १० वर्ष की अवधि नियत की थी। पहले इनका शिक्षण-कार्य भिक्षुओं तक सीमित था बाद में साधारण जनता इनसे लाभ उठाने लगी। बौद्ध विहारों की भांति जब हिन्दू मन्दिरों को बड़े-बड़े दान मिलने लगे तो उनका कुछ भाग शिक्षा के लिए सुरक्षित रखा जाने लगा। हिन्दू मन्दिर न केवल हिन्दू धर्म, संस्कृति और सभ्यता के अपितु हिंदू शास्त्रों के शिक्षण का भी केन्द्र बने। पहले बताया जा चुका है कि हिन्दू मन्दिरों द्वारा शिक्षण कार्य के निश्चित प्रमाण

दसवीं श० ई० से मिलते हैं। किन्तु यह संभव है कि मन्दिरों ने यह कार्य काफी पहले शुरू कर दिया हो। पुराने जमाने में प्रतिदिन सब विद्वान् ब्राह्मण-कुलों को अपने निर्वाह तथा छः प्रकार के शास्त्र प्रतिपादित कर्तव्यों को पूरा करने के लिए जो गाँव दान में दिये जाते थे, वे अग्रहार कहलाते थे। ब्राह्मणों का एक कर्तव्य अध्यापन भी था, अतः सर्वज्ञपुर (हसन जिले के अर्सिकेरी) तथा राष्ट्रकूट राज्य का कादिपूर (आधुनिक कलस) निश्चित रूप से शिक्षण-कार्य में लगे अग्रहार गांव थे। सारे देश में बिखरे हुए ऐसे सैकड़ों गांव ज्ञान-प्रसार के पुनीत कार्य में लगे हुए थे।

प्रसिद्ध विश्वविद्यालय

तक्षशिला

प्राचीन भारतवर्ष का सबसे पुराना और प्रसिद्धतम शिक्षा-केन्द्र तक्षशिला था। रामायण के वर्णनानुसार भरत ने उसकी स्थापना की थी और अपने पुत्र तक्ष को उसका पहला शासक बनाया था। महाभारत में जनमेजय का नागयज्ञ इसी स्थान पर होने का वर्णन है (१।३।२०)। रामायण और महाभारत में इसके प्रसिद्ध शिक्षा-केन्द्र होने का उल्लेख नहीं, किन्तु सातवीं श० ई० तक यह स्थान विद्यापीठ के रूप में इतना प्रसिद्ध हो चुका था कि राजगृह बनारस और मिथिला-जैसे दूरवर्ती स्थानों से छात्र यहां पढ़ने आने लगे थे। तक्षशिला पर विदेशी आक्रमण होते रहे और ऐसा प्रतीत होता है कि उनसे उसे काफी क्षति पहुंची। इस प्रदेश पर छठी श० ई० पू० में ईरानियों, दूसरी श० ई० पू० हिन्दू बाख्त्री, पहली श० ई० पू० में शकों, पहली श० ई० पू० में कुशाणों तथा पांचवीं शती के अन्त में हूणों के प्रबल आक्रमण हुए। फाहियान को पांचवीं शती के प्रारम्भ में शिक्षा की दृष्टि से यह स्थान महत्त्वपूर्ण नहीं प्रतीत हुआ। उस समय तक यह विद्यापीठ समाप्त हो चुका था।

तक्षशिला आधुनिक काल के बड़े कालिज या विश्वविद्यालयों की भांति संघटित विद्यापीठ नहीं था। न तो उसके शिक्षक किसी केन्द्रीय नियन्त्रण

में थे, न वहां का पाठ्य-क्रम और शिक्षा-काल निश्चित था। वहां कोई परीक्षाएं में नहीं होती थीं और न ही कोई उपाधियां दी जाती थीं। यह केवल एक प्रसिद्ध शिक्षा-केन्द्र था, जहां अनेक प्रसिद्ध विद्वान् रहते थे। ये किसी कालिज से सम्बद्ध या उसके वेतनभोगी शिक्षक नहीं, किन्तु स्वतंत्र थे। इनकी कीर्ति आकृष्ट होकर भारत के सभी प्रान्तों से विद्यार्थी आते थे, इनके घर में रहते हुए इनके चरणों में बैठकर शिक्षा ग्रहण करते थे। यद्यपि जातकों में किसी गुरू के पास ५०० से कम छात्रों का वर्णन नहीं, किन्तु वास्तव में ये प्राय. १५–२० से अधिक नहीं होते थे। इनमें फीस देने वाले छात्र गुरू के घर में पुत्रों के समान रहते थे और निर्धन छात्र दिन-भर गुरू का काम करके रात को उससे पढ़ते थे। प्रत्येक गुरू का अपना स्वतंत्र कालिज था, उसका कोर्स भी उसकी इच्छा पर अवलम्बित होता था और विद्यार्थी जो विषय पढ़ने के लिए उत्सुक होते थे, वही उन्हें पढाया जाता था। शिक्षा-काल की कोई अवधि निश्चित नहीं थी। भगवान् बुद्ध के चिकित्सक जीवक को वहां पढ़ते हुए जब सात वर्ष बीत गए तो गुरू से अनुमति प्राप्त करके वह राज–गृह लौट आया। यद्यपि उस समय गुरू ने उसकी द्रव्यगुण की क्रियात्मक परीक्षा ली, किन्तु वह आजकल की परीक्षाओं से भिन्न थी।

तक्षशिला साहित्यिक एवं उपयोगी दोनों प्रकार की कलाओं का शिक्षा-केन्द्र था, वहां 'तीनों' वेदों तथा १८ शिल्पों की शिक्षा दी जाती थी। शिल्पों में वैद्यक और धनुर्विद्या प्रधान थे। वैद्यक की शिक्षा बहुत उच्च-कोटि की थी, जीवक ने वहां से शिक्षा ग्रहण करने के बाद पेट और सिर के जो आपरेशन किये हैं, उन्हें आजकल के बहुत कम शल्य–चिकित्सक कर सकते हैं। धनुर्विद्या के एक 'जगत्प्रसिद्ध' आचार्य से देश के विभिन्न भागों से आये हुए १०३ राजपुत्र शिक्षा ग्रहण करते थे। तक्षशिला में प्रायः विद्यार्थी १५–१६ वर्ष की आयु में जाते थे और छः से आठ वर्ष तक वहां अध्ययन कर घर लौट आते थे। बनारस के राजा अपने राजपुत्रों को शिक्षा के लिए तक्षशिला में ही भेजते थे। कौशलराज प्रसेनजित् ने भी

यहीं शिक्षा पाई थी। पाणिनि अटक के पास शालातुर गांव के रहने वाले थे। संभवतः वे यहां के विद्यार्थी और बाद में गुरू रहे होंगे। कुछ जनश्रुतियों के अनुसार, चाणक्य यहीं के आचार्य थे।

नालन्दा

प्राचीन काल का दूसरा सर्व प्रसिद्ध विश्वविद्यालय नालन्दा पटना के दक्षिण पश्चिम में ४० मील की दूरी पर आधुनिक बड़गांव था। इसका उत्कर्ष पांचवीं शती के मध्य में गुप्त राजाओं के उदार दानों से हुआ। कट्टर हिन्दू होते हुए भी उन्होंने इसके संरक्षण और विकास में बड़ा भाग लिया। शक्रादित्य (जो संभवतः कुमार गुप्त प्रथम ४१४–४५४ ई० है) ने एक विहार की स्थापना करके नालन्दा की नींव रखी। इस विहार का बौद्ध मन्दिर कई शतियों तक नालन्दा का केन्द्रीय देवालय रहा। इसके बाद तथागत गुप्त, नरसिंह बालादित्य (४६८–४७२ ई०) बुधगुप्त (४७५–५०० ई०) ने एक तथा बज्र नामक राजा ने इसमें दो नये विहार बनवाये। छठी शती ई० में इसे संभवतः बौद्ध धर्म के कट्टर द्वेषी हूणराजा मिहिरकुल और बंगाल के शशांक के हाथों काफी हानि उठानी पड़ी। किन्तु सातवीं शती के पूर्वार्द्ध में युआन च्वांग के आने तक वह पूर्ण हो गई तथा इस चीनी यात्री के जीवनी-लेखक के वर्णनानुसार नालन्दा की सबसे उपरली मंजिल बादलों से भी ऊंची थी और वहां पर बैठने वाला दर्शक यह देख सकता था कि बादल किस प्रकार अपने आकार बदलते हैं। इसमें भले ही अत्युक्ति हो, किन्तु नालन्दा की 'अभ्रंलिह विहारावलि' का वर्णन यशोवर्मा के अभिलेख में भी है।

युआन च्वांग के जीवनी-लेखक ने, जो कभी भारत नहीं आया था, सातवीं शती के दूसरे चरण में यहां के भिक्षुओं की संख्या १० हजार लिखी है। इत्सिंग यहां ६७५ ई० में आया। उसके वर्णनानुसार यहां ३००० से अधिक भिक्षु नहीं रहते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि ७वीं शती में यहां की साधारण छात्र-संख्या ५००० थी। नालन्दा की खुदाई में भिक्षुओं के कमरे तथा बड़ी-बड़ी भट्टियां मिली हैं। कुछ कमरे एक ही भिक्षु के लिए,

कुछ दो के लिए। सब में सोने के लिए एक या दो प्रस्तर-शय्याएं, दीपक के लिए तथा पुस्तकों के लिए ताक हैं।

सातवीं शती के पूर्वीय नालन्दा में धर्मपाल, चन्द्रपाल, गुणमति, स्थिरमति, प्रभाकर मित्र, जिनमित्र, जिनचन्द्र, शीलभद्र नामक प्रसिद्ध बौद्ध आचार्य थे। १००० विद्वान् ऐसे थे जो समूचे बौद्ध वाङ्मय की व्याख्या कर सकते थे। विश्वविद्यालय में आठ बड़े और तीन सौ छोटे कमरे थे और प्रतिदिन १००० व्याख्यान होते थे। उन दिनों नालन्दा की इतनी ख्याति थी कि कोरिया, चीन, तिब्बत, मध्य एशिया से सैकड़ों छात्र यहां पढ़ने आते थे। नालन्दा में प्रवेश पाने के लिए कड़ी परीक्षा होती थी युआन के कथानुसार इसमें २० या ३० प्रतिशत विद्यार्थी ही पास होते थे। नालन्दा की एक बड़ी विशेषता 'धर्मगंज' नामक विशाल पुस्तकालय था। चीनी यात्री पुस्तकों की प्रतिलिपि करने के लिए भी यहां आते थे। इत्सिंग ५ लाख श्लोकों के ४०० संस्कृत ग्रन्थों की नकल यहां से ले गया था। नालन्दा के महायान बौद्ध धर्म का केन्द्र होने से यहां मुख्य रूप से बौद्ध धर्म और दर्शन पढ़ाया जाता था। किन्तु इसके साथ ही वेद हेतु विद्या (तर्क-शास्त्र) शब्द आदि विद्या (व्याकरण) चिकित्सा तथा अथर्ववेद (जादू सम्बन्धी ग्रन्थ) और सांख्य दर्शन का भी अध्यापन होता था।

८वीं शती में नालन्दा भारत का सबसे बड़ा शिक्षा-केन्द्र था, इसे उस समय तक अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व प्राप्त हो चुका था। इसके आदि आचार्यों ने तिब्बत में बौद्ध धर्म के प्रसार में बड़ा भाग लिया। ९ वीं शती में जावा, सुमात्रा के राजा बाल पुत्रदेव ने नालन्दा में एक विहार बनवाया। १० वीं, ११ वीं १२ वीं शतियों में इसमें बौद्धधर्म का साहित्यिक कार्य होता रहा किन्तु ११ वीं शती में पालवंशी राजाओं द्वारा विक्रमशिला को प्रोत्साहन देने से इसमे क्षीणता आने लगी। यह उन दिनों तांत्रिक बौद्ध धर्म का केन्द्र बन गया। १२ वीं शती के अन्त में तुर्कों के आक्रमण से इसका अन्त हो गया।

वलभी—(काठियावाड़ में आधुनिक वला) सातवीं शती में नालन्दा के

वलभी

समान ख्याति वाला विद्यापीठ था। इत्सिंग के वर्णनानुसार विद्वान उच्चशिक्षा पूरी करए के लिये यहां अथवा नालन्दा दो तीन वर्ष रहा करते थे। वलभी में सारे भारतवर्ष के विद्वान् सब सम्भव, असम्भव सिद्धांतों पर विचार करने के लिए एकत्र होते थे। जिस पण्डित का विचार वलभी के विद्वान् सही मानते, वह अपनी बुद्धिमत्ता के लिए सारे भारत में प्रसिद्ध हो जाता था। वलभी को भी राजाओं द्वारा सहायता मिलती थी। वलभी की उन दिनों इतनी ख्याति थी कि संयुक्त प्रांत के व्यक्ति अपनी सन्तान को शिक्षा के लिए यहां भेजा करते थे।

विक्रम शिला

विक्रम शिला (भागलपुर से पूर्व में २४ मी० दूर पथरघाटा) की स्थापना पालवंशी राजा धर्मपाल ने आठवीं शती में की थी और चार शतियों तक पूर्वी भारत का यह शिक्षा-केन्द्र प्रकाण्ड विद्वान् पैदा करता रहा। तिब्बत के साथ विशेष सम्बन्ध था। तिब्बती विद्यार्थियों के लिए यहां एक विशेष धर्मशाला भी बनाई हुई थी। यहां के अनेक आचार्य तिब्बत जाते तथा संस्कृत ग्रन्थों का तिब्बती में अनुवाद करते रहे। इनमें दीपंकर श्रीज्ञान सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं, वे ११ वीं शती में तिब्बत गये, उन्होंने २०० पुस्तकें लिखी तथा अनुवाद कीं। १२ वीं शती में इसमें ३०० भिक्षु और एक विशाल पुस्तकालय था। इस विद्यालय में प्रवेशार्थी विद्यार्थियों की परीक्षा के लिए छः-सात पण्डित थे। यहां व्याकरण, न्याय, दर्शन तथा तन्त्र का विशेष रूप से अध्यायपन होता था।

विक्रम शिला अन्य सब विश्वविद्यालयों की अपेक्षा अधिक सुसंगठित और व्यवस्थित था। यहां की शिक्षा समाप्त होने पर विद्यार्थियों को बंगाल के राजाओं द्वारा उपाधियां वितीर्ण की जाती थीं। जेतारि और रत्न वज्र को महीपाल और कनक नामक राजाओं ने पदवियां प्रदान की थीं। विश्व के पुराने प्रसिद्ध छात्रों की स्मृति कालिज-हाल की दीवारों पर उनके भित्ति चित्र बनाकर सुरक्षित रखी जाती थीं। १२०३ ई० में मुहम्मद बिन बख्तियार

खिलजी की सेना ने इसे दुर्ग समझा और इसका पूर्ण विध्वंस किया।

बनारस बनारस इस समय संस्कृत शिक्षा का बहुत बड़ा केन्द्र है, किन्तु २५०० वर्ष पहले यह स्थिति नहीं थी। ७ वीं श० ई० पू० में हम बनारस के राजाओं के पुत्रों को अध्ययन के लिए तक्षशिला जाता हुआ पाते हैं। भगवान् बुद्ध के समय इसका कुछ धार्मिक महत्त्व अवश्य था उन्होंने अमरनाथ में ही धर्मचक्र प्रवचन किया। अशोक ने यहां अनेक विहार बनवाये। हिन्दू धर्म का महत्त्वपूर्ण तीर्थ होने के कारण संस्कृत पण्डितों का यह बड़ा केन्द्र था। ११ वीं शती में अलबेरुनी ने इसे तथा काश्मीर को विद्या का बड़ा केन्द्र लिखा। यहां सब पण्डित अपने पृथक् अध्यापन-केन्द्र चलाते रहे। ऐसा नहीं प्रतीत होता कि प्राचीन काल में यहां कभी नालन्दा या विक्रमशिला-जैसी सुसंघटित विद्यालय स्थापित हुए हों।

शिक्षा-पद्धति के उद्देश्य भारतीय शिक्षा-पद्धति के तीन प्रधान उद्देश्य थे और वह इनमें पूरी तरह सफल हुई। पहला उद्देश्य चरित्र का निर्माण था, आचार्य का अर्थ ही आचार का निर्माता है, ब्रह्मचर्यावस्था में संयम, सादगी और सच्चरित्रता पर बहुत बल दिया था। भारतीय शिक्षा-पद्धति को चरित्र-निर्माण के उदात्त ध्येय में कितनी सफलता मिली, यह मेगस्थनीज च्वांग, इद्रीसी, मार्कोपोलो प्रभृति विदेशी यात्रियों के विवरण से भली भांति स्पष्ट है। इन्होंने भारतीयों के चरित्र की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। दूसरा उद्देश्य व्यक्तित्व का विकास था। गुरू के घर में रहते हुए विद्यार्थी को अपनी मानसिक और शारीरिक शक्तियों के विकास का पूरा अवसर मिलता था। गुरू उसमें आत्मसम्मान, आत्म-विश्वास और आत्म-संयम की भावना पैदा करता था। वह अपनी जाति की संस्कृति और सभ्यता का संरक्षक था। जाति का उत्थान और उन्नति उसके कार्यों पर अवलम्बित है, ऐसा उसे पूरा ज्ञान कराया जाता था। इतना महत्त्वपूर्ण व्यक्ति होने के कारण ही स्नातक को राजा से ऊंचा स्थान दिया गया था। इससे उसमें उत्तर-

दायित्व और कर्त्तव्य की भावना का जन्म होता था और यह उसके व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास में सहायक सिद्ध होता था। तीसरा उद्देश्य नागरिक एवं सामाजिक कर्तव्यों का बोध था। स्नातक होते समय उसे यह बताया जाता था कि तुमको स्वार्थ-परायण जीवन नहीं बिताना, समाज का तुम पर ऋण है, सन्तानोत्पादन और उनकी उचित शिक्षा द्वारा वह ऋण तुम्हें उतारना है। अपने धन का विनियोग भोग-विलास के लिए नहीं, किन्तु लोक-हित के लिए करना है। विभिन्न पेशे वालों को अपने व्यवसाय के उच्चतम उदात्त आदर्श सदैव सामने रखने पड़ते थे। उदाहरण ने वैद्यों के के लिए यह नियम बनाया था कि अपने प्राण चाहे संकट में हों, किन्तु बीमारों की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए। चौथा उद्देश्य प्राचीन संस्कृति का संरक्षण था। इसमें शिक्षा-पद्धति पूर्ण रूप से सफल हुई। विशाल वैदिक वाङ्मय सैकड़ों वर्षों तक गुरू शिष्य-परम्परा से ही सुरक्षित रहा है। इसे सुरक्षित रखते हुए, प्रत्येक पीढ़ी ने उसे समृद्ध बनाने का यत्न किया।

उपसंहार

प्राचीन शिक्षा-पद्धति ने नाना जातियों वाले इस देश में एक विलक्षण सांस्कृतिक एकता उत्पन्न की। इससे भारतीय मस्तिष्क का वह उच्चतम विकास हुआ, जिससे गुप्त युग तक हम दर्शन, न्याय, गणित, ज्योतिष, वैद्यक, रसायन आदि शास्त्रों और ज्ञान के सभी क्षेत्रों में विश्व का नेतृत्व करते रहे। पुरानी शिक्षा-पद्धति की कुछ विशेषताएं अद्वितीय हैं। उपनयन द्वारा समूचे समाज को आधार बनाना, स्त्रियों की शिक्षा की व्यवस्था, चरित्र-निर्माण, नागरिक गुणों का विकास किसी दूसरे देश की प्राचीन शिक्षा-पद्धति में नहीं दिखाई देता। इसके कुछ मौलिक सिद्धान्त गुरू-शिष्य का वैयक्तिक सम्बन्ध, गुरुकुल जीवन का आदर्श, सादा रहन-सहन तथा उच्च विचार, साहित्यक एवं उपयोगी कलाओं की शिक्षा वर्तमान युग में भी स्पृहणीय तथा अनुकरणीय हैं।

चौदहवां अध्याय

भारतीय संस्कृति की विशेषताएं

पिछले अध्यायों में धर्म, दर्शन, कला, विज्ञान, राजनीति आदि विविध क्षेत्रों में भारतीय संस्कृति की प्रगति का परिचय दिया जा चुका है। अब अन्त में उसकी प्रधान विशेषताओं, उसके विकास और ह्रास के कारणों तथा भविष्य पर प्रकाश डाला जायगा।

विशेषताएं

प्राचीनता

भारतीय संस्कृति की पहली विशेषता प्राचीनता है। चीन के अतिरिक्त किसी अन्य देश की संस्कृति इस दृष्टि से इसकी तुलना नहीं कर सकती। इसने यूनान और रोम का उत्थान तथा पतन देखा। जरथुस्त्री, यहूदी, ईसाई और मुस्लिम धर्मों के आविर्भाव से पहले इसका जन्म हो चुका था। मोहेञ्जोदड़ो की खुदाई के बाद से मिस्र और मेसोपोटामिया की सभ्यताएं भी इससे पुरानी नहीं रहीं। विश्व-कवि रवीन्द्र के इन शब्दों में बड़ी सचाई है—"प्रथम प्रभात उदय तव गगने। प्रथम.........सामरव तव तपोवने।"

दीर्घजीविता

किन्तु प्राचीनता के साथ इसकी दूसरी बड़ी विशेषता दीर्घजीविता, चिरस्थायिता और अमरता है। यह पुरानी होते हुए भी अब तक जीवित और क्रियाशील है। इसके साथ की सुमेर, बाबुल मिश्र, यूनानी, रोम को गौरवपूर्ण प्राचीन संस्कृतियां अब केवल खण्डहरों के रूप में बची हैं, उनके निर्माता नष्ट हो चुके हैं, और योरोपियन विद्वान् उनकी कब्रें खोदकर उनका ज्ञान प्राप्त कर रहे हैं। किन्तु भारतीय संस्कृति की परम्परा कई सहस्राब्दियों का सुदीर्घ काल व्यतीत हो जाने पर भी अक्षुण्ण है। संस्कृत आज भी पण्डित मण्डली में

ढाई तीन हजार वर्ष पहले की भांति लिखी पढ़ी, बोली और समझी जाती है। अनेक सामाजिक परिवर्तन होने पर भी गृह्यसूत्रों में वर्णित वैवाहिक-विधि लगभग ढाई हजार वर्ष से एक-जैसी है। भारतीय समाज का आदर्श और आकांक्षाएं रामायण, महाभारत के समय से लगभग वही हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि विभिन्न समयों में नवीन प्रवृत्तियां उत्पन्न होती रहीं, वे भारत पर अपना जबर्दस्त प्रभाव डालती रहीं, इस पर ईरानी, यवन, शक, कुशाण, हूण, तुर्क, पठान, मंगोल व योरोपियन जातियों के आक्रमण हुए; किन्तु फिर भी भारतीय संस्कृति की परम्परा का कभी अन्त नहीं हुआ। महाकवि इकबाल ने इसी बात को लक्ष्य में रखते हुए लिखा था—"यूनानो मिस्र रोमां सब मिट गए जहां से, कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी।" यह,'कुछ बात' क्या है, अगली विशेषताओं से भली-भांति स्पष्ट हो जायगा।

भारतीय संस्कृति के दीर्घ जीवन का रहस्य उसकी तीन विशेषताओं में छिपा हुआ है—आनुकूल्य, सहिष्णुता, ग्रहणशीलता।

आनुकूल्य आनुकूल्य का आशय है—अपने को परिस्थितियों के अनुकूल बनाते रहना। जीव-शास्त्र का यह नियम है कि वही प्राणी दीर्घजीवी होते हैं, जिनमें यह विशेषता पाई जाती है। भूतल पर पहले हाथियों से भी कई गुना बड़े भीमकाय जानवर रहते थे, वे जीवन संघर्ष की प्रतियोगिता में समाप्त हो गए। क्योंकि नई परिस्थितियां उत्पन्न होने पर अपने को उनके अनुकूल नहीं ढाल सके। संस्कृतियों पर भी यही नियम लागू होता है। मिश्र, मेक्सिको और ईरान की संस्कृतियां विदेशी आक्रमणों में अपने को नहीं संभाल सकीं, उनका अन्त हो गया, किन्तु भारतीय संस्कृति अपने इस गुण के कारण इन सब विषम परिस्थितियों में उपयुक्त परिवर्तन करती हुई जीवित रही। हमारे धर्म, समाज, आचार-विचार में निरन्तर अन्तर आता चला गया, किन्तु वह इतना शनैः-शनैः और सूक्ष्मता से हुआ कि हमें उसका बिलकुल ज्ञान नहीं। वैदिक युग से वर्तमान युग तक पहुंचते-पहुंचते हम काफी बदल चुके हैं। यथा उस काल में हमारा धर्म यज्ञ-प्रधान था, आज भक्ति-मूलक है।

इसी प्रकार विभिन्न आक्रान्ताओं के आने से जो नवीन परिस्थिति पैदा हुई, उसमें भी इसी अनुकूलता ने भारतीय संस्कृति को बचाये रखा। यह स्मरण रखना चाहिए कि गुप्त युग से भारत के मौलिक आदर्शों में कोई अन्तर नहीं आया। मुसलमानों और अंग्रजों के शासन-काल में शिक्षित वर्ग द्वारा विजेताओं का रहन-सहन वेश-भूषा और भाषा आदि ग्रहण करने पर भी भारत ने अपने परम्परागत धर्म और सामाजिक रूढ़ियों का परित्याग नहीं किया, इस्लाम और ईसाइयत को अंगीकार नहीं किया।

सहिष्णुता

यह भारतीय संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता है। विजेताओं में प्राय: असहिष्णुता होती है, पुराने जमाने में सब धर्मों और जातियों में यह भावना उग्र रूप से पाई जाती थी। यूनान में सुकरात को इसीलिए जहर का प्याला पीना पड़ा था, ईसा को सूली पर लटकना पड़ा था। प्राचीन इतिहास में संभवत: भारत ही एक-मात्र ऐसा देश था, जहां हिंसा और धर्मान्धता का प्राधान्य नहीं रहा। सामान्य विजेताओं की नीति प्राय: विध्वंस और विनाश की होती है। योरोपियनों ने अमरीका में मय संस्कृति का अन्त किया, अरबों ने मिस्र की यूनानी और ईरान की पुरानी सभ्यताओं की समाप्ति की। धर्म की दृष्टि से न केवल एक धर्म ने दूसरे धर्म पर किन्तु अपने ही धर्म में विभिन्न मत रखने वालों पर जो भीषण अत्याचार किये, उनसे योरोपियन इतिहास के अनेक पृष्ठ रक्तरंजित हैं। १६ वीं शती में चार्ल्स पंचम के शासन-काल में केवल हालैंड रोमन कैथोलिकों से भिन्न सिद्धान्तों वाले जिन प्रोटैस्टैंटों को चिता पर जलाकर या अन्य ढंग से मारा गया, उनकी संख्या ५० हजार थी। यह स्मरण रखना चाहिए कि यह कम-से-कम अन्दाज है। फ्रांस में फ्रांसिस प्रथम ने १५४५ में अपनी मृत्यु से पूर्व आल्प्स पर्वत-माला के तीन हजार निरीह निःशस्त्र कृषकों के कत्ले-आम की आज्ञा देकर आत्मिक शान्ति प्राप्त की उनका एक-मात्र अपराध यह था कि वे ईसाइयत के मूल सिद्धान्तों में विश्वास रखते हुए पोप तथा पादरियों की प्रभुता नहीं मानते थे। इस प्रकार की दारुणतम घटना फ्रांस में उस समय पर हुई जब कि

एक ही रात (२३-२४ अगस्त १५७२) को पेरिस में दो हजार ह्यूजनाटों (फ्रेंच प्रोटेस्टैंण्टों) का बध किया गया। समूचे फ्रांस में एक महीने तक यह क्रूर हत्याकाण्ड चलता रहा। इस अल्पकाल में ही ७० हजार नर—नारियों और अबोध शिशुओं की धर्म के नाम पर बलि चढ़ाई गई। यह सब इसलिए हुआ कि रोमन कैथोलिक यह नहीं चाहते थे कि कोई उनसे भिन्न विश्वास रखे। भारत में प्रारम्भ से सहिष्णुता की प्रवृत्ति प्रबल रही। सबको धार्मिक विश्वास और पूजा-विधि की पूरी स्वतन्त्रता दी गई। ऋग्वेद में कहा गया था—एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति (एक ही भगवान् का ज्ञानी नाना रूप से वर्णन करते हैं) गीता में इसी विचार को पराकाष्ठा तक पहुंचाया गया है। भगवान् कृष्ण को इस कथन से ही सन्तोष नहीं है कि 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।' किन्तु उन्होंने यहां तक भी कहा है कि अन्य देवताओं की श्रद्धापूर्वक उपासना करने वाले भी मेरा ही भजन करते हैं। (९।२३) अशोक ने इस तत्त्व पर बल देते हुए कहा—'समवाय एव साधु'। भारतीयों का यह विश्वास था कि भगवान् एक अचिन्त्य अव्यक्त, सर्वशक्तिमान् सत्ता है, विविध प्रकार की उपासनाएं उस तक पहुंचने के मार्ग हैं। जब लक्ष्य एक है तो मार्गों के बारे में क्या झगड़ा किया जाय। यही कारण है कि यहां सभी पन्थ प्रीति पूर्वक रहते रहे। इस सहिष्णुता से आर्यों ने अपने से भिन्न अनार्यों और विधर्मियों की उपासना-विधियां भी स्वीकार कीं। भारत ने विदेशों में धार्मिक अत्याचारों द्वारा पीड़ित होकर आने वाले पारसियों, यहूदियों, सीरियन ईसाइयों को अपने यहां उदारता पूर्वक शरण दी। इसी से आर्य विविध आचार-विचार और धर्म-विश्वासों वाली भारतीय जातियों में एकता ही उत्पन्न न कर सके, बल्कि भारत में अपनी संस्कृति का प्रसार करने में समर्थ हुए।

ग्रहणशीलता

सहिष्णुता से भारतीय संस्कृति में ग्रहणशीलता या साम्यीकरण की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई। इसका आशय यह है कि भारत में जो नये तत्त्व आते गए, भारतीय उन्हें पचाकर अपना अंग बनाते गए। शरीर तभी तक बढ़ता है जब तक

खाई जाने वाली वस्तुओं को अपना अंग बनाता रहे। भारतीय संस्कृति का उस समय तक उत्कर्ष होता रहा, जब तक वह बाहर से आने वाले सब अंशों को पचाती रही। प्राचीन काल में उसने ईरानी, यूनानी, शक, यहूदी, कुशाण, हूण आदि बीसियों को आत्मसात् कर लिया। जातियों को पचाने के अतिरिक्त उसने दूसरी संस्कृतियों के सुन्दर तत्त्व ग्रहण करने में कभी संकोच नहीं किया। भारतीय ज्योतिष और कला के यूनानी तथा इस्लामी प्रभाव से समृद्ध होने का पहले उल्लेख किया जा चुका है, वर्तमान काल में उसने योरोप से बहुत-कुछ सीखा है।

इस ग्रहणशीलता के कारण भारत में जितना वैविध्य, विशालता और व्यापकता दिखाई पड़ती है, उतना शायद ही किसी दूसरे देश में हो। हमने ग्रहणशीलता के कारण जो कुछ आया उसे रख लिया और सहिष्णुता के कारण उसे नष्ट नहीं किया। यही कारण है कि जैसे हमारे देश में सब प्रकार का जल, वायु, वृक्ष, वनस्पति और पशु-पक्षी पाये जाते हैं वैसे ही सबप्रकार के धार्मिक विश्वास, रहन-सहन के ढंग भी मिलते हैं। श्री कृपलानी ने इस विशेषता का बड़े मनोरंजक ढंग से प्रतिपादन किया है—'हमारा भोजन और पोशाक हर युग में बदलती रही है। पहले दाल-भात और रोटी भोजन था, फिर खिचड़ी आदि, पठान मुगल, और तुर्क पुलाव, कुरमा तथा कवाब लाये, योरोपियनों से चाय, केक, डबल रोटी, बिस्कुट आये, ये सब भारत में बिना कोई झगड़ा किये शान्ति पूर्वक रह रहे हैं। खाने के बर्तनों का भी यही हाल है। पहले केले के तथा दूसरे पत्ते, मिट्टी और धातु के बर्तन थे, फिर मुसलमानों का लोटा आया और अन्त में चीनी के बर्तन चम्मच और छुरी कांटे। ये सब भी इकट्ठे चल रहे हैं। तम्बाकू पीने तक के ढंग में एकता नहीं है, इसमें हुक्के से चिलम बीड़ी, सिगरेट, सिगार और पाइप तक सब फैशन चलते हैं।—संक्षेप में मानवजाति को विभिन्न हिस्सों में बांटने वाले सब पन्थ यहां पाए जाते हैं। सब प्रकार की पूजा-पद्धतियां यहां प्रचलित हैं। प्राचीन काल के वेद, कपिल और चार्वाक से आधुनिक युग के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद तक सबकी विचार धारायें और दर्शन यहां मिलते हैं।' — सब

प्रकार के वैयक्तिक कानून यहां प्रचलित हैं। विवाह पवित्र संस्कार है और इच्छा से तोड़ा जाने वाला सम्बन्ध-मात्र भी। बहुपत्नीत्व भी है और बहुपतित्व भी। पुराने चार वर्ण भी हैं, और वे चार हजार जातियों तक जा पहुंचे हैं। जो प्रथा, संस्था या व्यवस्था एक बार ग्रहण की जाती है, उत्पन्न हो जाती है, वह कभी नष्ट नहीं होती। भारतीय संस्कृति की विशेषता ग्रहण और संरक्षण है, विनाश और विध्वंस नहीं। यहां का मुख्य सिद्धान्त 'जियो और जीने दो' का है। भारत इसी से अतीत में अमर रहा है और जब तक वह इसका पालन करेगा, अमर बना रहेगा।

सर्वांगीणता

६)—भारतीय संस्कृति की एक विलक्षणता सर्वांगीण विकास की ओर ध्यान देना था। उसका लक्ष्य ऐहिक और पारलौकिक दोनों प्रकार की उन्नति करना था। यहां शारीरिक, मानसिक और आत्मिक तीनों प्रकार की शक्तियों के विकास पर तुल्य बल दिया गया। पुराने यूनानियों की दृष्टि शारीरिक और मानसिक उन्नति से आगे नहीं गई, सुकरात का 'आत्मा को पहचानने' का उपदेश वहां अरण्य-रोदन ही सिद्ध हुआ, आज पश्चिमी संस्कृति भी भौतिकवाद में आपाद-मस्तक निमग्न है। उसने प्रकृति के अधिकांश रहस्य ढूंढ लिये हैं, उत्तरी-दक्षिणी ध्रुवों को खोज डाला है, अमरीका के घने जंगल और भूमण्डल के सब सागर मथ डाले हैं। सब प्रकार के विज्ञानों के अनुसन्धान द्वारा भूतल की प्रत्येक वस्तु समझने का प्रयत्न किया है, यदि उसने किसी विज्ञान का विकास नहीं किया तो वह आत्म-विज्ञान ही है। किन्तु भारत में प्राचीन काल से शरीर, मन और आत्मा के सामंजस्यपूर्ण विकास को जीवन का ध्येय माना गया था। शास्त्रकारों के मतानुसार मनुष्य को चार पुरुषार्थ प्राप्त करने का यत्न करना चाहिए। ये हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इनमें पहला और अन्तिम आत्मिक विकास के लिए था और दूसरा तथा तीसरा शरीर और मन की उन्नति के लिए। इनकी समुचित प्राप्ति के लिए जीवन चार आश्रमों में बांटा गया था। ब्रह्मचर्य और गृहस्थ पहले तीन पुरुषार्थों के

लिए थे और अन्तिम दो आश्रमों में मोक्ष-प्राप्ति का यत्न किया जाता था। प्रायः भारतीय संस्कृति में आध्यात्मिक तत्त्व की प्रधानता मानी जाती है; किन्तु अपने सर्वोत्तम काल में उसने आध्यात्मिक और भौतिक दोनों तत्त्वों पर समान रूप से बल दिया। धर्म और मोक्ष का पालन उतना ही आवश्यक था, जितना अर्थ और काम का सेवन। यह कहा जाता था कि चारों की प्राप्ति का प्रयास समान रूप से करना चाहिए, जो एक का ही सेवन करता है, वह निन्दा का पात्र है (धर्मार्थ कामाः सममेव सेव्याः यो ह्येक सक्तः स जनो जघन्यः)। मनुष्य का आदर्श सर्वांगीण विकास है, वह न तो धर्म की अपेक्षा करे और न ही काम और धर्म की ओर अधिक ध्यान दे। जब तक भारतीय संस्कृति ऐहिक और धार्मिक दोनों तत्त्वों पर समान ध्यान देती रही, उसका उत्कर्ष होता रहा। उसके पतन का सूत्रपात उसी काल से प्रारम्भ हुआ जब उसने दोनों के उचित सामंजस्य और समन्वय की ओर ध्यान न देकर केवल परलोक की ही चिन्ता की।

(७) भारतीय संस्कृति पर प्राय: यह दोष लगाया जाता है कि संन्यास और वैराग्य के तत्त्वों पर बल देने के कारण वह निष्क्रमणता संचरण शीलता को प्रोत्साहित करती है। किन्तु दूसरे अध्याय में यह बताया जा चुका है कि प्राचीन काल में इसका मूल मन्त्र निरन्तर आगे बढ़ने की भावना थी. उसमें ओजस्वी भावों की प्रधानता थी। 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' का ध्येय लिये हुए वह दुनिया की किसी प्राकृतिक या मानवीय बाधा के आगे हार मानने को तय्यार नहीं थी। उसे अपने पुरुषार्थ की सफलता में पूरा विश्वास था. उसमें वह पराक्रम, साहस, महत्त्वाकांक्षा, ऊंची कल्पना, विशाल दृष्टि, आगे बढ़ने की उमंग, महत्त्वाकांक्षा थी, जो मनुष्य को नये देश खोजने और जीतने की तथा नई जिम्मेवारियां उठाने की प्रेरणा देती है। प्राचीन संस्कृति में लगभग वही ओजस्विता और महाप्राणता थी, जो मध्यकाल में अरबों ने प्रदर्शित की और आजकल योरोपियन जातियां दिखा रही हैं।

संचरण शीतलता के कारण भारतीय संस्कृति का विदेशों में अभूतपूर्व

जगद्गुरू होना

प्रसार हुआ। दुनिया की किसी दूसरी प्राचीन संस्कृति ने इतने बड़े भूभाग को नहीं प्रभावित किया। सिल्वें लेवी के शब्दों में 'ईरान से चीनी समुद्र तक, साइबेरिया के तुषारावृत प्रदेशों से जावा, बोर्नियो के टापुओं तक, प्रशान्त महासागर के द्वीपों से सोकोतरा तक भारत ने अपने धार्मिक-विश्वासों, कथा-साहित्य और सभ्यता का प्रसार किया। उसने मानव जाति के चतुर्थांश पर अनेक शतियों के सुदीर्घ काल तक अपना अमिट प्रभाव डाला।' एशिया के अधिकांश भाग में संस्कृति और सभ्यता का आलोक फैलाने वाले भारतीय ही थे। यही उस समय का ज्ञान जगत् था, अतएव भारत को जगद्गुरू कहा जाता है।

अपनी उपर्युक्त विशेषताओं के कारण, गुप्त युग तक भारत ने असाधारण उन्नति की, उसके बाद अवनति प्रारम्भ हुई। पहले अध्यायों में उत्कर्ष और अपकर्ष के कारणों पर प्रकाश डाला जा चुका है। यहां इतना कहना पर्याप्त है कि संकीर्णता और अनुदारता की वृत्तियां, धर्म तथा परलोक की अत्यधिक चिन्ता, मोह-निद्रा और मिथ्याभिमान, अन्ध-विश्वासों और संकुचित मनोवृत्तियों का प्राधान्य इसके मुख्य कारण थे। इनसे हमारी मध्य एवं वर्तमान युग में प्राचीन काल की भांति अग्रणी की स्थिति नहीं रही।

भारतीय संस्कृति का भूत अत्यन्त उज्ज्वल है, भविष्य को उपर्युक्त भूलों से बचते हुए और भी अधिक गौरवपूर्ण बनाया जा सकता है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद, इस विषय में हमारा उत्तरदायित्व बहुत अधिक बढ़ गया है। प्राचीन काल में भारत ने लगभग सारे एशिया में ज्ञान की ज्योति जगाई थी, छठी श० ई० तक विश्व का नेतृत्व किया था। इसके बाद हम प्रगाढ़ मोह-निद्रा में पड़ गए। तेरह शतियों के सुदीर्घ विश्राम के बाद हम आज फिर जगे हैं; किन्तु इस बीच में दुनिया में आमूल-चूल परिवर्तन हो चुके हैं।

इस समय ज्ञान का सूर्य पश्चिम में चमक रहा है। वैज्ञानिक आविष्कारों

से मानव-जीवन का काया-पलट हो गया है। विज्ञान ने मनुष्य को ऐसा गुरु-मन्त्र प्रदान किया है, जिससे प्रकृति की गुप्त नीतियों के द्वारा सहज में खुल जाते हैं, देवताओं की अलौकिक शक्ति सुगमता से प्राप्त हो जाती है। हमारे देश की पुरानी परिपाटी यही है कि हम दूसरों के प्रत्येक ज्ञान और सचाई को ग्रहण करें तथा उसमें वृद्धि कर, उसे दूसरे देशों को दें। जो कार्य भारत ने पहले गणित और ज्योतिष के क्षेत्र में किया, वह आज ज्ञान-विज्ञान की प्रत्येक शाखा में होना चाहिए। इसी प्रकार भारत दूसरों का गुरू बन सकता है और जगद्गुरू की प्राचीन परम्परा को अक्षुण्ण रख सकता है।

किन्तु इसमें मध्य युग की उपर्युक्त प्रवृत्तियां जबर्दस्त बाधक हैं। आज हमें संकीर्ण एवं अनुदार भावों को तिलाञ्जलि देनी होगी, मिथ्याभिमान का तर्पण और अन्ध विश्वासों की होली करनी होगी। जातीय जीवन को दुर्बल बनाने वाले अस्पृश्यता आदि कलंकों का परिमार्जन करना होगा। कर्मवाद की विचार-धारा को प्रधानता देनी पड़ेगी। परलोक से इहलोक की ओर मुंह मोड़ना होगा। इसकी यह कहकर अवहेलना नहीं की जा सकती कि यह तो जड़वाद की ओर कदम बढ़ाना है। पश्चिम में विज्ञान की हिंस्र दानवी शक्ति की ओर संकेत कर के अध्यात्मवाद का समर्थन नहीं किया जा सकता। कहा जाता है कि प्राचीनता में संयम ही है, गति नहीं। आधुनिकता में केवल गति है, संयम नहीं। एक जगह लगाम है, घोड़ा नहीं; दूसरी जगह घोड़ा है, लगाम नहीं। योरोप ने गतिशील विज्ञान का आश्रय लेकर संयम-प्रधान धर्म को छोड़ दिया है। अतएव वहां अणुबम आदि के रूप में सृष्टि का संहार करने वाली रुद्र की भैरव मूर्त्ति प्रकट हो रही है।

यह सत्य है, किन्तु अध्यात्मवाद और प्रकृतिवाद दोनों आवश्यक हैं, दोनों का उचित सामंजस्य होना चाहिए। प्रकृतिवाद अध्यात्मवाद के बिना अन्धा है, अध्यात्मवाद प्रकृतिवाद के बिना लंगड़ा है। 'अन्धपंगुन्याय' से दोनों का सम्मिश्रण होना चाहिए। धर्म का लक्ष्य पारलौकिक ही नहीं किन्तु

ऐहिक उन्नति भी है। 'यतो ऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः' जिससे इह-लोक और परलोक दोनों में उत्कर्ष हो, वही धर्म है। पश्चिम में अनर्थ और उत्पात इसलिए हैं कि वहां केवल जड़वाद है, भारत में दुःख और द्वन्द्व का कारण यह है कि यहां केवल योग साधन और प्राणायाम है। विवेकानन्द कहा करते थे—'भारत को वेदान्त भुलाने की आवश्यकता है, पश्चिम को अध्यात्म सीखने की जरूरत है।'

आजकल प्राचीन संस्कृति के पुनरुज्जीवन पर बड़ा बल दिया जा रहा है; किन्तु यदि इसका आशय केवल इतना ही हो कि हम उस संस्कृति की गौरव-गाथा का गान करें, उस पर अभिमान कर, उससे सन्तुष्ट होकर बैठ जायं तो यह उसके साथ घोर अन्याय होगा। मिथ्याभिमान मध्य युग में हमारी निष्क्रियता और पतन का कारण बना, आज भी वह हमारी उन्नति में बाधक होगा। हमारे पूर्वज भले ही बहुत बड़े हों, किन्तु सोचना तो यह है कि हम क्या हैं? यदि वे संसार के नेता थे तो हमारा उनके वंशज होने की अभिमान तभी सार्थक होगा जब हम भी अपने प्रयत्नों से देश का सर्वांगीण उन्नति का प्रयत्न करें और उसे फिर जगद्-गुरू बनायं। यह काम कोरी बातों से नहीं, किन्तु उनको भावनाओं और गुणों—संचरणशीलता, सहिष्णुता, ग्रहणशीलता, समन्वय, निरन्तर कर्मशीलता आदि—के अपनाने, उदात्त आध्यात्मिक आदर्शों को क्रियात्मक रूप देने से होगा।

आज संसार के उद्धार की आशा भारतीय संस्कृति पर है। इस समय योरोपियन राष्ट्रों की साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा से तृतीय विश्व-युद्ध के काले बादलों की घटा छा रही है, चारों तरफ घनान्धकार फैला हुआ है, मानव अपने सर्वनाश की आशंका से भयभीत और संत्रस्त है। किन्तु इस घोर तिमिर में भारतीय संस्कृति तथा उसकी आध्यात्मिकता ही एक-मात्र प्रकाश की किरण है, घने बादलों में आशा की चमकीली रेखा है। विश्व को भस्म कर देने वाले महायुद्धों के प्रचण्ड दावानल को बुझाने का सामर्थ्य योरोपियन राष्ट्रों या संयुक्त राष्ट्रसंघ के पास नहीं। वह

अन्तर्राष्ट्रीय परिषदों और संधियों से भी नहीं शान्त हो सकता। उसे भारतीय संस्कृति की अहिंसा तथा बापू के उपदेशामृत पर आचरण ही बुझा सकता है। विश्व-शान्ति की समस्या का हल भारत के ही पास है। अतः भारतीय संस्कृति का भविष्य भूत की अपेक्षा अधिक उज्जवल और गौरवपूर्ण है।

चौदहवां अध्याय

आधुनिक भारत

१८ वीं शती के मध्य में बंगाल में ब्रिटिश सत्ता की स्थापना हुई, शनैः शनैः सारा देश अंग्रेजों के आधीन होगया।

आधुनिक युग का महत्व

१९० वर्ष (१७५७-१९४७) तक भारत परतन्त्र रहा किन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से इस काल का असाधारण महत्व है। ब्रिटिश शासन में ही भारत ने कई शतियों की कुम्भकर्णी निद्रा का परित्याग किया, इसी समय धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक साहित्यिक, बौद्धिक, वैज्ञानिक आर्थिक क्षेत्रों में असाधारण जागरण और उन्नति हुई। धार्मिक क्षेत्र में राजा राममोहनराय, श्री देवेन्द्रनाथ ठाकुर श्री केशवचन्द्रसेन, महर्षि दयानन्द, महात्मा रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, प्रभृति महापुरुषों ने भारत का मस्तक ऊंचा किया। राजनैतिक क्षेत्र में दादाभाई नौरोजी, गोपालकृष्ण गोखले, बाल गंगाधर तिलक महात्मा गान्धी और जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में अंग्रेजों से संघर्ष कर भारत ने स्वतन्त्रता प्राप्त की। सामाजिक क्षेत्र में सतीदाह, कन्यावध, बाल-विवाह आदि कुप्रथाओं के हटाने, विधवा-विवाह, हरिजन उत्थान, स्त्री-शिक्षा आदि उपयोगी सुधारों के प्रचार से हमारे समाज का काया पलट हो रहा है। साहित्यिक क्षेत्र में प्रान्तीय भाषाओं के विकास तथा श्री रवीन्द्रनाथ जैसी विश्व विख्यात विभूतियों के उत्पन्न करने का श्रेय वर्तमान भारत को ही है। इसी काल में श्री जगदीशचन्द्र बोस तथा रमण जैसे वैज्ञानिकों, टाटा जैसे उद्योगपतियों, श्री अरविन्द जैसे योगी और दार्शनिकों का प्रादुर्भाव हुआ है। सारे भारतवर्ष में एक नई भावना और नई चेतना का उदय हुआ और इससे भारत ने मध्ययुग से आधुनिक युग में प्रवेश किया है।

यों तो प्रत्येक पीढ़ी अपने को आधुनिक कहती है किन्तु इतिहास में कई विशेषताएं उत्पन्न होने पर ही आधुनिक युग का श्रीगणेश समझा जाता है। पौराणिक परम्परा वर्तमान काल को कलियुग बताती है किन्तु ऐतिहासिक इसे कलयुग कहते हैं। आधुनिकता का प्रधान चिह्न कलयुगी होना अर्थात् मशीनों की सहायता से भारी परिमाण में उत्पादन तथा वैज्ञानिक आविष्कारों

का अधिकाधिक उपयोग है। इसकी अन्य विशेषतायें राष्ट्रीयता का भाव, प्रजातन्त्र, तथा धार्मिक विचार स्वातन्त्र्य है। ये किसी भी देश में आमूल परिवर्तन कर देती हैं। पिछले सौ वर्षों में इन्हीं के कारण भारत में नवयुग का आरम्भ हुआ है। यहां सांस्कृतिक दृष्टि से हुए महत्वपूर्ण परिवर्तनों का उल्लेख किया जायगा। ये परिवर्तन धर्म, समाज, साहित्य और कला के क्षेत्र में हुए हैं और इन से अभूतपूर्व भारतीय जागरण हुआ है।

धार्मिक आन्दोलन

'आधुनिक भारत में नवयुग की ज्योति सर्वप्रथम धार्मिक आन्दोलनों के रूप में प्रकट होती है। इस समय भारत में जो जागृति दिखाई देती है, उसका सूत्र-पात इन्हीं से होता है। इनसे भारत को सर्वप्रथम अपनी शोचनीय वर्तमान स्थिति, स्वर्णिम अतीत का ज्ञान तथा उज्ज्वल भविष्य में विश्वास उत्पन्न हुआ। इन्होंने आलोचनात्मक दृष्टि से शास्त्रों के अध्ययन पर बल दिया, अन्धविश्वासों और रूढ़िवाद के स्थान पर तर्क और बुद्धि को प्रधानता दी। इन आन्दोलनों के प्रेरक कारण ब्रिटिश शासन से उत्पन्न नवीन परिस्थि-तियां थीं। ईसाई प्रचारक हिन्दू और मुस्लिम धर्मों पर प्रबल आक्षेप कर रहे थे, अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार से पश्चिम के उदार विचार शिक्षित जनता तक पहुँच रहे थे और खमीर की भांति धीरे २ उन्होंने समूचे भारत को अपने प्रभाव से ओतपोत किया। १९वीं शती के प्रारम्भ में भारत के सभी धर्म अपने धर्म प्रवर्त्तकों की असली शिक्षायें भूल कर नाना प्रकार के अन्ध विश्वासों, रूढ़ियों, आडम्बरों, शुष्क कर्मकाण्ड तथा भ्रान्त विचारों के मोह जाल में फंसे हुए थे। पश्चिमी ज्ञान के आलोक से आंखें खुलने पर तथा पराधीनता की पीड़ा अनुभव करने पर समझदार भारतीयों ने अपने देश की दुरवस्था देखी, उन्हें उसमें संशोधन की आवश्यकता प्रतीत हुई, उसका परिणाम १९ वीं शती के धार्मिक आन्दोलन थे।

ये आन्दोलन दो प्रकार के थे। कुछ उग्रसुधारवादी थे, ये धर्म और समाज में बड़े क्रान्तिकारी सुधार चाहते थे, इनकी प्रेरणा का प्रधान स्रोत पश्चिमी शिक्षा और विचारधारा थी। इन में ब्राह्म-समाज और प्रार्थना

समाज मुख्य थे। इनके नेताओं ने पश्चिमी विचारों से आकृष्ट होकर जब अत्यधिक मौलिक परिवर्तन करने चाहे तो इसकी प्रतिक्रिया कट्टर सुधार आन्दोलनों के रूप में प्रकट हुई। थियासफी रामकृष्ण मिशन ऐसे ही प्रयास थे। दोनों अतिवादियों के बीच में अनेक नरम विचारों वाले सुधारक तथा आर्यसमाज के नेता थे जो वैदिक परम्परा को अक्षुण्ण रखते हुए परवर्ती युगों में उत्पन्न हुई कुरीतियों का संशोधन करना चाहते थे।

ब्राह्मसमाज

ब्राह्मसमाज के प्रवर्तक राजा राममोहन राय (१७७२--१८३३) थे। बचपन से ही वे मूर्तिपूजा के विरोधी थे, उनका विश्वास था कि सब धर्म एक ही ईश्वर मानते हैं। १८१३ के बाद ईसाई मिशनरी हिन्दू धर्म पर बहुत प्रबल आक्रमण करने लगे, राममोहन राय पहले तो इनका उत्तर देते रहे, और बाद में उन्होंने शुद्ध एकेश्वरवाद की उपासना के लिए ब्राह्मसमाज की स्थापना की। इसकी पहली बैठक कलकत्ता में २० अगस्त १८२८ को हुई, इसके साप्ताहिक अधिवेशनों में वेदों का पाठ, उपनिषदों के बंगला अनुवाद का वाचन और बंगला में उपदेश होते थे। राममोहन राय दो वर्ष बाद इंगलैण्ड चले गये और १८३३ में उनकी मृत्यु के बाद इसके प्रधान नेता श्री देवेन्द्रनाथ ठाकुर बने। इन्होंने ब्राह्मसमाज के संगठन को निश्चित विधान तथा नियम बनाकर सुदृढ़ किया। इन्होंने सम्पूर्ण वेदों को प्रामाणिक मानने का विचार छोड़ दिया। १८५७ई० में ब्रह्मसमाज में अङ्गरेजी शिक्षा सम्पन्न, अत्यधिक भावुक तथा वाग्मी युवक श्री केशवचन्द्र सेन का आगमन हुआ। इसने ब्राह्मसमाज को नई भावना और स्फूर्ति से ओत-प्रोत किया। इसके विचार बहुत उदार थे और १८६० में इसने उदारता के नाम पवित्र यज्ञोपवीत को भी तिलांजलि दे दी। उन दिनों श्री केशवचन्द्र सेन पर ईसाइयत का प्रभाव अधिक पड़ रहा था। १८६६ में उनके एक व्याख्यान से श्रोताओं ने यह समझा कि श्रीसेन अब ईसाई होने वाले हैं। ११नवम्बर १८६६ को उन्होंने अपना पृथक् समाज स्थापित किया, इसके बाद ब्राह्मसमाज में अनेक मतभेद उत्पन्न हो गये और उस का प्रभाव क्षीण होने लगा।

ब्राह्मसमाज ईसाइयत के विरोध में हिन्दू समाज की रक्षा के लिये पहला

बांध था किन्तु वह अन्त में ईसाइयत के जबर्दस्त प्रवाह का मुकाबला न कर उसी के साथ बह गया। मूर्तिपूजा के विरोध के अतिरिक्त ब्राह्मसमाज ने जातिभेद आदि की कुरीतियों के निवारण की ओर भी बहुत ध्यान दिया। श्री केशवचन्द्र सेन के प्रयत्न से १८७२ ई० में 'विशेष विवाह कानून' पास हुआ, जिससे ब्राह्मों के अन्तर्जातीय विवाह वैध होगये।

ब्राह्मसमाज हिन्दू समाज में उग्रसुधार करना चाहता था, उस पर पाश्चात्य प्रभाव, ईसाइयत और अंग्रेजी शिक्षा का गहरा प्रभाव पड़ा था। इसका क्षेत्र बंगाल तक ही सीमित था, पश्चिमी भारत में १८६४ में श्री केशव चन्द्रसेन की यात्रा तथा भाषणों का शिक्षित जनता पर गहरा असर हुआ, १८६७ में बम्बई में 'प्रार्थना समाज' की स्थापना हुई। यह ब्राह्मसमाज का ही दूसरा रूप था। इसके नेता डा० आत्माराम पाण्डुरंग, रामकृष्णगोपाल भण्डारकर, महादेव गोविन्द रानडे थे। ये जातिप्रथा के उच्छेद, विधवा पुनर्विवाह, स्त्रीशिक्षा के प्रसार तथा बाल विवाह निषेध के सुधारों पर बल देते थे। निश्चित नियमों के आधार पर इस समाज का संगठन न होने से, यह आन्दोलन शक्तिशाली नहीं बन सका।

सुधार आन्दोलन केवल हिन्दू धर्म तक ही सीमित न थे। अंग्रेजी शिक्षा द्वारा जिस पाश्चात्य प्रभाव और ईसाइयत के प्रसार ने हिन्दुओं में ब्राह्मसमाज और प्रार्थना समाज पैदा किये, उसी ने जरथुस्त्री एवं मुस्लिम धर्मों में सुधार की प्रवृत्तियां प्रबल हुईं। १८५१ में शिक्षित पारसियों ने पारसी धर्म की रक्षा तथा कुरीतियों के संशोधन के लिये 'रहनुमाये मज़्दायस्नान' नामक समाज की स्थापना की। इसका उद्देश्य पारसी समाज का पुनरुज्जीवन तथा पारसी धर्म को प्राक्तन पवित्रता की ओर ले जाना था। इसके नेता दादा भाई नौरोजी तथा जे० बी० कामा आदि महानुभाव थे। इस्लाम में नये धार्मिक सुधारों का श्रीगणेश करने वाले सर सय्यद अहमद थे। कट्टर एवं रूढ़िग्रस्त इस्लाम को उन्होंने युक्ति संगत बनाने का प्रयत्न किया, वे तर्क को ही परम प्रमाण मानते थे। हज़रत मुहम्मद की शिक्षाओं को समयानुकूल बनाने का दूसरा प्रयत्न भारत के सर्व-प्रथम प्रिविकौन्सिलर श्री अमीर अली ने किया।

उपर्युक्त सभी आन्दोलन उग्रसुधार तथा आमूल परिवर्तन के पक्षपाती थे। १८२८ से ७० तक इनको प्रधानता रही। किन्तु इनके बाद उग्रसुधार आन्दोलनों की प्रतिक्रिया कट्टर आन्दोलनों के रूप में शुरू हुई। इन्होंने न केवल ईसाइयों के खतरे का अनुभव किया किन्तु हिन्दू धर्म के मौलिक सिद्धान्तों की उपेक्षा और तिरस्कार को भली भांति समझा। पचास वर्ष पहले जहां शिक्षित हिन्दू समाज हिन्दू धर्म के विविध सिद्धान्तों और अनुष्ठानों की खिल्ली उड़ाता था, अब वह उसका वैज्ञानिक समर्थन करने लगा। प्रत्येक हिन्दू प्रथा और रूढ़िका चाहे वह सामाजिक दृष्टि से हानिकर ही क्यों न हो, आलंकारिक ढंग से इस प्रकार वर्णन किया जाने लगा कि वह स्पृहणीय और आदर्श समझी जाय। इस प्रकार के आन्दोलनों में श्री रामकृष्ण तथा स्वामी विवेकानन्द का प्रचार और थियोसोफी मुख्य थे।

रामकृष्ण मिशन आन्दोलन

श्री रामकृष्ण परमहंस उच्चकोटि के सन्त और साधक थे। १८२९—१८७१ तक उन्होंने कठोर साधना की, अन्य धर्मों के प्रति उनकी दृष्टि अत्यन्त उदार थी। वे मौखिक रूप से शिष्यों को उपदेश देते थे। उनके शिष्यों में नरेन्द्रनाथ (स्वामी विवेकानन्द) बहुत प्रसिद्ध हैं। गुरू की मृत्यु के बाद इन्होंने सन्यास ग्रहण किया, ९ वर्ष तक तिब्बत आदि में बौद्धधम के अध्ययन के लिए पर्यटन करते रहे। १८९३ के सितम्बर मास में शिकागो के धर्म सम्मेलन में सम्मिलित होकर उन्होंने वह प्रसिद्ध ऐतिहासिक वक्तृता दी जिससे अमरीका को भारत के धार्मिक महत्व का पहली बार पूरा ज्ञान हुआ। अमरीका और इंगलैण्ड में हिन्दू धर्म का प्रचार करने के बाद वे भारत वापिस लौटे। सारे देश में उनका अभूतपूर्व स्वागत हुआ। उन्होंने बेलूर और मायावती (अल्मोड़ा) में दो केन्द्र किये। देश में दुर्भिक्ष पड़ने पर उन्होंने सहायता कार्य का संगठन किया, इसी संगठन ने बाद में श्री रामकृष्ण सेनाश्रम का रूप धारण किया। १९०२ को स्वामी विवेकानन्द दिवंगत हुए।

रामकृष्ण मिशन आन्दोलन की कई विशेषतायें उल्लेखनीय हैं। यह सुधारों की दृष्टि से ब्राह्मसमाज की भांति उग्र नहीं है वेदान्त के सिद्धांतों को

आदर्श मानता है और आध्यात्मिकता का विकास ही इसका प्रधान लक्ष्य है। इस समय के अन्य सुधारक मूर्तिपूजा के विरोधी थे, किन्तु रामकृष्ण परमहंस इसे आध्यात्मिक भावना जागृत करने के लिए उपयोगी मानते थे। जिन प्रथाओं और परम्पराओं को ब्रह्मसमाजी या कट्टर हिन्दू धर्म के अन्य आलोचक समाज के लिये घातक समझते थे, मिशन उन्हे उस रूप में नहीं देखता। स्वामी विवेकानन्द हिन्दू धर्म के वर्तमान आडम्बर प्रधान स्वरूप की कठोर भर्त्सना करते थे किन्तु फिर भी सुधारकों का मार्ग ठीक नहीं समझते थे। उनका कहना था "पुराने सभी विचार अन्धविश्वास होसकते हैं, किन्तु अन्धविश्वासों के विशाल समूह में सत्य की सुवर्ण कणिकायें हैं। क्या तुमने ऐसा साधन ढूंढ निकाला है जिससे सुवर्ण को सुरक्षित रखते हुए उसकी अशुद्धि को दूर कर सको"। रामकृष्ण मिशन की दूसरी विशेषता यह है कि यह सब धर्मों की सत्यता में विश्वास रखता है और इसकी धार्मिक दृष्टि अत्यन्त उदार है। मिशन का समाज सेवा का कार्य अत्यन्त सराहनीय है, दुर्भिक्ष, बाढ़ आदि विपत्तियों में देशवासियों की सेवा के साथ, इस के सेवाश्रम रोगियों की चिकित्सा और लोक शिक्षण में भी लगे हुए हैं। स्वामी विवेकानन्द के प्रयत्नों से पाश्चात्य देशों में भारत का मान बढ़ा, उन्होंने सर्वप्रथम वर्तमान युग में पश्चिम के सन्मुख भारतीय संस्कृति और सभ्यता के गौरव का प्रतिष्ठापित किया। इसी लिये इस देश में वे बड़े लोकप्रिय हुए। उनका कहना था कि पश्चिम का उद्धार भारतीय अध्यात्मवाद से हो सकता है और भारत की उन्नति पश्चिमी देशों की उपयोगी विशेषताओं का अपनाने से हो सकती है। विदेशों में हिन्दू धर्म तथा वेदान्त के प्रचार तथा भारत में लोक सेवा के कार्य को रामकृष्ण मिशन ने सफलतापूर्वक सम्पन्न किया है।

थियोसफी

थियोसफी की स्थापना मैडम ब्लैवेट्स्की तथा कर्नल अल्काट ने १८७५ ई० में अमरीका में की थी। वे १८७९ में भारत आये। १८८६ ई० में मद्रास के निकट अडियार में उन्होंने अपना केन्द्र बनाया। भारत में इस आन्दोलन को सफल बनाने का श्रेय श्रीमती एनी बीसेण्ट को है।

थियोसफी आन्दोलन ने हिन्दू धर्म की प्राचीन रूढ़ियों, विश्वासों और कर्मकाण्ड का बड़ा प्रबल वैज्ञानिक समर्थन किया। इसका उद्देश्य प्राचीन भारतीय आदर्शों और परम्पराओं का पुनरुज्जीवन था। श्रीमती बीसेण्ट क प्रयत्न स इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए बनारस में 'केन्द्रीय हिन्दू स्कूल, की स्थापना हुई, बाद में उसने कालेज तथ अन्त में हिन्दू विश्व-विद्यालय का रूप धारण किया। प्राचीन संस्कृति पर बल देने के कारण, यह आन्दोलन हिन्दू समाज में बड़ा लोकप्रिय हुआ किन्तु पुरानी रूढ़ियों और विश्वासों के समर्थन तथा रहस्यमय कर्मकाण्ड और तन्त्रवाद पर बल देने से शिक्षित समुदाय में इसके प्रति आकर्षण घट गया। इसका अधिक प्रभाव दक्षिण भारत के धार्मिक और सामाजिक आन्दोलनों पर ही पड़ा।

कट्टर सुधार आन्दोलनों का एक सुपरिणाम यह हुआ कि लज्जालु एवं निष्क्रिय हिन्दू धर्म ने आक्रमणात्मक रूप धारण किया। पाश्चात्य शिक्षा और सभ्यता की पहली चकाचौंध में शिक्षित वर्ग हिन्दू धर्म में विश्वास खो चुका था, उसमें नास्तिकता और संदेह की प्रवृत्तियां प्रबल हो गयी थीं उस समय बहुतों को अपने को हिन्दू कहलाने में लज्जा अनुभव होती थी। १८७० से १८८० तक यह मनोवृत्ति समाप्त हुई। बंगाल में पंडित शशधर तर्क चूड़ामणि और बंकिमचन्द्र इस आन्दोलन के नेता थे। इनका प्रधान कार्य हिन्दुओं की मानसिक दासता को दूर करना था। इन्होंने वैज्ञानिक प्रमाणों के आधार पर हिन्दू कर्म काण्ड तथा रूढ़ियों को न्याय्य एवं आवश्यक ठहराया। शशधर के मतानुसार केवल भारत ही ऐसा देश था जहां सभ्यता का पूरा विकास हो सकता था। बाकी सब धर्म और सभ्यतायें हिन्दू धर्म की तुलना में अपूर्ण अवैज्ञानिक और हानिप्रद थे। शिखा धारण इसलिए उचित एवं विज्ञान सम्मत था कि इससे शरीर में विद्युत् धाराओं का चक्र ठीक तरह चलता रहता है। शशधर व उसके साथियों की युक्तियों में भले ही सत्यता न हो किन्तु मध्यम वर्ग के हजारों क्लर्कों व्यापारियों, शिक्षकों पर उनका गहरा असर पड़ा, उनमें अपने धर्म के प्रति आत्मविश्वास और आत्माभिमान जागृत हुआ। शिक्षित

वर्ग में यही कार्य श्रीबंकिम ने किया, उन्होंने पादरियो द्वारा कृष्ण चरित्र पर किये किए आक्षेपों का सुन्दर समाधान किया।

धर्मसुधार तथा समाज संशोधन के पिछली शती के आन्दोलनों में संभवतः सर्वोच्च स्थान आर्यसमाज का है। इसके संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती (१८२४—१८८३) थे। २२ वर्ष के अवस्था में सत्य की खोज में उन्होंने भगवान् बुद्ध की भांति महाभिनिष्क्रमण (गृहत्याग) किया। १४ वर्ष तक सच्चे गुरु को ढूँढ़ते रहे. उन्होंने दुर्गम तीर्थों में योग साधना करते हुए ज्ञान संचय किया। १८६० वे मथुरा में दण्डी स्वामी विरजानन्द के शिष्य बने, ३ वर्ष तक उनके चरणों में बैठ कर विद्याभ्यास करते रहे, उनसे उन्होंने प्रत्येक वस्तु के सत्यासत्य निर्णय की आर्षदृष्टि प्राप्त की। १८६६ में हरिद्वार के कुम्भ में हिन्दू धर्म की शोचनीय दशा देख उन्होंने इसके महान् पाखण्ड के विरुद्ध पाखण्डखण्डिनी पताका गाड़ कर अपने जीवन का महत्त्वपूर्ण कार्य आरम्भ किया। उनका अगला जीवन हमें सहसा शंकराचार्य की स्मृति करा देता है। ऋषि दयानन्द का प्रधान मन्तव्य था कि मूर्तिपूजा वेदविहित नहीं है। सर्वत्र वे पण्डियों को उसे वेदानुकूल सिद्ध करने की चुनौती देते थे। काशी के ३०० पण्डित स्वामी जी को वेदों में से मूर्तिपूजा सिद्ध करने वाला एक भी प्रमाण ढूँढ़ कर नहीं दे सके (१६ नवम्बर १८६९ ई०) उनकी इससे बढ़कर क्या विजय हो सकती थी। स्वामी जी ने अपना शेष जीवन मूर्तिपूजा तथा हिन्दू धर्म के अन्ध विश्वास तथा कुरीतियों के खण्डन, वैदिक सिद्धान्तों के प्रचार में लगाया। १८७४ में उन्होंने सत्यार्थ-प्रकाश लिखा। जीवन के अन्तिम चार वर्ष वे देशी रजवाड़ों में रहे। सत्यार्थ-प्रकाश के बाद उन्होंने संस्कारविधि, यजुर्वेद भाष्य (सम्पूर्ण) ऋग्वेद-भाष्य (अपूर्ण), ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका आदि महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे। ३० अक्टूबर १८८३ को दीपमालिका के दिन, अजमेर में उन्होंने अपनी जीवन लीला पूर्ण की।

आर्यसमाज

स्वामी दयानन्द ने अपने कार्य को स्थायी रूप देने के लिए पहले

आर्य समाज की विशेषतायें

राजकोट और पूना और फिर बम्बई मे १८७५ ई० में आर्य समाज की स्थापना की। यद्यपि उन्होंने उत्तर भारत के सभी प्रान्तों में वैदिक धर्म का प्रचार किया था। किन्तु इसका सबसे अधिक प्रभाव पंजाब में ही पड़ा। कर्मठ पंजाबियों ने इस अन्दोलन को १६ वीं शती का सबसे महत्वपूर्ण आन्दोलन बना दिया। आर्यसमाज के आन्दोलन की कई विशेषतायें थी। उसने मूर्तिपूजा का खण्डन करते हुए हिन्दू धर्म के मूलस्रोत वेद को प्रधान आधार बनाया था। श्री अरविन्द के शब्दों में राम मोहनराय उपनिषदों पर ही ठहर गए थे, दयानन्द ने उपनिषदों से भी आगे देखा और यह जान लिया कि हमारी संस्कृति का वास्तविक मूल वेद ही है। सामाजिक क्षेत्र में आर्यसमाज ने जाति-भेद, अस्पृश्यता, बाल-विवाह, बहुविवाह की भयंकर कुरीतियों के उन्मूलन का यत्न किया, स्त्रियों की दशा उन्नत की। इस दिशा में आर्यसमाज का सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य शुद्धि था। पिछली शती के किसी अन्य समाज सुधारक को इस बात की कल्पना भी नहीं हुई थी कि वह विधर्मियों को हिन्दू समाज में मिलाने की व्यवस्था करे। ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज को इस बात का श्रेय है कि इस व्यवस्था से उन्होंने हिन्दू जाति को सबल और क्रिया-शील बनाया। राष्ट्रीय दृष्टि से स्वामी दयानन्द का यह कार्य बहुत महत्व रखता है कि उन्होंने भारतीयों की मानसिक पराधीनता को दूर किया। शिक्षित वर्ग पश्चिम की वैज्ञानिक उन्नति से उसका अन्धभक्त बनकर आत्मगौरव खो बैठा था। उसमें अपनी प्राचीन संस्कृति और राष्ट्रीय अभिमान का लोप हो चुका था। ऐसे समय में ऋषि दयानन्द ने यह प्रचार किया कि वेद सब सत्य विद्याओं का भण्डार है, उसमें विज्ञान के सभी आधुनिक आविष्कार तथा विद्यायें बीज रूप से निहित हैं। हमें इस विषय में पश्चिम से लज्जित होने की आवश्यकता नहीं, वैदिक काल में आर्यावर्त जगद्गुरु था। ऋषि दयानन्द के इस प्रचार ने मेकाले की माया से मुग्ध भारतीयों की मोहनिद्रा को भंग किया। उनमें आत्मविश्वास और राष्ट्रीयता की भावना को पुष्ट किया। भारत में स्वराज्य का मन्त्र

उच्चारण करने वाले पहले भारतीय ऋषि दयानन्द थे। १८८३ में कांग्रेस की स्थापना से दो वर्ष पहले प्रकाशित सत्यार्थ प्रकाश में उन्होंने लिखा था कि अच्छे से अच्छा विदेशी राज्य स्वदेशी राज्य की तुलना नहीं कर सकता।

ऋषि दयानन्द की मृत्यु के बाद, धर्मवीर लेखराम गुरुदत्त विद्यार्थी, लाला लाजपतराय, महात्मा हंसराज, तथा स्वामी श्रद्धानन्द आदि ने आर्यसमाज के आन्दोलन को शक्तिशाली बनाया। शिक्षा के प्रश्न पर आर्यसमाज में कालेज तथा गुरुकुल नामक दो दल हो गए। कालेज दल ने डी०ए०वी० कालेज स्थापित कर शिक्षा का प्रसार तथा वैदिक सिद्धान्तों का प्रचार किया। गुरुकुल दल के नेता महात्मा मुन्शीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) ने १९०२ में गंगा तट पर हरिद्वार के पास गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना की। यह देश का पहला विश्वविद्यालय था जहां मातृभाषा के माध्यम द्वारा उच्च शिक्षा सफलतापूर्वक दी गयी। आर्यसमाज ने शिक्षा हिन्दी प्रचार शुद्धि, समाजसुधार, दलितोद्धार वैदिक धर्म के प्रसार, जाति भेद के उच्छेद, लोक सेवा तथा राष्ट्रीय जागृति के कार्यों में बड़ा महत्वपूर्ण भाग लिया है।

समाज सुधार

ब्रिटिश शासन स्थापित होने पर भारतीय समाज की दशा अत्यन्त शोचनीय थी। इसमें कन्या-वध, सती-प्रथा जैसी भीषण एवं बाल-विवाह जैसी घातक और अस्पृश्यता तथा जातिभेद जैसी हानिप्रद कुरीतियां प्रचलित थीं और देश के अधःपतन का कारण बनी हुई थीं। १९ वीं शती के सभी धार्मिक आन्दोलनों—ब्राह्मसमाज, प्रार्थना समाज और विशेषतः आर्यसमाज ने इन के निवारण के लिए बहुत प्रयत्न किया।

१८८५ में जब देश की राजनैतिक दशा उन्नत करने के लिए कांग्रेस की स्थापना हुई उस समय यह अनुभव किया गया कि सामाजिक दशा सुधारने के लिए भी प्रयत्न करना आवश्यक है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए १८८८ से कांग्रेस की प्रत्येक बैठक के साथ प्रतिवर्ष 'राष्ट्रीय समाज सुधार परिषद्' के अधिवेशन होने लगे। इस परिषद् के प्राण महादेव गोविन्द रानडे थे। इसमें

हर साल स्त्रीशिक्षा के प्रसार, बाल-विवाह और पर्दे के विरोध, विधवाओं और अस्पृश्यों की दशा सुधारने, अन्तर्जातीय खान-पान और विवाहों के प्रोत्साहन आदि विषयों पर प्रस्ताव पास होते थे। १८६० मे समाज सुधार का प्रबल समर्थक 'इंडियन सोशल रिफार्मर' नामक साप्ताहिक पत्र निकला। १८६७ में बम्बई तथा मद्रास में समाज सुधार के प्रांतीय संगठन बने। २०वीं शती में समाज सुधार का कार्य पहले आर्यसमाज और फिर कांग्रेस द्वारा हुआ। महात्मा गान्धी ने हरिजनोद्धार और मादक द्रव्य निषेध पर बहुत बल दिया। १६२० के बाद से भारतीय नारियों में अभूतपूर्व जागृति हुई है। यहां कालक्रम से सामाजिक सुधारों का संक्षिप्त वर्णन होगा।

पिछली शती में ब्रिटिश शासकों तथा भारतीय समाज सुधारकों का ध्यान सबसे पहले सती प्रथा और कन्यावध की ओर गया। पति की मृत्यु पर पत्नी द्वारा उसकी चिता पर सती होने की प्रथा का विशेष प्रचार मध्ययुग में हुआ था। प्रारम्भ में पति के दिवंगत होने पर पत्नी के सामने आजन्म वैधव्य या चितारोहण के विकल्प थे। किन्तु बाद में धर्म शास्त्रों में सती होने की महिमा गायी जाने लगी। स्मृतिकारों ने यह कहा कि सती होने वाली स्त्री न केवल पति के साथ अनन्त काल तक स्वर्ग के सुखों का उपभोग करती है किन्तु वह अपने इस कार्य से पति और पितृकुल की तीन पीढ़ियों का भी उद्धार करती है। इस प्रकार धार्मिक व्यवस्था होने पर सैकड़ों स्त्रियां सती होने लगी किन्तु कई बार विधवाओं की सम्पत्ति के लोलुप सगे सम्बन्धी भी स्त्रियों को सती होने के लिए बाधित करने लगे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए बड़े दारुण उपायों का अवलम्बन किया जाता था। स्त्रियों से सती होने की स्वीकृति पाने के लिए उन्हें अफीम आदि मादक पदार्थ खिलाकर बिल्कुल बेसुध कर दिया जाता था, कई स्त्रियां चिता की ज्वाला प्रज्वलित होने पर वहां से उठकर भागती तो उन्हें बांसों से जबर-दस्ती चिता में ठेला जाता, उन का करुण चीत्कार दर्शकों के हृदय विदीर्ण न कर सके इसलिए शंख ढोल खड़ताल आदि वाद्य खूब जोर से बजाये जाते थे। स्त्रियां चिता से उठकर भाग न सकें, इसलिए प्रायः स्त्रियों को चिता के साथ रस्सियों से खूब कस कर बांध दिया जाता था।

सती-प्रथा

मध्ययुग में मुहम्मद तुगलक तथा अकबर ने इस कुप्रथा को समाप्त करने का प्रयत्न किया किन्तु यह बन्द नहीं हुई। ब्रिटिश शासन की स्थापना के समय से अंग्रेज अफसर और ईसाई पादरी इसे बन्द करने पर बल दे रहे थे किन्तु ब्रिटिश सरकार धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहती थी। धीरे-धीरे सरकारी अफसरों द्वारा इस दारुण प्रथा का निरन्तर विरोध किए जाने पर सरकार ने १८१२, १८१५ और १८१७ में कुछ ऐसे नियम बनाए जिनसे छोटी आयु की, गर्भवती तथा बच्चों वाली विधवाओं के सती होने पर रोक लगा दी गई, किसी स्त्री को इस के लिए बाधित करना, उसे अफीम आदि से बेसुध करना भी दण्डनीय अपराध बना दिया गया।

श्री राममोहनराय १८११ में अपनी भाभी के जबरदस्ती सती किये जाने का दारुण दृश्य देखकर इस प्रथा के घोर विरोधी हो गए। उन्होंने अनेक लेखों द्वारा इसके विरुद्ध में प्रचार किया। १८१७ का नियम बनने पर जब बंगाल के कट्टर पंथियों ने इसे रद्द करने के लिए सरकार को आवेदन पत्र भेजा तो राममोहनराय ने इसका जबर्दस्त प्रत्युत्तर देते हुए सती प्रथा की हृदयविदारक घटनाओं का वर्णन करते हुए लिखा कि यह सब शास्त्रों के अनुसार यह नारी हत्या है और इसका अन्त होना चाहिए। अन्त में ४ दिसम्बर १८२६ को लार्ड वैंटिङ्क ने सरकारी कानून द्वारा इसे अवैध और दण्डनीय अपराध बना दिया।

बाल-वध

बाल-वध की बुराई दो रूपों में प्रचलित थी। बंगाल में यह बड़ी पुरानी प्रथा थी कोई अभीष्ट पूरा होने पर बच्चेकी बलि दी जाती थी। उदाहरणार्थ निःसन्तान स्त्रियां यह संकल्प करती थीं कि यदि उनके एक से अधिक बच्चे हुए तो वे उसे गंगामाता की भेंट करेंगी। १७६५ में बंगाल में इस प्रथा को कानून द्वारा नरहत्या घोषित कर बन्द किया गया। दूसरी शोचनीय प्रथा बालिका वध की थी। मध्य तथा पश्चिमी भारत के राजपूतों, जाटों, मेवातों में कन्या का जन्म होते ही उसे अफीम आदि देकर या अन्य ढंगों से मार दिया जाता था ताकि कन्या के विवाह के समय दहेज आदि के कारण जो अपमान सहना पड़ता है,

तथा परेशान होना पड़ता है, उससे मुक्ति हो जाय। १८०२ के एक कानून के अनुसार इसे भी बन्द करने का यत्न किया गया।

बिधवा विवाह

सती प्रथा बन्द हो जाने के बाद विधवाओं की समस्या विशेष रूप से विषम हो गई। बाल-विवाह और बेमेल विवाह की प्रथा के कारण हिन्दू समाज में बालविधवाओं की संख्या बहुत अधिक थी। प्रचलितप्रथा के अनुसार विधवायें पुनर्विवाह नहीं कर सकती थीं। इन्हें अत्यन्त संयम और ब्रह्मचर्य का जीवन बिताना पड़ता था। हिन्दू परिवार में उन्हें प्रतिदिन भयंकर अपमान सहना होता था। श्री ईश्वरचन्दविद्यासागर के प्रयत्न से भारत सरकार ने १८५६ में विधवा पुनर्विवाह को जायज़ ठहराने वाला कानून बनाया।

किंतु इस कानून से भी विधवा विवाहों की संख्या नहीं बढ़ी क्योंकि लोकमत इसके पक्ष में नहीं था। शनैः शनैः इस प्रथा के विरुद्ध जनमत प्रबल होने लगा और इन विवाहों को अब समाज में पहले की तरह बुरी दृष्टि से नहीं देखा जाता। विधवाओं की सहायता करने तथा उनकी दशा सुधारने के लिए देश में अनेक संस्थायें काम कर रही हैं। १८८७ में शशिपद बैनर्जी ने इस प्रकार की सर्व प्रथम संस्था कलकत्ता के पास बरहानगर में खोली थी। १८८९ में एक ईसाई स्त्री पंडिता रमा बाई ने बम्बई में हिन्दू विधवाओं के लिये शारदा सदन खोला। इस सदन की विधवाओं के ईसाई हो जाने से हिन्दू विधवाओं की सेवा के लिये श्री कर्वे ने हिन्दू विधवाश्रम की १८९६ में स्थापना की। १९०६ के बाद आर्यसमाज ने विधवाश्रम स्थापित किये। उत्तर भारत में इस प्रकार का सब से बड़ा प्रयत्न सर गंगाराम का था। १९१४ में उन्होंने लाहौर में विधवा-विवाह सहायक सभा, की स्थापना की और इसके लिये लाखों की सम्पत्ति का दान किया। पंजाब, यू०पी० बिहार, सी०पी० के अनेक शहरों में इसकी शाखाएं हैं।

बालविवाह

मध्ययुग में बाल-विवाह की बुराई अपनी चरम सीमा तक जा पहुँची थी। ऐसे भी उदाहरणों की कमी नहीं जिनमें दूध पीते तथा गर्भाशयस्थ शिशुओं की शादी तय हो जाती थी। ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज और एक पारसी पत्रकार

बहराम जी मलाबारी ने सर्व प्रथम इस बुराई की ओर देश का ध्यान खींचा। श्रीमलाबारी ने १८८० में अनेक हिन्दू नेताओं और सरकारी अफसरों की सम्मतियों के साथ इसके विरोध में एक पुस्तिका प्रकाशित की। १८९० में एक बंगाली लड़की फूलमणि दासी के बलिदान से देशवासी बाल विवाह की बुराई को तीव्रता से अनुभव करने लगे। ११ वर्ष की अवस्था में पति द्वारा सहवास से फूलमणि की मृत्यु हो गयी और जब पति पर हत्या का अभियोग चलाया गया तो उसने अपनी सफाई में भारतीय दण्ड विधान की वह धारा पेश की जिसके अनुसार विवाहित जीवनमें सहवास के लिये न्यूनतम आयु १० वर्ष थी। श्री मलाबारी आदि सुधारकों ने तथा ईसाईयों ने भारत सरकार पर सहवास आयु बढ़ाने तथा बाल-विवाह रोकने के लिये कानून बनाने पर बल दिया। भारत सरकार ने जब सहवास वय को १० से १२ वर्ष करने का प्रस्ताव पास किया तो कट्टर पन्थियों ने उसका घोर विरोध किया। फिर भी १८९१ में यह प्रस्ताव कानून बन गया। देशी राज्यों में बड़ौदा ने सर्व प्रथम १९०१ में बालविवाह विरोधक कानून द्वारा लड़के लड़कियों के विवाह के लिये न्यूनतम आयु क्रमशः १६ और १२ वर्ष रखी। ब्रिटिश भारत में श्री हर विलास शारदा के प्रयत्न से १९२९ में बाल-विवाह निषेधक कानून पास हुआ इसके अनुसार १८ वर्ष से कम आयु के लड़के तथा चौदह वर्ष से कम आयु की लड़की का विवाह नहीं हो सकता। बाद में इस कानून में कई संशोधन हुए। शिक्षा के प्रसार से बाल-विवाह की बुराई शहरों में बहुत घट रही है।

जाति-भेद

हिन्दू समाज की सब से बड़ी विशेषता जात-पात बताई जाती है। समूची जाति लगभग तीन हजार वर्गों में विभक्त है जिनका खान-पान और विवाह अपने ही वर्गों तक सीमित रहता है। ब्रिटिश शासन के प्रारम्भिक काल में जाति भेद की व्यवस्था बड़ी कठोर थी। एक जाति का व्यक्ति न केवल खान-पान और विवाह के विषय में जातीय बन्धनों में जकड़ा हुआ था किन्तु वह अपना पैतृक पेशा भी नहीं छोड़ सकता था, विदेशियों के सम्पर्क से

दूषित होने के भय से विदेश अथवा समुद्र यात्रा भी नहीं कर सकता था। खान-पान में ब्राह्मणों के कुछ ऊंचे वर्ग शुद्धि का इतना अधिक विचार रखते थे कि एक ही उपजाति के व्यक्ति एक दूसरे के हाथ का बना भोजन भी नहीं खाते थे। यही बात तीन कनौजी तेरह चूल्हे आदि कहावतों में प्रतिबिम्बित हुई है। स्वामी विवेकानन्द को इसी परिस्थिति से खीझ कर कहना पड़ा था कि 'हमारा धर्म रसोई घर में है, हमारा ईश्वर खाना बनाने के बर्तन हैं—हमारा सिद्धान्त है मुझे न छुओ, मैं पवित्र हूं।'

शिक्षित व्यक्तियों द्वारा सर्वप्रथम खान-पान और विदेश यात्रा के बन्धन तोड़े गये। पिछली शती के अन्त में कांग्रेस के साथ होने वाली समाज सुधार परिषदों की समाप्ति अन्तर्जातीय भोजों के साथ होती थी। साधारण जनता में रेलों ने इस विचार को शिथिल करने में बड़ी सहायता की है क्योंकि इन में छुआछूत और शुद्धि की मर्यादाओं का पालन बड़ा कठिन था। होटल भी इस में बहुत सहायक सिद्ध हुए हैं। आज से सौ वर्ष पहिले विदेशयात्रा बड़े साहस का कार्य था। राजा राममोहनराय इंगलैण्ड जाते हुए अपने साथ ब्राह्मण रसोइया लेते गये थे ताकि अपवित्र विदेशी भोजन से वे धर्म भ्रष्ट न हों। विदेश जाने वालों को भारत वापिस आने पर बड़ी कठिनाइयां उठानी पड़ती थीं। प्रायश्चित्त से शुद्धि न करने पर ये जाति से बहिष्कृत कर दिये जाते थे। किन्तु धीरे धीरे शिक्षा के लिये योरोप और अमरीका जाने वालों की संख्या बढने से यह बन्धन शिथिल होगया।

जाति भेद का सबसे जबर्दस्त बन्धन विवाह विषयक था। आर्यसमाज ने चारों वर्णों को गुणकर्मानुसार मानते हुए इसे तोडने पर बहुत बल दिया। इससे समाज को बड़ी हानियां हो रही हैं, चुनाव का क्षेत्र संकुचित होने से दहेज बहुत अधिक मांगा जाता है, इस लिये या तो विवाह कठिनाई से होते हैं या लड़कियां अविवाहित रह जाती हैं अथवा बेमेल विवाह होते हैं। स्व० श्री विट्ठल भाई पटेल ने इस दुरवस्थाको दूर करने के लिये १६१७ में एक बिल पेश किया था किन्तु उसका कट्टर पंथी वर्ग ने इतना

विरोध किया कि वह पास न होसका। १६२२ में लाहौर में जात-पात का विरोध करने के लिये जात-पात तोड़कमण्डल स्थापित हुआ। १६३७ में आर्यविवाह कानून द्वारा आर्यसमाजियों के अन्तर्जातीय विवाहों को वैध बना दिया गया। प्रस्तावित हिन्दू कोड के अनुसार हिन्दुओं के असवर्ण विवाह जायज़ बनाये जा रहे हैं। अन्तर्जातीय विवाहों की प्रवृत्ति शनैः शनैः बढ़ रही है।

जाति भेद की शृंखलायें पश्चिमी शिक्षा, व्यक्ति स्वातन्त्र्य, समानता पर बल देने वाली उदार विचारधारा तथा रेलों आदि के आगमन तथा नई आर्थिक परिस्थितियों से टूट रहा हैं। पेशे का बन्धन जो पहले प्रायः नीची जातियों के साथ था, लगभग समाप्त होरहा है क्योंकि अपने पुराने पेशों की अपेक्षा नये कारखानों में काम करने से अधिक आय होती है, दूसरी ओर ब्राह्मण आदि उच्चवर्णों के व्यक्ति आर्थिक परिस्थितियों से बाध्य हो कर दर्जी, व्यपारी, दुकानदार बन रहे हैं। समूचे देश में एक कानून लागू होने तथा समानता के सिद्धान्त का पालन होने से भी पुराना जातीय भेद-भाव समाप्त होरहा है। स्वतन्त्रता पाने के बाद यह अनुभव किया जारहा है सच्चे लोकतन्त्र की स्थापना के लिये जाति भेद को मिटाना अनिवार्य है। हाल में ही पूना में इसी उद्देश्य से जातिनिर्मूलन नामक संस्था स्थापित हुई है। इसी वर्ष (१६४६) बम्बई में जाति भेद पर कुठाराघात करने वाला एक नया कानून पास हुआ है, इसके अनुसार जाति बहिष्कार को दण्डनीय अपराध बना दिया गया है। सामाजिक क्षेत्रमें आधुनिक भारत के दो बड़े क्रान्तिकारी सुधार हरिजनोद्धार और महिलाओं की आश्चर्यजनक उन्नति हैं, हिन्दू समाज ने कई सौ वर्ष तक नीच जातियों तथा स्त्रियों के साथ क्रूर व्यवहार और घोर उत्पीडन किया था पिछले पचास वर्ष में वह उनका प्रायश्चित्त करने में लगा हुआ है, उन्हें मध्य-युगीन हीन स्थिति से उठाने के सभी संभावित प्रयत्न किये जारहे हैं।

हरिजनोद्धार

ब्रिटिश शासन के प्रारम्भ में नीच जातियों के करोड़ों हिन्दू अछूत माने जाते थे, इनके साथ असह्य और अकथनीय अत्याचार होते थे। दक्षिण में यह प्रथा उग्रतम रूप में थी। वहां उच्च जातियां नीच जातियों के स्पर्श ही नहीं, छाया तक से

अपवित्र हो जाती थीं। कोचीन की सरकारी रिपोर्ट के अनुसार ब्राह्मण नायर के स्पर्श से दूषित समझे जाते थे किन्तु कम्मलन (राज, बढ़ई, लुहार, चमार) ब्राह्मणों को २४ फी० की दूरी से अपवित्र कर देता था, ताड़ी निकालने वाला ३६ फी० से, चेरुमन कृषक ४८ फी० से, और परैमन (गोमांस भक्षक परिहा) ६४ फी० से। यह सन्तोष की बात थी कि इससे पुरानी रिपोर्टों में परिहा ७२ फी० की दूरी से अपवित्र करने वाला माना गया है। अभागे अछूत शहरों से बाहर रहते थे, मन्दिरों में इनका प्रवेश वर्जित था क्योंकि सब भक्तों का उद्धार करने वाले देवता भी इनके दर्शन से दूषित हो जाते थे। ये कुओं से पानी नहीं भर सकते थे, हस्पतालों और पाठशालाओं का लाभ नहीं उठा सकते थे। उच्च वर्ग के बेगार आदि के अत्याचार सहते हुए बड़े दुःख से अपने नारकीय जीवन की घड़ियां गिनते थे।

इनके उद्धार की ओर सबसे पहले आर्य समाज ने ध्यान दिया। १८७६-७७ में हमारे देश में भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा। देहातों में हजारों अस्पृश्य बुरी तरह मरने लगे। इस समय ईसाइयों ने सहायता कार्य का संगठन किया। १८८० से दलित जातियां बड़ी संख्या में ईसाई होने लगीं। आर्यसमाज ने इस खतरे को अनुभव किया और उनके उद्धार का बहुत यत्न किया। ब्रह्मसमाज और प्रार्थना समाज ने भी इस क्षेत्र में कुछ काम किया। १६२० के बाद से महात्मा गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस ने अस्पृश्यता निवारण को रचनात्मक कार्यक्रम का अंग बना लिया। हरिजन के मन्दिर प्रवेश के लिए कानून बना। १६३२ में नवीन शासन योजना बनाते हुए ब्रिटिश अधिकारियों ने निर्वाचन के लिये जब अछूतों को हिन्दुओं से अलग रखने का यत्न किया तो महात्मा गान्धी ने पूना में अनशन कर इसका विरोध किया और उनकी बात स्वीकार कर ली गई। इसी समय उन्होंने अछूतों को हरिजन का नाम दिया और उनकी दशा सुधारने के लिये हरिजन सेवक संघ, और हरिजन पत्र की स्थापना की, हरिजनोद्धार के लिये देश का दौरा किया।

१६३७ में कांग्रेसी सरकारों के स्थापित हो जाने के बाद हरिजनों की उन्नति, शिक्षा तथा सामाजिक बाधाओं को दूर करने की ओर अधिक ध्यान दिया गया। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद तथा विशेषतः

भारत स्वतंत्र होने के बाद कांग्रेसी मंत्रिमन्डलों ने परिगणित एवं दलित जातियों के उत्थान के लिये पूरा प्रयत्न किया है। प्राय: सभी प्रान्तों में असमर्थता निवारक कानून पास हो चुके हैं। इनके अनुसार अस्पृश्यता कानूनी तौर से दण्डनीय अपराध बना दिया गया है। हरिजन अब तक पुरानी सामाजिक प्रथा के अनुसार सार्वजनिक कुंओं, जलाशयों, मन्दिरों; शिक्षा संस्थाओं का अछूत होने से उपयोग नहीं कर सकते थे अस्पृश्यता के कारण होटलों में भोजन करने तथा अनेक स्थानों पर डोला पालकी आदि सवारियों पर बैठने का अधिकार नहीं रखते थे। नये कानून द्वारा अछूतों को ऊंची जातियों के बराबर समझते हुए उपर्युक्त सभी सामाजिक प्रतिबंध अवैध एवं दण्डयोग्य अपराध बना दिये गये हैं। शिक्षा की दृष्टि से हरिजन जातियां बहुत पिछड़ीं हुई हैं। उनमें शिक्षा प्रसार का विशेष यत्न किया जा रहा है हरिजन विद्यार्थियों के लिए शिक्षण संस्थाओं में पर्याप्त स्थान सुरक्षित रखे जाते हैं, उनके लिये प्रथम श्रेणी से विश्वविद्यालय की उच्चतम कक्षा तक नि:शुल्क शिक्षा पाने की व्यवस्था है सरकारी होस्टलों में रहने की विशेष सुविधायें हैं, छात्रावास के सभी खर्चे माफ हैं। सरकारी नौकरियों में दस प्रतिशत स्थान उनके लिए सुरक्षित हैं इन पदों पर नियुक्ति के लिए नियत आयु में उन्हें तीन वर्ष की छूट है। व्यवस्थापिका सभाओं में उनके स्थान सुरक्षित हैं तथा प्रांतीय व केन्द्रीय सभी मन्त्रिमन्डलों में अस्पृश्यों के प्रतिनिधि हैं। केन्द्रीय सरकार में दो मन्त्री हरिजन हैं। वह दिन दूर नहीं जब हिन्दू समाज से अस्पृश्यता का कलंक बिल्कुल मिट जायगा।

स्त्रियों का उत्थान

पिछली सदी में हरिजनों के अतिरिक्त समाज में स्त्रियों की दशा भी अत्यन्त शोचनीय और गिरी हुई थी। नारियों को समाज में अत्यन्त तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाता था, उन्हें पैर की जूती समझा जाता था। स्त्रीसमाज शिक्षा से वंचित एवं जान बूझ कर पर्दे में रखा जाता था। पुरुषों की अपेक्षा उनके दाम्पत्य एवं साम्पत्तिक अधिकार नाममात्र को ही थे। पिछले पचास वर्ष में इस स्थिति में आमूल परिवर्तन आ गया है। हमारे देश की नारियों में असाधारण जागृति हुई है और उन्होंने सभी

क्षेत्रों में पुरुषों के समान अधिकार और स्थिति प्राप्त कर ली है।

पिछली शती में स्त्रियों के उत्थान का श्री गणेश स्त्री शिक्षा से हुआ। ईसाई मिशनरियों ने ईसाइयत के प्रचार की दृष्टि से इसे प्रारम्भ किया। बंगाल में ब्राह्मसमाज तथा ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने स्त्री शिक्षा के लिये बड़ा यत्न किया। १८६० के बाद से आर्यसमाज ने उत्तर भारत में विशेषतः पंजाब में इस कार्य को बड़े जोर शोर से किया तथा साथ ही पर्दे की कुरीति के विरुद्ध भी आन्दोलन किया। स्त्रियों में शिक्षा का प्रसार होने से बड़ी जागृति हुई। वे भी अपने राजनैतिक अधिकारों की माँग करने लगीं। १८ दिसम्बर १९१७ को भारतीय स्त्रियों के प्रतिनिधि मण्डल ने पहली बार भारतमन्त्री माण्टेग्यू से मद्रास में मताधिकार की मांग की किन्तु १९१८ में माण्टेग्यू चेम्सफोर्ड रिफार्म स्कीम में स्त्रियों के मताधिकार का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं था। इस पर भारतीय स्त्रियों ने इसके लिये घोर आन्दोलन किया और नारियों का एक प्रतिनिधि मण्डल पार्लिया-मैण्ट के सदस्यों से यह मांग मनवाने विलायत भी गया। १९१९ के शासन विधान के अनुसार प्रान्तीय व्यवस्थापिका परिषदों को नारियों को वोटर बनाने का अधिकार दे दिया गया। इसके अनुसार सब से पहले मद्रास ने १९२६ में स्त्रियों को व्यवस्थापिका परिषद् के सदस्यों के निर्वाचन का अधिकार प्रदान किया और दो वर्ष में लगभग सभी प्रान्तों में स्त्रियां निर्वाचक बन गयां। यूरोप में नारियों को जो अधिकार घोर संघर्ष के बाद प्राप्त हुआ, वह भारतीय स्त्रियों को अल्प प्रयास से और फ्रांस आदि कई देशों की स्त्रियों से पहले मिल गया।

यही दशा सामाजिक और कानूनी अधिकारों की भी है। १९२० के बाद स्त्रियों ने राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य संघर्ष में भी बहुत भाग लिया। उनमें शिक्षा और जागृति बढ़ रही थी। १९२६ में श्रीमती मार्गरेट कजिन्स ने महिलाओं के संगठन का प्रयास किया, फलस्वरूप अखिल भारतीय महिला परिषद् की स्थापना हुई। इसका पहला अधिवेशन जनवरी १९२६ में पूना में हुआ। यह शिक्षित महिलाओं का प्रधान संगठन है और पिछली दो दशाब्दियों में भारतीय नारियों पर लगे प्रतिबन्धों और कानून

बाधाओं को हटाने, तथा समान अधिकारों की मांग करने में इस संस्था ने मुख्य भाग लिया है। इसके सभापति पद को बड़ौदा तथा ट्रावन्कोर की महारानियां, नवाब भूपाल की बेगम, श्रीमती सरोजनी नायडू, राजकुमारी अमृतकौर, रामेश्वरी नेहरू, विजय लक्ष्मी पंडित जैसी प्रसिद्ध भारतीय नारियां सुशोभित कर चुकी हैं। प्रतिवर्ष यह स्त्रियों की स्थिति में सुधार करने के लिये अनेक महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव पास करती है।

भारत सरकार की नीति भी नारी आन्दोलन के अनुकूल रही है और नारियों को बड़ी तेज़ी से राजनैतिक अधिकार मिले हैं। १९३५ के शासन विधान में प्रान्तीय एवं केन्द्रीय परिषदों में स्त्रियों के लिए कुछ स्थान सुरक्षित रखे गए। मद्रास में इनकी संख्या ८ थी, बम्बई और यू०पी० में ६, अविभक्त बंगाल में ५, पुराने पंजाब तथा बिहार में ४, मध्य-प्रान्त में ३, उड़ीसा, सिन्ध में २ तथा आसाम में एक आजकल दस स्त्रियां केन्द्रीय व्यवस्थापिका परिषद् में सदस्य हैं। स्त्रियों के धारा सभाओं में पहुंचने का एक सुपरिणाम यह हुआ है कि वे समाज सुधार और स्त्रियों को नवीन कानूनी अधिकार दिलाने के प्रस्ताव पेश कर रही रही हैं। बम्बई व्यवस्थापिका सभा की महिला सदस्यों ने इस समय वहां इस प्रकार के अनेक बिल उपस्थित किए हैं, वहां पुरुषों के बहुविवाह पर प्रतिबन्ध लगाने वाले तथा हिन्दू स्त्री पुरुषों को कुछ विशेष अवस्थाओं में तलाक का अधिकार देने वाले कानून पिछले दो वर्षों में पास हो चुके हैं।

कांग्रेसी सरकारों ने स्त्रियों को ऊंचे पद दे कर नारियों को उच्चतम प्रतिष्ठा देने के प्राचीन भारतीय आदर्श का पालन किया है और स्त्रियों की स्थिति को बहुत ऊंचा उठाया है। इस समय अमरीका के राजदूत पद को श्रीमती विजय लक्ष्मी पंडित अलंकृत कर रही हैं, राजकुमारी अमृतकौर केन्द्रीय मंत्रिमण्डल में स्वास्थ्य मन्त्रिणी हैं, दिवंगता भारत कोकिला सरोजिनी नायडू युक्तप्रान्त के गवर्नर पद पर आसीन थी। यह स्मरण रखना चाहिये समानाधिकारवादी पश्चिमी देशों में स्त्रियां अभी इतने ऊंचे पदों पर नहीं पहुंचीं। संयुक्तराज्य अमरीका ने इस वर्ष (१९४९) पहली बार एक महिला को राजदूत बनाया है। स्वतन्त्र भारत ने न केवल

अपने शासन विधान में स्पष्ट रूप से स्त्रियों और पुरुषों के अधिकार समान माने हैं किन्तु गतवर्ष १९४८ केन्द्रीय सरकार ने भारतीय शासन (आई०ए०एस०) की प्रतियोगिता परीक्षाओं में नारियों को भी बैठने का अधिकार दे कर उक्त घोषणा को क्रियात्मक रूप प्रदान किया है। यह अधिकार भी अभी तक स्त्रियों को बहुत कम पश्चिमी देशों में प्राप्त है।

हिन्दू कोड

नारियों को पुरुषों के तुल्य कानूनी अधिकार देने का सबसे बड़ा और क्रान्तिकारी परिवर्त्तन हिन्दू कोड है। इसका प्रस्तावित रूप छः भागों में विभक्त है। इसमें उत्तराधिकार, विवाह, तलाक, भरण, पोषण, नाबालिगी, संरक्षण और दत्तकपुत्र ग्रहण के विस्तृत नियम हैं। इनमें कई व्यवस्थायें विशेष महत्वपूर्ण हैं। नारियों को अब तक साम्पतिक अधिकार बहुत कम थे। किन्तु हिन्दू कोड के अनुसार अब वे कन्या के रूप में वे पिता की सम्पत्ति में से अपना हिस्सा ले सकेंगी, विधवाओं को अपनी सम्पत्ति पर पूर्ण अधिकार होगा। अबतक क़ानूनी तौर से हिन्दू पुरुषों के बहु विवाह पर कोई प्रतिबंध न था (मद्रास, बंबई की व्ययस्थापिका परिषदें पहले ही इसे गैर कानूनी बना चुकी हैं, हिन्दू कोड द्वारा एक पत्नी के रहते हुए दूसरी शादी दण्डनीय अपराध बना दिया गया है। विवाह दो प्रकार के होंगे—धार्मिक यथा दीवानी (सिविल) असवर्ण विवाह वैध माने जायेंगे। कुछ विशेष अवस्थाओं में स्त्री पुरुष दोनों को समान रूप से तलाक़ का अधिकार दिया गया है। हिन्दू कोड पास हो जाने से स्त्री पुरुषों के कानूनी अधिकारों में कोई वैषम्य नहीं रहेगा, अब तक हिन्दू नारी जिन अन्याय पूर्ण सामाजिक प्रतिबंधों की बेड़ियों में से बंधी हुई थीं, उनसे मुक्त हो जायगी हिन्दू कोड पास होने से पहले ही नारियों की दुर्दशा सुधारने के लिए केन्द्रीय तथा प्रांतीय धारा सभाओं ने कई उपयोगी कानून पास किये हैं। विवाहित हिन्दू स्त्री की शोचनीय दशा सुधारने के लिये १९४६ में भारत सरकार ने उसके पृथक निवास और भरण पोषण का कानून बनाया हैं इसी वर्ष सगोत्र विवाहों को भी वैध स्वीकार किया गया। बहु विवाह विरोधी एवं तलाक़ की अनुमति देने वाले क़ानून बंबई तथा मद्रास ने बना दिये हैं तथा अन्य प्रान्तों में इस प्रकार के बिल विचाराधीन हैं।

उपर्युक्त महत्त्वपूर्ण समाज सुधारों के अतिरिक्त मादक द्रव्य निषेध की ओर भी कांग्रेसी सरकारों ने बहुत ध्यान दिया है। देवदासियों के सुधार, मन्दिरों की सम्पत्ति के उचित उपयोग, बेमेल विवाह आदि कुप्रथाओं के विरोध, दहेज की बुराई तथा शादी का खर्च कम करने का भी आन्दोलन होरहा है। आशा है, स्वतन्त्र भारत में कुछ दशाब्दियों में अधिकांश सामाजिक कुरीतियों का अन्त हो जायगा।

साहित्यिक जागृति

आधुनिक काल में धार्मिक एवं सामाजिक जागृति के साथ साहित्यिक जागृति भी हुई। अंग्रेजों द्वारा संस्कृत के अध्ययन से भारत विषयक अध्ययन का उदय हुआ जिससे हमें अपने देश के लुप्त गौरव और अतीत इतिहास का प्रामाणिक परिचय मिला, अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार और छापेखानों के माध्यम से भारत का बौद्धिक जागरण प्रारम्भ हुआ और इसका सबसे बड़ा और विलक्षण परिणाम प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य का विकास है।

भारत विषयक अध्ययन का प्रारम्भ

१८वीं० शती के अन्तिम चरण में ब्रिटिश शासकों को शासन प्रबन्ध के लिये भारतीय भाषाओं का ज्ञान पाने की आवश्यकता अनुभव हुई। वारेन हेस्टिंग्स ने संस्कृत एवं अरबी की शिक्षा के लिये बनारस में संस्कृत कालेज और कलकत्ता में अरबी मदरसे की स्थापना की, उसके प्रोत्साहन से संस्कृत सीखने वाला पहला अंग्रेज चार्ल्स विल्किन्स था किन्तु भारत विषयक अध्ययन की नींव रखने वाला तथा संस्कृत का महत्त्व भली भांति अनुभव करने वाला व्यक्ति सर विलियम जोन्स (१७४६—१७८६) था। ये १७८३ ई० में सुप्रीम कोर्ट का जज बन कर भारत आये थे और १७८४ में इन्होंने पौरस्त्य वाङमय और ज्ञान विज्ञान की शोध के लिये बंगाल एशियाटिक सोसायटी की स्थापना की। इन्होंने सर्व प्रथम विद्वानों का ध्यान इस ओर खींचा कि योरोप की पुरानी साहित्यिक भाषाओं—यूनानी तथा लैटिन की तथा ईरान की पुरानी ज़न्द का संस्कृत से घनिष्ठ संबन्ध है, ये सब एक मूल से प्रादुर्भूत भाषायें हैं। बाद में

इन्हीं भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन से योरोप में तुलनात्मक भाषा शास्त्र की नींव पड़ी। इसी से यह भी ज्ञात हुआ है कि इन्हें बोलने वाली जातियों के धर्म कर्म, देवगाथाओं, प्रथाओं, व संस्थाओं में भी बड़ा सादृश्य था, यों आर्य जाति का पता लगा। योरोपीय विद्वानों द्वारा संस्कृत की खोज विश्व के सांस्कृतिक इतिहास में कोलम्बस द्वारा अमरीका की खोज जैसा ही महत्त्व रखती है।

जोन्स ने पुराणों के चन्द्रगुप्त तथा यूनानी लेखकों के सेण्ड्राकोट्टस की अभिन्नता मान कर, प्राचीन भारत के तिथिक्रम की आधारशिला रखी। १७८४ ई० से पुराने अभिलेख पढ़ने की ओर विद्वानों का ध्यान गया। पहले गुप्त-युग तक की लिपि पढ़ी गयी और बाद में १८३७ तक प्रिन्सेप ने यूनानी सिक्कों की सहायता से मौर्य-युग की ब्राह्मी लिपि पढ़ली। इन सिक्कों के एक ओर यूनानी लेख थे और दूसरी ओर उन्हीं के प्राकृत अनुवाद। यूनानी की मदद से प्राकृत लेख पढ़े जाने से पुराने अभिलेख पढ़ना आसान होगया। कनिंघम ने भरहुत, सांची आदि स्थानों की खुदाई करायी। केनिंग के समय पुरातत्व विभाग की स्थापना हुई, सारे देश का पुरातत्वीय निरीक्षण किया जाने लगा और उसकी रिपोर्टें प्रकाशित हुईं। कर्जन के समय प्राचीन इमारतों का संरक्षण कानून बना तथा उत्खनन की ओर अधिक ध्यान दिया गया। उस समय से पुरातत्त्व विभाग ने, तक्षशिला, नालन्दा, मोहेन्जोदड़ो (सिन्ध), हड़प्पा (पंजाब), पहाड़पुर, सांची सारनाथ नागार्जुनी कोंडा आदि प्राचीन ऐतिहासिक स्थानों की खुदाई करायी। इनसे भारत के प्राचीन इतिहास का पुनरुद्धार हुआ। इस कार्य में पथप्रदर्शक अंग्रेज थे, भारत अपने गौरव पूर्ण अतीत पर प्रकाश डालने वाले इन विद्वानों का सदैव ऋणी रहेगा। यह प्रसन्नता की बात है कि अब भारतीय विद्वान् और संस्थायें इतिहास की खोज और संशोधन कार्य में अग्रसर होरही हैं।

ब्रिटिश शासन की स्थापना के समय शिक्षित एवं सुसंस्कृत भारतीय अरबी तथा संस्कृत का अध्ययन करते थे, हिन्दी, बंगला,

प्रान्तीय भाषाओं का विकास

गुजराती, मराठी, उर्दू, तामिल, तेलगू बहुत काल से लोकप्रचलित थीं किन्तु इनमें उस समय पद्यात्मक साहित्य—वीर, शृंगार रस और भक्तिरस की कवितायें तथा महाकाव्य ही थे। ब्रिटिश काल में अनेक कारणों से लोकभाषाओं में गद्यसाहित्य का निर्माण तथा इनका असाधारण उत्कर्ष हुआ। ईसाई पादरियों ने बाइबल का संदेश जनता तक पहुँचाने के लिये लोकभाषाओं की उन्नति की ओर ध्यान दिया, सिरामपुर के बैप्टिस्ट मिशनरी इस कार्य में अग्रणी थे। इन्होंने सबसे पहले बंगला हिन्दी आदि लोक भाषाओं के टाइप बनाये, छापेखाने स्थापित किये, इनका पूर्ण ज्ञान पाने के लिये व्याकरण और शब्द कोष बनाये। प्रायः सभी प्रान्तीय भाषाओं के पहले व्याकरण लेखक ईसाई पादरी हैं। पुरानी सुविकसित लोक भाषाओं के अतिरिक्त इन्होंने छोटी और अविकसित भाषाओं को भी ईसाइयत के प्रचार के लिये अपनाया, उनका स्वरूप निश्चित किया और उसमें साहित्य बनाया। अन्य अनेक दृष्टियों से ईसाई प्रचारकों का कार्य सराहनीय नहीं रहा, किन्तु लोकसाहित्य के निर्माण द्वारा उन्होंने भारत की अमूल्य सेवा की है।

प्रान्तीय भाषायें देर तक अंग्रेजी के प्रभाव से दबी रहीं किन्तु राष्ट्रीय जागरण और पत्र पत्रिकाओं के प्रकाशन से लोक भाषाओं को बड़ा उत्तेजन मिला है पिछले सौ वर्षों में साहित्य की विविध शाखाओं उपन्यास, नाटक, निबंध कविता में सभी प्रान्तीय भाषाओं के साहित्यों मे उत्कृष्ट रचनायें लिखी गई हैं बंगला राममोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, माइकेल मधुसूदनदत्त बंकिम चन्द्र चटर्जी, रवीन्द्र नाथ ठाकुर तथा शरच्चन्द चटर्जी की अमूल्य कृतियों से समृद्ध हुई है। हिंदी के उत्थान और उन्नति में लल्लूलाल, सदल-मिश्र, भारतेंदु हरिश्चन्द्र, महावीर प्रसाद द्विवेदी प्रेमचन्द आदि लेखकों तथा काशी नागरी प्रचारिणी, हिन्दी साहित्य संमेलन आदि संस्थाओं ने बहुत सहयोग दिया। उर्दू मुग़ल बादशाहों की अवनति अवस्था में खूब उन्नति परिष्कृत एवं परिमार्जित हुई। दर्द, सौदा, ग़ालिब और ज़ौक ने इसे चमका दिया। १८३५ से अदालती भाषा हो जाने के बाद उत्तरी भारत में उर्दू का

प्रचार बहुत बढ़ा सर सय्यद अहमद, आजाद तथा इकबाल प्रभृति विद्वानों ने तथा अलीगढ़ मुस्लिम विश्व-विद्यालय हैदराबाद की उस्मानियां यूनिवर्सिटी और अंजुमन-तरक्की-ए-उर्दू आदि संस्थाओं ने उर्दू के साहित्य को बहुत उन्नत्ति किया है। मराठी साहित्य की यह विशेषता थी कि ब्रिटिश शासन से पहले उसमें काफी गद्य था, वह उन इनी गिनी भाषाओं में है जिनका बाल्यकाल पद्य में नहीं किंतु गद्य में बीता है। अंग्रेज पादरियों के कोषों तथा व्याकरणों से मराठी का नया रूप प्राचीन परम्परा से अलग होने लगा। श्री विष्णुशास्त्री चिपलूणकर ने अपनी निबन्धमाला में इस अंग्रेजी अवतार' (रूप) की खूब खबर ली और मराठी साहित्य में नवयुग प्रारम्भ किया। विष्णुभावे, रामगणेश घटकरी, केशवसुत, विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े, हरनारायण आप्टे तथा लोकमान्य तिलक ने मराठी साहित्य के विविध अंगों को समृद्ध किया। गुजराती में आधुनिक साहित्य अंग्रेजी शिक्षा के साथ प्रारम्भ हुआ, १८४८ में फार्व्स द्वारा 'गुजरात वर्नाक्यूलर सोसायटी की स्थापना द्वारा इस साहित्य की उन्नति के लिए संगठित प्रयत्न होने लगा, दलपत्ति राम और नन्दशंकर के साथ वर्तमान साहित्य का श्री गणेश होता है। रणछोड़ भाई उदय राम, नवशंकर तुलजा शंकर, गोबर्धन राम त्रिपाठी कन्हैया लाल माणिक लाल मुन्शी, महादेव देसाई, तथा महात्मा गांधी आदि की रचनाओं से इस साहित्य की विविध शाखाओं की उन्नति हुई है। तामिल में आधुनिक गद्य का प्रारम्भ वीर्य मुनि तथ. अरुमुगनावलर ने किया। महमाहिम चक्रवर्तीराजगोपालचारियर की कृतियों से तामिल समृद्ध हुई तेलुगू के उन्नायकों मे चिन्तय सूरि तथा व रेशलिंगम् उल्लेखनीय है आधुनिक आसामी साहित्य जोनाकी नामक मासिक पत्रिका के प्रकाशन १८८६ से आरम्भ हुआ। इसके सम्पादकों- लक्ष्मीनाथ बरुआ, चन्द्रकुमार तथा हेम-चन्द्र गोस्वामी ने साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में रचनायें लिखीं और इनके बाद कमल कान्त, नलिनीबाला बिरंचि कुमार बरुआ आदि लेखकों ने इस साहित्य को उन्नति किया। वर्तमान उड़िया साहित्य को समृद्ध बनाने का श्रेय राधानाथ राय, फ़क़ीर मोहन सेनापति और मधुसूदन आदि साहित्यकारों को है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद लोक भाषाओं का स्वर्णयुग आरम्भ हुआ है। राज्य भाषा अंग्रेजी होने से इनके विकास में बड़ी बाधा थी। विधान परिषद ने हिंदी को राष्ट्र-भाषा स्वीकार कर लिया है; यह संयुक्त प्रान्त, बिहार मध्यप्रान्त, मध्य भारत, राजस्थान की राजभाषा पहले ही थी। राजभाषा होने से हिन्दी का भविष्य अत्यंत उज्जवल है।

वैज्ञानिक उन्नति

छठी श० तक वैज्ञानिक क्षेत्र में भारत संसार का नेता था। पहले यह बताया जा चुका है कि मध्य-युग में किन कारणों से स्वतन्त्र वैज्ञानिक अनुसन्धान बन्द हो गया। १२०० वर्ष की मोहनिद्रा के बाद ब्रिटिश शासन स्थापित होने पर जब भारत में नवजागरण हुआ तो राम मोहनराय आदि नेताओं ने यह अनुभव किया कि पश्चिम की अभूतपूर्व उन्नति का एक प्रधान कारण विज्ञान की उन्नति है, भारतीयों को वैज्ञानिक विषयों की शिक्षा दी जानी चाहिये। प्रारम्भ में सरकार की ओर से केवल चिकित्साशास्त्र तथा सिविल इंजीनियरिंग के अध्यापन की व्यवस्था थी। १८५८ से १९०७ तक शासकों ने भौतिक-शास्त्र, रसायन आदि के अध्यापन की ओर कोई ध्यान नहीं दिया, विश्वविद्यालयों में उच्च वैज्ञानिक विषयों के शिक्षण तथा परीक्षणों का कोई प्रबन्ध नहीं था। महेन्द्रलाल सरकार द्वारा १८७६ में संस्थापित 'वैज्ञानिक अध्ययन की भारतीय परिषद्' जैसी इनी गिनी संस्थायें वैज्ञानिक शिक्षण और शोध का कार्य कर रही थीं। भारतीय वैज्ञानिकों को राज्य या विश्वविद्यालयों की ओर से न अध्ययन की सुविधायें थीं और न कोई प्रोत्साहन। इस निराशापूर्ण वातावरण में जब जगदीश चन्द्र वसु ने १८९७ में भौतिक विज्ञान विषयक खोजों से योरोपियन विद्वानों को आश्चर्यचकित किया तो भारतीयों में यह आत्म विश्वास जागृत हुआ कि वैज्ञानिक क्षेत्र पर योरोपियनों का ही एकाधिकार नहीं है। १९०२ में श्री वसु के पेड़ पौधों में जीव विषयक अन्वेषण योरोप में मान्य हुए, इसी वर्ष प्रफुल्लचन्द्र राय का 'हिन्दू रसायन का इतिहास' प्रकाशित हुआ जिससे पश्चिम को भारतीयों की प्राचीन रासायनिक उन्नति

का ज्ञान हुआ। इसी साल कलकत्ता विश्वविद्यालय ने वैज्ञानिक विषयों की स्नातक परीक्षा (बी०एस०सी०) तथा १९०८ में वाचस्पति (एम० एस० सी०) की शिक्षा का प्रबन्ध किया। स्वदेशी आन्दोलन के समय १९०६ ई० में बंगाल में स्थापित जातीय शिक्षा परिषद् ने वैज्ञानिक और औद्योगिक शिक्षा की ओर विशेष ध्यान दिया। १९११ में श्री जमशेद नसरवान जी ताता के पुत्रों सर दोराब जी तथा सर रतन जी ताता के उदार दान से भौतिकशास्त्र तथा रसायन आदि विषयों के स्नातकोत्तर अनुसन्धान कार्य के लिये बंगलौर में 'इण्डियन इन्स्टीट्यूट आफ साइन्स' की स्थापना हुई। १९१४ में तारकनाथ पलित और राशबिहारी घोष के उदार दान तथा आशुतोष मुकर्जी के प्रयत्न से कलकत्ता विश्वविद्यालय में पृथक् विज्ञान कालेज स्थापित हुआ। शनैः शनैः अन्य सभी विश्वविद्यालयों में विज्ञान की ऊंची शिक्षा दी जाने लगी तथा अनुसन्धान की व्यवस्था हुई।

प्रथम विश्वयुद्ध तक भारत में वैज्ञानिक शिक्षण की गहरी नींव पड चुकी थी, द्वितीय विश्वयुद्ध (१९३९—४५) में उसके प्रत्यक्ष परिणाम दृष्टिगोचर होने लगे। इस बीच में श्रीनिवास रामानुजम् (१९१८) श्री जगदीशचन्द्र बोस (१९२०) श्री चन्द्रशेखर वेंकट रमण १९३०) श्री मेघनाथ साहा (१९३१) तथा श्री बारबल साहनी विविध वैज्ञानिक क्षेत्रों में अपनी मौलिक खोजों से रायल सोसायटी के सदस्य होने का ब्रिटिश साम्राज्य में उच्चतम वैज्ञानिक सम्मान पा चुके थे। श्रीरमण वैज्ञानिक खोजों पर नोबल प्राइज (१९३९) जीतने वाले पहिले भारतीय थे। द्वितीय विश्वयुद्ध की आवश्यकताओं के कारण भारत में वैज्ञानिक अनुसन्धान ने बड़ी प्रगति की। १९४० में भारत सरकार ने 'वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसन्धान की परिषद्' स्थापित की और युद्धकालीन आवश्यकताओं को दृष्टि में रखते हुए विज्ञान तथा उद्योग की लगभग सभी शाखाओं के सम्बन्ध में बीस अनुसन्धान समितियां विभिन्न विश्वविद्यालयों तथा वैज्ञानिक संस्थाओं में खोज का कार्य करने लगीं। इन समितियों ने रेडियो, रासायनिक रंगों, प्लास्टिक तथा उद्योगों से सम्बन्ध रखने वाली विविध प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में काफी कार्य किया है। युद्ध के दिनों में

पांच भारतीय वैज्ञानिकों श्री कृष्णन (१९४०), भाभा (१९४१), शान्ति स्वरूप भटनागर (१९४३), चन्द्रशेखर (१९४४) तथा महालनवीस (१९४५) को अपनी मौलिक खोजों के कारण रायल सोसायटी का सदस्य बनाया गया है।

स्वतन्त्रता पाने के बाद भारत ने उपनिषदों के 'विज्ञानं ब्रह्म' (विज्ञान ही ब्रह्म है) पर आस्था रखते हुए तथा विज्ञान को भौतिक उन्नति का मूल मानते हुए वैज्ञानिक अनुसन्धान की ओर विशेष ध्यान दिया है। प्रधानमन्त्री श्री जवाहरलाल ने अपनी अध्यक्षता में वैज्ञानिक अनुसन्धान के लिये गत वर्ष (१९४८) एक पृथक विभाग खोला है और एक वैज्ञानिक परामर्शदात्री परिषद् स्थापित की है। अणुशक्ति की खोज के लिये भारत सरकार ने एक विशेष बोर्ड बनाया है। वैज्ञानिक व औद्योगिक अनुसन्धान परिषद् की देख रेख में सात 'राष्ट्रीय अनुसन्धानशालाओं' की स्थापना का आयोजन हो रहा है। इनमें से पूना की राष्ट्रीय रासायनिक प्रयोगशाला दिल्ली की रा० भौतिक शास्त्रीय प्रयोगशाला, जमशेदपुर की राष्ट्रीय धातु-शोधनशाला, धनबाद की राष्ट्रीय ईन्धन अनुसन्धानशाला तथा देहली की केन्द्रीय शीशा व चीनी के बर्तनों की अनुसन्धानशालाओं का निर्माण आरम्भ हो चुका है। सड़क अनुसन्धानशाला दिल्ली में तथा केन्द्रीय भवननिर्माण अनुसन्धानशाला रूड़की में बनेगी। इनके अतिरिक्त सात अन्य केन्द्रीय प्रयोगशालायें भी वैज्ञानिक शोध के लिये स्थापित होंगी। वैज्ञानिक अनुसन्धान में अनुराग की वृद्धि देश के उज्ज्वल भविष्य का सूचक है।

ललित कलायें

ब्रिटिश शासन के प्रारम्भिक काल में शासकों की उपेक्षा तथा शिक्षितों पर पश्चिमी कला की चकाचौंध का गहरा असर होने से भारतीय ललित-कलाओं की दशा अत्यन्त शोचनीय थी। मुगल बादशाहों की संरक्षकता में कलाओं की बड़ी उन्नति हुई थी, उनके पतन के बाद कलाकारों को देशी राजाओं का प्रोत्साहन मिला किन्तु ये भी धीरे २ विलायती वस्तुओं को

पसन्द करने लगे, जनता सस्ती और तड़क भड़क वाली विदेशी वस्तुओं के भुलावे में पड़ गयी। भारतीय कलाओं के नष्ट होने की नौबत आ गयी किन्तु इसी समय राष्ट्रीय जागृति का आरम्भ होने से भारतीयों का ध्यान कलाओं की ओर भी गया। भारत सरकार ने कलकत्ता, बम्बई, मद्रास तथा लाहौर में कलाविद्यालय (आर्ट स्कूल) खोले और भारतीय कलाओं का पुनरुज्जीवन प्रारम्भ हुआ। इसे प्रारम्भ करने का श्रेय कलकत्ता के सरकारी कला विद्यालय के प्रिन्सिपल श्री हैवल तथा डा० आनन्दकुमार स्वामी को है। इनकी रचनाओं द्वारा भारतीयों को सर्व प्रथम अपनी प्राचीन कलाओं के मर्म और महत्त्व का परिचय मिला, और उनमें आत्मविश्वास उत्पन्न हुआ। १६ वीं शती में भारतीय कलाकारों की प्रतिभा पाश्चात्य शैली के सामने पराभूत सी थी, वर्त्तमान शती के प्रारम्भ से उसने अपने स्वरूप और गौरव को पहिचाना तथा प्राचीन परंपरा से प्रेरणा पाकर नई शैली का विकास किया। इसका सर्वोत्तम उदाहरण चित्र कला है।

पिछली शती के अन्त में रविवर्मा नामक केरल चित्रकार ने पश्चिमी शैली में भारतीय कल्पनाओं को प्रकट करना चाहा, पर उसकी रचनायें भद्दी हुईं। इस शती की पहली दशाब्दी में हैवल ने प्राचीन भारतीय चित्रकला के पुनरुज्जीवन पर बल दिया, १६०३—४ में श्री अवनीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक नई चित्रणशैली का विकास किया जो विदेशी शैलियों की अनेक बातें अपना लेने के बावजूद भी पूरी तरह भारतीय हैं। यह पूर्व और पश्चिम की कलाओं का सुन्दर सम्मिश्रण है। अवनीन्द्र के शिष्यों में नन्दलाल वसु सब से अधिक प्रसिद्ध हैं। वर्त्तमान काल के अन्य चित्रकारों में असितकुमार हल्दार, जैमिनि राय, देवीप्रसाद राय चौधरी, रहमान चगताई, जैनुलआबदीन विशेष उल्लेखनीय हैं। मूर्तिकला में भी अवनीन्द्रनाथ ठाकुर ने प्राचीन परम्परा को पुनरुज्जीवित किया। इस क्षेत्र में उनके प्रधान शिष्य देवीप्रसाद राय चौधरी हैं। भारत की आधुनिक वास्तुकला में दो प्रधान शैलियां हैं—(१) देसी कारीगरों द्वारा बनाये गये भवन—ये प्रधान रूप से राजपूताना में हैं। (२) पश्चिमी शैली पर बनी इमारतें—ब्रिटिश सरकार ने भारत की प्राचीन वास्तु परम्परा का कोई ध्यान

न रखते हुए देश में पश्चिमी ढग की हजारों इमारतें बनवायीं। अब पुरानी वास्तु कला की ओर कुछ ध्यान दिया जाने लगा है। अन्य कलाओं की भांति संगीत का भी पुनरुज्जीवन हुआ और इसका श्रेय स्व० विष्णु दिगम्बर तथा भरतखण्डे को है। कलकत्ता, बम्बई, पूना, बड़ौदा आदि बड़े नगरों में भारतीय संगीत और वाद्यों की शिक्षा के लिये गन्धर्व विद्यालय खुल गये हैं। नृत्य कला में भी पुरानी शैलियों का उद्धार हो रहा है। उदयशंकर, रामगोपाल, रुक्मिणी देवी और मेनका ने विदेशों में भारतीय नृत्य के गौरव को बढ़ाया है। भरतनाट्य कथाकाली, मणिपुरी आदि नृत्य इस समय भारत में लोकप्रिय हो रहे हैं। शान्ति निकेतन, केरल कला-मन्दिर, कलाक्षेत्र जैसी संस्थायें भारतीय नृत्य कला के पुनरुज्जीवन में सहयोग दे रही हैं।

उपसंहार

पिछले सौ वर्ष में हमारे देश में युगान्तर हुआ है। इसका श्री गणेश तब हुआ, जब हमने ज्ञान और प्रकाश के लिये अपना मुंह पूर्व से पश्चिम की ओर मोड़ा। पश्चिमी शिक्षा, और विचारधारा से प्रभावित भारतीयों ने देश में सर्वांगीण सुधार की ज्योति को जगाया, अन्धविश्वास और श्रद्धा का स्थान बुद्धि और तर्क ने ग्रहण किया, उदारता और स्वतंत्र विचार कट्टरता और शास्त्र-वाद पर विजयी होने लगे। धार्मिक और सामाजिक रूढ़ियों की बेड़ियों से भारत मुक्त होने लगा। सतीप्रथा, बालवध आदि कुरीतियों की अन्त्येष्टि हुई, जातिभेद का दुर्ग धाराशायी होरहा है, अस्पृश्यता का जनाज़ा निकल रहा है। पश्चिम की समानता, स्वतन्त्रता, राष्ट्रीयता की विचारधाराओं ने हमारे देश पर गहरा प्रभाव डाला है। विधान परिषद् द्वारा स्वीकृत नवीन शासन विधान पर इसकी स्पष्ट छाया है। पश्चिम में हुए वैज्ञानिक आविष्कारों और यन्त्रों को ग्रहण द्वारा भारत के भूतल एवं आर्थिक और सामाजिक जीवन का कायापलट हो रहा है। पश्चिम की भौतिक उन्नति के कारण भारत उससे पराभूत है। राजनैतिक दृष्टि से स्वतन्त्रता पालेने पर भी देश में पश्चिमी सभ्यता को अच्छा समझते हुए उसके अनुकरण की प्रवृत्ति प्रबल है।

इसमें तो कोई संदेह नहीं कि अच्छी बातों की नक़ल होनी चाहिये किन्तु बुद्धिपूर्वक नक़ल ही लाभदायक हो सकती है। महात्मा गान्धी दुःख से कहा करते थे कि हम लोग खान-पान, रहन-सहन और फैशन में तो पश्चिम का अनुसरण करते हैं किन्तु संगठन, अनुशासन, समयपालन, स्वच्छता, सार्वजनिक सेवा की भावना, कर्त्तव्य पालन, जातीय हित के सर्वोपरि ध्यान, विद्याप्रेम, वैज्ञानिक अनुसंधान आदि पश्चिम के प्रशंसनीयगुणों को अपने जीवन में नहीं ढालते। पश्चिम का अनुकरण करते हुए हमें यह भी ध्यान रखना चाहिये कि हम जापान की भांति उसकी बुराइयों को भी न लेलें। जापान योरोप का पक्का चेला बना और गुरू से विज्ञान ग्रहण करने के साथ साथ, उसने उसकी आक्रमणशीलता, उग्र राष्ट्रीयता, संहार पटुता, और कमजोर देशों को आग उगलने वाली तोपों और हवाईजहाजों से 'सभ्यता' का पाठ पढ़ाने का मन्त्र भी सीख लिया। इसका जो भयंकर परिणाम हुआ, उसे देखते हुए हमें पश्चिम के अन्धानुकरण से बचना चाहिये।

पश्चिम की वर्तमान तथा पूर्व की प्राचीन संस्कृतियों में कुछ अपूर्णतायें हैं। आध्यात्मिकता की उत्कृष्टता में कोई मतभेद नहीं होसकता किन्तु कोरी आध्यात्मिकता जीवन को सुखी नहीं बना सकती। इसके होते हुए भी भारत पराधीन, और दुरवस्थापन्न रहा है। जब तक इसका भौतिकता के साथ उचित सामंजस्य नहीं होगा, भारत की यही दशा रहेगी। एक प्रसिद्ध पश्चिमी लेखक द्वारा दिये दृष्टान्त से यह बात स्पष्ट होजायगी। भारत में अन्धों की संख्या बहुत अधिक है, यदि पैदा होते ही बच्चों की आंख चांदी के एक समास (रजत नत्रित) से धो दीजाय तो यह अन्धापन रूक सकता है। एक ओर भारत के मन्दिरों में अनन्त चांदी है और दूसरी ओर हज़ारों व्यक्ति अन्धे हैं। चांदी के उपयोग से अन्धापन दूर होसकता है किन्तु कट्टरपंथियों की दृष्टि से यह महान् अधर्म होगा और अन्धापन क्यों दूर किया जाय, वह तो पूर्वजन्म के पापों का फल है। यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की कोरी आध्यात्मिक वृत्ति से हमारी भौतिक उन्नति नहीं होसकती।

दूसरी ओर पश्चिमी संस्कृति भौतिक उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी है, उसे देवताओं की शक्ति मिल गयी है किन्तु वह उसका उपयोग

दानवों की तरह कर रही है, भस्मासुर की भांति अणुबम जैसे प्रलयंकर अस्त्रों से अपने सर्वनाश की ओर बढ़ रही हैं। गोर्की के कृषक की भांति एक भारतीय योरोपियन को कह सकता है—'तुम आकाश में पक्षियों की तरह उड़ सकते हो, समुद्र में मछलियों की तरह तैर सकते हो किन्तु यह नहीं जानते कि पृथ्वी पर कैसे रहना चाहिये'। योरोपियन राष्ट्रों में और अफ्रीका के उन नरभक्षी जंगलियों में कोई अन्तर नहीं जिनके झगड़ों का फैसला सदा तलवार से होता है। पश्चिमी संस्कृति को भारत की अध्यात्मिकता शान्ति प्रदान कर सकती है और भारतीय संस्कृति को पश्चिम की भौतिकता सुखी बना सकती है, पूर्व और पश्चिम का यह आदान प्रदान, सुखद सम्मिलन और सामंजस्य दोनों के लिये श्रेयस्कर सिद्ध होगा।